ज्ञानगोष्ठी

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा दिये गये
आध्यात्मिक प्रश्नों के उत्तर

सम्पादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम० ए०, पीएच० डी०

सहसम्पादक :
पण्डित अभयकुमार जैन
शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, एम० कॉम०

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५

प्रथम संस्करण : ५०००
आध्यात्मिक शिक्षण शिविर, जयपुर के शुभ अवसर पर
३० सितम्बर, १९८४

विक्रय मूल्य : छह रुपये मात्र
(लागत मूल्य : आठ रुपये)

मुद्रक :
प्रिंटिंग सेन्टर
बैंक स्ट्रीट, चौड़ा रास्ता
जयपुर ३०२००३

ज्ञानगोष्ठी

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	प्रश्नसंख्या	पृष्ठ
१.	भगवान आत्मा	१ से ३६	६
२.	देव-शास्त्र-गुरु	४० से ६०	२३
३.	आत्मानुभूति	६१ से १५४	४३
४.	भेद-विज्ञान	१५५ से २०७	६३
५.	सम्यग्दर्शन	२०८ से २८१	८३
६.	सम्यग्ज्ञान	२८२ से ३०६	१०७
७.	सम्यक्चारित्र	३१० से ३३६	११६
८.	मोक्षमार्ग	३४० से ३५६	१२६
९.	ज्ञानी श्रावक की अन्तर्बाह्य दशा	३५७ से ४०८	१३४
१०.	द्रव्य-गुण-पर्याय	४०९ से ४६०	१५३
११.	निमित्त-उपादान	४६१ से ४७५	१७२
१२.	निश्चय-व्यवहार	४७६ से ५०५	१७८
१३.	प्रमाण-नय	५०६ से ५२७	१६०
१४.	कर्त्ता-कर्म	५२८ से ५६१	२००
१५.	क्रमबद्धपर्याय	५६२ से ५६४	२१४
१६.	कारणशुद्धपर्याय	५६५ से ५६८	२२७
१७.	पुण्य-पाप	५६६ से ६३६	२२६
१८.	विविध	६४० से ६७४	२४४

प्रकाशकीय

वर्तमान युग में जैन अध्यात्म के प्रचार-प्रसार में आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। एक तरह से कहें तो वर्तमान भौतिक चकाचौंध की तरफ उलझे जगत को वहाँ से हटाकर तत्त्वज्ञान की प्रेरणा देनेवालों में उनका अग्रणी स्थान है। उनके निमित्त से सारे देश में एक आध्यात्मिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, जिसके अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुए। जिसकी शृंखला में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट भी एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

उन्हीं पूज्य स्वामीजी की दैनिकचर्या के अन्तर्गत सायंकालीन तत्त्वचर्चा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इस तत्त्वचर्चा का सुव्यवस्थित संकलन 'ज्ञानगोष्ठी' के नाम से प्रकाशित करते हुए पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहा है।

यह 'ज्ञानगोष्ठी' पुस्तक पूज्य स्वामीजी द्वारा की गई सायंकालीन तत्त्वचर्चा में समागत विविध प्रकार के प्रश्नोत्तरों का संकलन है। यह सायंकालीन तत्त्वचर्चा उनकी साधनाभूमि सोनगढ़ में उनके जीवनपर्यन्त, लगभग ४५ वर्षों तक अनवरतरूप से संचालित होती रही है। इसके माध्यम से गुरुदेवश्री अनेक गूढ़ रहस्यों का रहस्योद्घाटन करते थे। दैनिकप्रवचनों के सम्बन्ध में उत्पन्न होनेवाली शंकाओं का समाधान तो इसमें होता ही था, बल्कि सारे देश के मुमुक्षुगण अपने-अपने गाँव के मुमुक्षु मण्डलों द्वारा संचालित दैनिक प्रवचन-गोष्ठियों में उत्पन्न होनेवाली शंकाओं को भी सोनगढ़ में जाकर दूर किया करते थे।

आत्मधर्म (आध्यात्मिक मासिक पत्र) का प्रकाशन विगत जुलाई १९७६ से श्री टोडरमल स्मारक भवन जयपुर में डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल के सम्पादकत्व में होता रहा है। अगस्त १९८३ से आत्मधर्म के स्थान पर वीतराग-विज्ञान का प्रकाशन डॉ० भारिल्ल के सम्पादकत्व में ही प्रारम्भ हुआ। उनमें से जून १९८४ तक प्रकाशित हुई ज्ञानगोष्ठी का संकलन इस पुस्तक में हो चुका है। इसप्रकार जुलाई १९७६ से जून १९८४ तक ८ वर्षों की ज्ञानगोष्ठी का प्रकाशन इस पुस्तक में किया गया है।

वर्तमान में पूज्य गुरुदेवश्री की अनुपस्थिति में, उनके द्वारा प्रदत्त तत्त्वज्ञान को विकृति से रोकने हेतु यह आवश्यक समझा गया कि पूज्य गुरुदेवश्री के वचनों को भी जहाँ कहीं भी लिपिबद्ध किया जावे, वहाँ उनका प्रमाण अवश्य ही प्रस्तुत किया जावे; ताकि पूज्य गुरुदेवश्री के नाम पर अन्य कोई भी व्यक्ति अपनी मान्यता अथवा आग्रह को उनकी मान्यता के रूप में प्रचारित करने का महान अपराध न कर सके। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक में प्रत्येक प्रश्नोत्तर को सप्रमाण ही दिया गया है।

इस संदर्भ में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने यह भी निर्णय किया है कि पूज्य गुरुदेवश्री के नाम पर प्रकाशित उसी पुस्तक को यह ट्रस्ट अपने सहित्य विक्रय विभाग में बिक्री के लिए रखे, जिसमें उनके वचनों को सप्रमाण प्रस्तुत किया गया हो।

श्री टोडरमल स्मारक भवन का संक्षिप्त परिचय

वर्तमान में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट का सम्यग्ज्ञान के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसका एकमात्र उद्देश्य तत्त्वज्ञान का प्रचार-प्रसार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति में यह ट्रस्ट अनेक गतिविधियों का संचालन विगत १७ वर्षों से करता आ रहा है।

श्रीमान सेठ पूरनचन्दजी गोदीका के द्वारा लगाये गए इस पौधे को डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने अपने कुशल निर्देशन में अभिसिञ्चित किया है, जिसका परिणाम यह है कि इतनी अल्पावधि में ही इस पौधे ने आज एक वटवृक्ष का रूप धारण कर लिया है।

आज इस भवन की छत के नीचे सोलह विभाग प्रमुखरूप से कार्य कर रहे हैं, जो निम्न प्रकार हैं :-

१. **वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड का संचालन**, जिसके माध्यम से सारे देश में पाँच भाषाओं में लगभग २०,००० (बीस हजार) विद्यार्थी परीक्षा देते हैं।

२. **भारतवर्षीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति का संचालन**, जिसके माध्यम से देश भर में ३५३ पाठशालाओं का संचालन होता है उनमें से १७८ सायंकालीन पाठशालाओं के संचालन हेतु पाठशाला समिति जयपुर से २५) रुपये मासिक अनुदान दिया जाता है, शेष की व्यवस्था स्थानीय समाज स्वयं करती है।

३. **वीतराग-विज्ञान (आध्यात्मिक मासिक पत्र) का प्रकाशन**

जिसकी ग्राहक संख्या एक वर्ष के अल्पकाल में ही छः हजार तक पहुँच चुकी है। इसके आधार पर ही मराठी, कन्नड़ एवं तमिल भाषा के आत्मधर्मों का सम्पादन होता है।

४. जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक समाचार पत्र) का प्रकाशन, जिसकी ग्राहक संख्या तीन हजार तक पहुँच चुकी है।

५. श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय का संचालन, जिसके द्वारा समाज में विलुप्तप्राय होती जा रही विद्वत्परम्परा को सुरक्षित रखा जा रहा है। इस महाविद्यालय से अब तक ४४ जैन-दर्शन शास्त्री एवं ६ जैनदर्शनाचार्य विद्वान समाज को प्राप्त हो चुके हैं।

६. पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट एवं श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट की ओर से साहित्य प्रकाशन विभाग का संचालन, जिसके द्वारा प्रति वर्ष दशाधिक पुस्तकों का प्रकाशन कराया जाता है। अब तक टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने ५२ प्रकाशनों की विभिन्न आवृतियों में १० लाख ५० हजार से भी अधिक पुस्तकें प्रकाशित की हैं। यहीं से श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट के प्रकाशन विभाग ने गतवर्ष में २ लाख ५० हजार रुपये का साहित्य प्रकाशित किया है।

७. अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन का संचालन, जिसके माध्यम से फैडरेशन की लगभग २७७ शाखाओं का संचालन किया जा रहा है। इसके 'साहित्य प्रकाशन ब्यूरो' के माध्यम से अब तक ८ पुष्पों में ८१ हजार प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

८. सत्साहित्य विक्रय विभाग का संचालन, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने मात्र गत एक वर्ष में ३ लाख २० हजार रुपये का धार्मिक साहित्य विक्रय किया है, जो अपने आप में एक कीर्तिमान है।

९. टेप प्रवचनों की सुरक्षा, श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट के माध्यम से पूज्य गुरुदेवश्री के समस्त टेप प्रवचनों की सुरक्षा की जा रही है।

१०. प्रवचन प्रसार योजना का संचालन, अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की केन्द्रीय शाखा द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री आदि के टेप प्रवचनों के विक्रय की व्यवस्था की जाती है, जिसके द्वारा अब तक ७५ हजार रुपये के कैसिट विक्रय किये जा चुके हैं।

११. प्रवचनकार उपलब्ध करना; समाज में विभिन्न पर्वों के

अवसर पर प्रवचनकार विद्वान उपलब्ध कराने की व्यवस्था यहीं से की जाती है, जिसके अन्तर्गत इस वर्ष पर्यूषण पर्व पर २८६ स्थानों से माँग आने पर १८३ जगहों पर विद्वानों की पूर्ति की गई है।

१२. प्रचार विभाग, श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट की ओर से समाज में निरन्तर तत्त्वप्रचार हेतु प्रवचनकार विद्वानों के प्रोग्राम बनाकर भ्रमण कराया जाता है। इसके माध्यम से वर्तमान में तीन विद्वान स्थायीरूप से कार्य कर रहे हैं तथा १४ विद्वान अस्थायीरूप से कार्य कर चुके हैं।

१३. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण शिविरों का संचालन, इसके माध्यम से अब तक सारे देश में विभिन्न स्थानों पर आयोजित १८ शिविरों में ३३३१ प्रशिक्षित अध्यापक तैयार किये जा चुके हैं।

१४. लघु शिक्षण शिविरों का संचालन, इसके माध्यम से अब तक शताधिक शिविर लगाये जा चुके हैं।

१५. श्री सीमंधर जिनालय का संचालन, इसमें प्रतिदिन लगभग २५० व्यक्ति दर्शन-पूजन हेतु आते हैं।

१६. आध्यात्मिक शिक्षण शिविर का संचालन, विगत ६ वर्षों से यहाँ एक पन्द्रह दिवसीय शिविर लगाया जाता है, जिसमें देशभर के मूर्धन्य विद्वान् जैसे श्रीयुत् पण्डित लालचन्दभाई मोदी, बाबू जुगलकिशोरजी युगल, पं० ज्ञानचन्दजी, पं० नेमीचन्द भाई रखियाल, पं० धन्नालालजी ग्वालियर, पं० केशरीचन्दजी धवल आदि पधारते हैं तथा डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल, पं० रतनचन्दजी भारिल्ल, पं० अभयकुमारजी जैनदर्शनाचार्य आदि तो यहाँ रहते ही हैं। आदरणीय पं० बाबूभाईजी भी विगत २ वर्षों से यहाँ स्वास्थ लाभ हेतु रह ही रहे हैं। उससमय भी उपरोक्त सभी के प्रवचनों व कक्षाओं का लाभ मिलता है। इसप्रकार यह शिविर अपने स्तर का अनोखा शिविर होता है, जिसमें गतवर्ष ७५० भाई-बहिन बाहर से पधारे थे।

इसके अलावा अन्य छोटे-छोटे अनेक कार्य यहाँ से सम्पन्न किये जा रहे हैं। विस्तारभय से उन समस्त कार्यों का विवरण यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

उक्त सम्पूर्ण कार्यों के संचालन में लगभग २५ व्यक्तियों की एक टीम यहाँ कार्य कर रही है। इसी का यह परिणाम है कि सारे समाज की आशाभरी निगाहें आज इसी ट्रस्ट की ओर लगी हैं।

सभी प्रकार के तात्त्विक, धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में समाज इस टोडरमल स्मारक भवन के ही विद्यार्थियों, प्रवचनकारों, प्रतिष्ठाचार्यों आदि की मांग करती है; जिसकी यथासंभव पूर्ति भी की जाती है।

श्री बाबूभाईजी मेहता के यहाँ रहने से हमें अत्यधिक प्रेरणा मिलती रहती है, जिससे हमारी कार्य करने की क्षमता भी द्विगुणित हो गई है।

आभार प्रदर्शन

सर्वप्रथम ज्ञानगोष्ठी पुस्तक के सम्पादक डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल को धन्यवाद देता हूँ, जिनके निर्देशन में इस पुस्तक का यह सुन्दरतमरूप सामने आया है। उन्होंने इसके प्रत्येक विषय को खूब बारीकी से जाँचा है, व्यवस्थित कराया है। पाठकों को जानकारी कराते हुए मुझे यह गौरव का अनुभव हो रहा है कि प्रारंभ में इस ज्ञानगोष्ठी के ३२ पेज छप भी चुके थे, लेकिन उससे डॉ० साहब को सन्तोष नहीं हुआ तो उन्होंने वे पेज कैन्सिल करा दिए और उन पेजों को फिर से छपाया गया। इसके पीछे भी यही भावना थी कि पूज्य गुरुदेवश्री के वचनों का जो भी साहित्य प्रकाशित किया जाय, वह पूर्ण व्यवस्थित एवं प्रामाणिक हो।

उन्हें इस कार्य में अत्यधिकरूप से पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री ने सहयोग दिया है। जिन्होंने बहुत श्रम करके इस कार्य को सम्पन्न किया है। सभी प्रश्नोत्तरों को १८ विषयों में बाँटकर व्यवस्थित किया। मात्र संकलित ही नहीं किया, बल्कि प्रत्येक विषय को सरलता से कठिनता की ओर व्यवस्थित किया, जिससे वह विषय पाठकों को हृदयंगम हो सके। किसी पुस्तक का किसी भाषा में अनुवाद कर देना सरल कार्य है; लेकिन सारी ज्ञानगोष्ठी को विषयानुसार वर्गीकृत करके उसको व्यवस्थित करना, उससे भी अधिक कठिन कार्य है; अतः ट्रस्ट उनका अत्यन्त आभारी है।

इसके सम्पादन में क्या-क्या किया गया है – इसे डॉ० साहब ने अपने सम्पादकीय लेख में स्पष्ट कर दिया है।

विगत आठ वर्षों से इस ज्ञानगोष्ठी की मूल सामग्री को गुजराती भाषा से हिन्दी में अनुवाद करने का कार्य श्रीमान् पण्डित गम्भीरचन्दजी वैद्य अलीगंज कर रहे हैं। उनका भी मैं हृदय से आभार व्यक्त करता

हूँ कि आज शरीर की रुग्ण अवस्था में भी वे इस अनुवाद आदि के कार्य में अनवरतरूप से कार्य कर रहे हैं।

हमारे प्रकाशन विभाग के व्यवस्थापक पण्डित राकेशकुमारजी शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य को भी धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने कठोर श्रम द्वारा इसके मुद्रण की सुव्यवस्था करके पुस्तक को सुन्दर रीति से प्रकाशित किया।

इस पुस्तक के प्रूफ संशोधन का कार्य बड़ी ही निष्ठा एवं जिम्मेदारी के साथ पण्डित वीरसागरजी शास्त्री, जैनदर्शनचार्य ने किया है, अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

पुस्तक प्रकाशन की कीमत कम करने हेतु जिन महानुभावों की राशि प्राप्त हुई है, उनके नाम निम्न प्रकार हैं :—

१.	श्रीमती मोहनीदेवी रंगूलाल जैन, सदर बाजार, दिल्ली	२,५००)
२.	श्री नेमीनाथ दि० जैन जिनबिम्ब महोत्सव समिति, मुजफ्फरनगर	१,००१)
३.	श्री दुलीचंद जुगराज जैन, बम्बई	१,००१)
४.	श्री छोटालाल भीखाभाई, बम्बई	१,०००)
५.	श्रीमती लीलाबेन छोटालाल मेहता, बम्बई	१,०००)
६.	श्रीमती ऊषाबाई कुन्दनलाल जैन, इन्दौर	१,०००)
७.	श्री हुकमचन्द जैन, श्री भगवानदास शोभालाल सागर	६००)
८.	श्री प्रतापराय पी० शाह, मधुर प्रहलाद, राजकोट	५०१)
९.	श्रीमती चम्पादेवी तखतराज जैन, कलकत्ता	३०१)
१०.	श्रीमती सविताबेन माणिकलाल गाँधी, बम्बई	२५१)
११.	श्रीमान सितावराय लक्ष्मीचन्द जैन, विदिशा	१५१)
१२.	श्री सुरेशचन्द जैन, बजाजनगर, जयपुर	१११)
१३.	श्रीमती गुलकन्दाबेन सुन्दरलाल जैन, भिन्ड हस्ते — श्री श्रीचन्द जैन, सोनगढ़	१०१)
१४.	श्री जीवनदास गोवर्द्धनदास परीख, बम्बई	१०१)
१५.	श्रीमती कुसुमबेन फतेहचन्द, बम्बई	१०१)
१६.	श्रीमती प्यारीबाई मानिकचंद जैन, मुँगावली	१०१)
१७.	श्रीमती शशिप्रभासोनी, हस्ते श्री प्रेमचंद सेवो, जयपुर	१०१)
१८.	श्री मन्नूलाल जैन एडवोकेट, सागर	१०१)
१९.	श्री शान्तीलाल सौगानी, महिदपुर	१०१)

२०. श्री मदनराज छाजेड़, शास्त्रीनगर, जोधपुर १०१)
२१. श्री दि० जैन पंचायत, किशनगढ़, रैनवाल १०१)
२२. श्री बंडी केशरीमल जैन, प्रतापसदन, इन्दौर १०१)
२३. श्री हुलाशचन्द काशलीवाल, जिनेन्द्र एण्ड कम्पनी, कलकत्ता १०१)
२४. श्री कपूरचन्द महावीरकुमार जैन लवाणवाले, जयपुर १०१)
२५. श्री तोतालाल जैन वकील, इन्दौर १०१)
२६. श्री नरेन्द्रकुमार जैन शिक्षक, जबलपुर १०१)
२७. श्री पूनमचन्द छावड़ा, इन्दौर १०१)
२८. श्रीमती गुणमालादेवी राजकुमार जैन, जयपुर १०१)
२९. गुप्तदान, हस्ते – शरद जैन, बापूनगर, जयपुर १०१)
३०. श्री रावजी जीवराज शहा, म्हसरूल १०१)
३१. पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्री, चौधरी मशीनरी, भिण्ड १००)
३२. श्रीमती मनफूलदेवी, जयपुर ५१)
३३. श्री अमृतलाल मंगलदास, बम्बई ५१)
३४. ब्र० जमनाबेन घेवरचन्द जैन, खैरागढ़ ५१)
३५. श्रीमती मोराबाई जैन, महावीर चौक, भिण्ड ५१)
३६. श्रीमती उमरावदेवी भँवरलाल शाह, जयपुर ५१)
३७. श्री सी० एल० शाह, नवजीवन सोसाइटी, बम्बई ५०)

कुल : ११६४०

अन्त में हम सबके शिरोमणि प्रातःस्मरणीय पूज्य श्री कानजी स्वामी के चरणों में श्रद्धाञ्जली अर्पित करते हैं, जिन्होंने तत्त्वोपदेश के द्वारा हमें सच्चे मोक्षमार्ग का यथार्थ विवेक जागृत कराया। हम सब उनके द्वारा दिये गये आध्यात्मिक प्रश्नों के उत्तरों के इस संकलन 'ज्ञानगोष्ठी' के माध्यम से अपने तत्त्वज्ञान को निर्मल करें – यही भावना है।

– नेमीचन्द पाटनी

मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
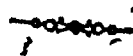
सम्पादकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के समयसारादि ग्रन्थों को आधार बनाकर इस युग में जिस आध्यात्मिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, शंखनाद फूँका; उससे आज जैन समाज में कौन अपरिचित है? प्रतिदिन २ घंटे प्रवचन एवं ४५ मिनट की चर्चा के माध्यम से उन्होंने एक ऐसे आध्यात्मिक युग का निर्माण किया; जिसने आध्यात्मिक स्तर पर समस्त जैन समाज को आन्दोलित किया, छिन्न-भिन्न स्वाध्याय-परम्परा को पुनर्स्थापित किया।

सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्दजी, वाराणसी के शब्दों में :–

"कोई स्वीकार करे या न करे, किन्तु यदि कभी किसी तटस्थ इतिहासज्ञ ने जैन समाज के इन तीन दशकों का इतिहास लिखा तो वह इस युग के इस काल को 'कानजी युग' ही स्वीकार करेगा; क्योंकि वह जब इस समय के पत्रों को उठाकर देखेगा तो उसे उन पत्रों की चर्चा का प्रधान विषय कानजी ही दृष्टिगोचर होंगे। पत्रों में विरोध भी उसी का होता है, जिसका कुछ विशेष अस्तित्व होता है। विरोध से ही व्यक्ति का व्यक्तित्व आँका जाता है। जो उस विरोध में भी अडिग रहता है, वही उसकी महत्ता का सूचक होता है।"[1]

उनकी इस आध्यात्मिक क्रान्ति में आध्यात्मिक मासिक आत्मधर्म की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उसमें उनके प्रवचन व चर्चा नियमितरूप से प्रकाशित होते रहे हैं।

जुलाई १९७६ में हिन्दी आत्मधर्म का प्रकाशन-कार्य जयपुर से आरंभ हुआ और उसका सम्पादन-कार्य मुझे सौंपा गया। यह कार्य मुझे सौंपकर पूज्य गुरुदेवश्री ने मुझ पर जो विश्वास व्यक्त किया था, उसके ही सहारे मैंने पूरी शक्ति से उसे निखारने का अथक् प्रयास किया। मेरा विचार आरंभ से ही रहा है कि इसमें प्रकाशित प्रत्येक लेखमाला अन्त में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर स्थायी रूप ग्रहण कर ले। इसी दृष्टिकोण से मैंने सम्पादकीय भी लिखे; जो आज धर्म के दशलक्षण, क्रमबद्धपर्याय, जिनवरस्य नयचक्रम् और चैतन्य-चमत्कार के रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। समयसार, नियमसार व द्रव्यसंग्रह पर हुए गुरुदेवश्री के प्रवचन भी इसी विचार से आद्योपान्त क्रमशः प्रकाशित किये गये।

---

1. सम्पादकीय, जैन सन्देश, मथुरा : १९ जुलाई, १९७६

'प्रवचनरत्नाकर' आ जाने से समयसार के प्रवचनों का प्रकाशन तो खटाई में पड़ गया है, पर नियमसार और द्रव्यसंग्रह पर हुए प्रवचनों का प्रकाशन भी शीघ्र ही किया जावेगा।

'ज्ञानगोष्ठी' शीर्षक से प्रकाशित होनेवाली तत्त्वचर्चा को भी इसी दृष्टिकोण से व्यवस्थित किया गया था। इसके समाप्त होने का तो कोई सवाल ही नहीं था; फिर भी इस ज्ञानगोष्ठी का मूल स्रोत तो अब समाप्त ही हो गया है।

हमारी संस्था के सुयोग्य मंत्री श्री नेमीचन्दजी पाटनी ने मेरा ध्यान इस ओर खींचा तो इसके प्रकाशन का निश्चय कर लिया गया।

यद्यपि यह 'ज्ञानगोष्ठी' आत्मधर्म के समय ही सम्पादित हो चुकी थी, तथापि इसे पुस्तकाकार प्रकाशित करने के लिए बहुत काम शेष था। विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत विषयों का वर्गीकरण करके विषय को एक ऐसे क्रम में व्यवस्थित करना था; जो सरलता से कठिनता की ओर जानेवाले सिद्धान्त के अनुरूप हो, पढ़ते समय एक के बाद एक बात स्पष्ट होती चली जावे, जिससे पठन-प्रवाह में अवरोध उपस्थित न हो।

मैंने यह कार्य अपने अभिन्न सहयोगी श्री अभयकुमारजी शास्त्री को सौंपा। उन्होंने बड़े ही श्रम से यह कार्य सम्पन्न किया है। यद्यपि मैंने भी इसे आद्योपान्त अच्छी तरह देखा है, तथापि उक्त कार्य सम्पन्न करने में उनका रंचमात्र भी सहयोग नहीं कर सका हूँ। मुझे यह कहते हुए रंचमात्र भी संकोच नहीं है कि उनके इस कार्य से मुझे पूर्ण सन्तोष है, उनके उज्ज्वल भविष्य की मंगल कामना करता हूँ।

इसमें आठ वर्षों में प्रकाशित ८५ आत्मधर्म और ११ वीतराग-विज्ञान – इसप्रकार ९६ अंकों की ज्ञानगोष्ठी संकलित है। अठारह शीर्षकों में विभाजित इस ज्ञानगोष्ठी में वे सभी विषय आ गए हैं, जो अध्यात्म से संबंध रखते हैं; उन सभी शंकाओं-आशंकाओं के समाधान समा गए हैं, जो आज के आध्यात्मिक अध्ययन में पग-पग पर उपस्थित होते हैं।

इसमें दिये गये प्रश्नों के उत्तर न तो आंकड़ों के घटाटोप से बोझिल ही हैं और न गोल-मोल भाषा के प्रयोग से अस्पष्ट ही; इनमें आत्मार्थियों की सहज शंकाओं का मृदुल संबोधनों से सप्रमाण समाधान किया गया है। जिनागम में प्रयुक्त अपेक्षाओं के न समझ पाने के कारण उत्पन्न होनेवाली शंकाओं का समाधान उचित अपेक्षाओं को बता-बता कर किया गया है। गुरुदेवश्री के प्रवचन तो पुस्तकाकार बहुत प्रकाशित

हुए हैं, पर ज्ञानगोष्ठी प्रकाशन का यह नया प्रयोग है। संभव है इसमें कुछ कमियाँ रह गई हों।

इसमें जो कुछ भी अच्छाई है, वह पूज्य गुरुदेवश्री की है और जो भी कमियाँ रह गई हैं, उनका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व हमारा है। यदि सजग पाठकगण उनकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगे तो हम उपकृत होंगे और आगामी संस्करणों में यथासम्भव सुधार करने का यत्न करेंगे। ध्यान रहे – आगामी संस्करण आफसेट पद्धति से किया जायगा, अतः महत्त्वपूर्ण त्रुटियों का सुधार ही संभव हो सकेगा।

हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि इससे आत्मार्थी समाज को भरपूर लाभ प्राप्त होगा। 'पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित अध्यात्मधारा को जन-जन तक पहुँचाने के अनेक प्रयासों में यह भी एक लघु प्रयास है।

आत्मार्थी समाज इसका भरपूर लाभ उठाये – इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ।

– (डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	१७	के	को
२८	१२	में	मैं
४१	२१	परयज्ञेपंने	परज्ञेयपने
४२	५	१९८०	१९८४
४२	१०	सकदा	सकता
५९	१३	जी को	जीव को
७०	३	आभव	आस्रव
१३८	२८	१९७५	१९७६
१८३	१६	१६७७	१९७७
२२४	३०	तीन का कील	तोन काल की
२४६	२२	देव	देह
२५०	४	उसके	ऐसे

नोट :– पृष्ठ २२/१२९/१४९/१७२ पर क्रमशः पंक्ति ११/८/२५/२० में वीतराग-विज्ञान के स्थान पर आत्मधर्म छप गया है। इसी प्रकार पृष्ठ १९१/२३३/२५३ पर क्रमांक संबंधी भूलें हुई हैं।

प्रमुख आधार-बिन्दु

अपने जीवन-शिल्पी पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी से सायं-कालीन चर्चा में पूछे गये प्रश्नों और उनके उत्तरों को प्रस्तुत संकलन रूपी माला में गूंथकर प्रस्तुत करने का अवसर प्राप्त होने के कारण मैं अपने को गौरवान्वित अनुभव करता हूँ।

मान्यवर डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से इस संकलन के कुछ आधार-बिन्दु निर्धारित किए गए हैं, जो निम्न-अनुसार हैं। इन बिन्दुओं के आधार पर पढ़ने से इस पुस्तक का महत्त्व और अधिक स्पष्टता एवं सरलता से समझा जा सकेगा।

(१) विषय-विभाजन :– जुलाई १९७६ से जुलाई १९८३ तक जयपुर से प्रकाशित आत्मधर्म एवं अगस्त १९८३ से जून १९८४ तक के वीतराग-विज्ञान में 'ज्ञानगोष्ठी' स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित प्रश्नोत्तरों को विभिन्न विषयों में विभाजित करके प्रत्येक विषय के आधार पर एक-एक अध्याय बनाया गया है।

विषयों का क्रम निर्धारित करने में निम्न दृष्टिकोण अपनाया गया है।

सम्पूर्ण जिनागम का केन्द्र-बिन्दु एवं पूज्य गुरुदेव की वाणी की विशिष्ट पहिचान 'भगवान आत्मा' सर्वोत्कृष्ट एवं एकमात्र आश्रयभूत पदार्थ है, अतः प्रथम अध्याय 'भगवान आत्मा' रखा गया है।

'भगवान आत्मा' का स्वरूप समझने में एकमात्र निमित्तभूत 'देव-शास्त्र-गुरु' व्यवहार से शरणभूत हैं, अतः दूसरा अध्याय 'देव-शास्त्र-गुरु' रखा गया है।

भगवान-आत्मा के आश्रय से 'आत्मानुभूति' प्रगट होती है। आत्मानुभूति का उपाय 'भेदविज्ञान' है। आत्मानुभूति को ही भेदविवक्षा में 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र' कहते हैं तथा इन तीनों की एकता ही 'मोक्षमार्ग' है; अतः तीसरे से आठवें अध्याय में क्रमशः 'आत्मानुभूति, भेदविज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं मोक्षमार्ग' से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर दिए हैं।

९वें अध्याय में मोक्षमार्गस्थ जीव की भूमिका का ज्ञान कराने के

प्रयोजन से 'ज्ञानी श्रावक की अन्तर्बाह्य दशा' से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर दिए हैं।

इसप्रकार मोक्षमार्ग से सम्बन्धित आध्यात्मिक विषयों के बाद तत्त्वनिर्णय हेतु जिनागम में बहुचर्चित सैद्धान्तिक विषयों के आधार पर दसवें से सत्तरहवें अध्याय में क्रमशः 'द्रव्य-गुण-पर्याय, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार, प्रमाण-नय, कर्त्ता-कर्म, क्रमबद्धपर्याय एवं पुण्य-पाप' – इन विषयों का समावेश किया गया है।

(२) **विषय-विभाजन का आधार** :– किस प्रश्न को किस विषय के अन्तर्गत लिया जाए – यह निर्णय करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि एक ही प्रश्न अनेक विषयों से सम्बन्धित मालूम पड़ते थे। ऐसे प्रश्नों का विषय-निर्धारण उनके सन्दर्भ के आधार पर किया गया है; जैसे – प्रश्नक्रमांक १२२ सम्यग्दर्शन या भेद-विज्ञान के अध्याय में भी रखा जा सकता था, परन्तु आत्मानुभूति के प्रयत्न के सन्दर्भ में पूछा गया होने से उसे आत्मानुभूति के अध्याय में रखा गया है।

(३) **प्रश्नों के क्रम-निर्धारण का आधार** :– यद्यपि प्रत्येक अध्याय में संकलित अधिकांश प्रश्न आगे-पीछे के प्रश्नों से सम्बन्धित नहीं हैं, तथापि कई प्रश्न लगातार परस्पर सम्बन्धित हैं, अतः उन्हें क्रम में रखा गया है।

अध्याय के प्रारम्भ में सरल एवं विषय को अधिकतम स्पष्ट करनेवाले प्रश्न रखे गये हैं।

(४) **क्रमाँक-पद्धति** :– प्रत्येक प्रश्न के ऊपर दिये गये क्रमाँक का क्रम आदि से लेकर अन्त तक कायम रहा है, इससे यह पता चलता है कि पूरी पुस्तक में कितने प्रश्नोत्तर हैं। तथा प्रश्न के अन्त में दिया गया क्रमाँक मात्र सम्बन्धित अध्याय का क्रमाँक है, इससे प्रत्येक अध्याय के कुल प्रश्नोत्तरों की संख्या का पता चलता है।

(५) **प्रमाण-पद्धति** :– प्रत्येक प्रश्न के अन्त में उस प्रश्न का प्रमाण भी दिया गया है कि वह किसमें, किस वर्ष के किस माह में, किस पृष्ठ से लिया गया है, ताकि इन प्रश्नों की प्रामाणिकता असन्दिग्ध रहे।

प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस विषय से सम्बन्धित भजन या उद्धरण दिए गए हैं। जैसे कारणशुद्धपर्याय के प्रकरण के अन्त में नियमसार के उस प्रकरण को उद्धृत किया है, जिसमें कारणशुद्धपर्याय की चर्चा की गई है।

इन प्रश्नों का संकलन करते हुए मुझे पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी के माध्यम से जिनागम का मर्म और अधिक स्पष्टता से भासित हुआ है, एतदर्थ उनके चरणों में विनम्र श्रद्धासुमन समर्पित करता हूँ।

यह संकलन करने हेतु माननीय डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने मुझे अवसर प्रदान किया तथा कदम-कदम पर प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन दिया है; जिससे मुझे साहित्यसेवा के क्षेत्र में बहुत-कुछ सीखने को मिला है, एतदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। माननीय श्री नेमीचन्दजी पाटनी ने भी इस कार्य हेतु अवसर एवं पूर्ण प्रोत्साहन प्रदान किया है। एतदर्थ मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हुआ विनम्र अनुरोध करता हूँ कि भविष्य में भी ऐसे स्व-पर हितकारी कार्यों का अवसर प्रदान करते हुए अनुगृहीत करेंगे।

अन्य भी जिन साथियों ने मुझे सहयोग दिया है, उनके प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

इस संकलन से पाठकगण भी जिनागम की विभिन्न अपेक्षाओं को समझकर उसका मर्म समझें – यही मंगल कामना है।

– सहसम्पादक, अभयकुमार जैन शास्त्री, एम० काम०

श्रावक का आचरण

रात्रि भोजन में त्रसहिंसा होती है, इसलिये श्रावक को उसका त्याग होता ही है। इसीप्रकार अनछने पानी में भी त्रसजीव होते हैं। शुद्ध और मोटे कपड़े से छानने के पश्चात् ही श्रावक पानी पीता है। अस्वच्छ कपड़े से छाने तो उस कपड़े के मैल में ही जीव होते हैं; इसलिये कहते हैं कि शुद्ध वस्त्र से छने हुए पानी को काम में लेवें। रात्रि को तो पानी पियें ही नहीं और दिन में छानकर पिये। रात्रि को त्रसजीवों का संचार बहुत होता है; इसलिये रात्रि के खान-पान में त्रसजीवों की हिंसा होती है। जिसमें त्रसहिंसा होती है – ऐसे कोई कार्य के हरिणाम व्रती श्रावक को नहीं हो सकते।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी
श्रावकधर्मप्रकाश, पृष्ठ ५३–५४ (नया संस्करण)

(१)

भगवान आत्मा

(१)

प्रश्न :– भगवान आत्मा को ज्ञानमात्र क्यों कहा जाता है ? आप वारम्बार 'भगवान आत्मा·······भगवान आत्मा' कहते हैं ? कृपया उसका स्वरूप बताइये ?

उत्तर :– भाई ! भगवान आत्मा अनन्त शक्तियों का संग्रहालय, अनन्त गुणों का गोदाम, अनन्त आनन्द का कन्द, अनन्त महिमावन्त, अतीन्द्रिय महापदार्थ है; उसे ज्ञानमात्र भी कहा जाता है। 'आत्मा ज्ञान, मात्र है अर्थात् वह शरीर, मन, वाणी और पुण्य-पाप रूप नहीं है, एक समय की पर्याय मात्र भी नहीं है। वह ज्ञान, दर्शन, अकार्यकारण, भाव, अभाव आदि अनन्त शक्तिमय है।

प्रभु ! तेरे घर की क्या वात कहें ? तुझमें अनन्त शक्तियाँ भरी पड़ी हैं और एक-एक शक्ति अनन्त सामर्थ्यवान है, एक-एक शक्ति अनन्त गुणों में व्यापक है, एक-एक शक्ति में दूसरी अनन्त शक्तियों का रूप है, एक-एक शक्ति दूसरी अनन्त शक्तियों में निमित्त है। एक-एक शक्ति में अनन्त पर्यायें हैं, वे पर्यायें क्रम-क्रम से होती हैं, इसलिए क्रमवर्ती हैं। अनन्त शक्तियाँ एक साथ रहती हैं, इसलिए वे अक्रमवर्ती हैं।

इसप्रकार आत्मद्रव्य अक्रमवर्ती और क्रमवर्ती गुण-पर्यायों का पिण्ड है। द्रव्य शुद्ध है, गुण भी शुद्ध है; इसलिए उसकी दृष्टि करने पर परिणमन भी शुद्ध ही होता है। 'मैं ज्ञानमात्र वस्तु हूं'—ऐसी दृष्टि होने पर पर्याय में जीवत्व शक्ति का परिणमन हुआ; उसके साथ ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अकार्यकारणत्व आदि अनन्त शक्तियों की पर्यायें उछलती हैं—प्रगट होती हैं ॥१॥

— आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ २६-२७

(२)

प्रश्न :– उछलती हैं अर्थात् क्या ?

उत्तर :– द्रव्य वस्तु है, उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं। जव एक शक्ति का परिणमन होता है, तव अनन्त शक्तियों की परिणति एक साथ उत्पन्न होती है – इसी को उछलना कहा जाता है ॥२॥

— आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ २७

(३)

प्रश्न :– क्या अज्ञानी को प्रथम से ही आत्मा की वात कहनी चाहिये ?

उत्तर :– समयसार की गाथा ८ में आचार्यदेव ने 'आत्मा आनन्द-स्वरूप है', उसको पहचानने के लिए समझाया है। प्रथम ही द्वीप, समुद्र, लोक की रचना आदि की जानकारी अथवा व्रतादि करने के लिए नहीं कहा; अपितु शुद्धात्मा को पहिचानने के लिए कहा है। समझने के लिए आनेवाला भी अभी आत्मा को समझा नहीं है, फिर भी जिज्ञासा से टकटकी लगाकर देख रहा है; उससे कहते हैं कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को सदैव प्राप्त हो, उसे आत्मा कहते हैं। इसप्रकार व्यवहारी जीवों को भी प्रथम शुद्धात्मा ही समझाया है। अनादिकालीन वन्धन से छूटकर मुक्ति कैसे प्राप्त हो – यह आचार्यदेव अज्ञानी जीव को समझाते हैं ॥३॥

— आत्मधर्म : सितम्वर १९७७, पृष्ठ २७

(४)

प्रश्न :– जीव को शरीरवाला अथवा रागवाला कहना तो व्यवहार से कथन है, किन्तु जीव को सम्यग्दर्शनवाला तो कह सकते हैं ?

उत्तर :– जीव को सम्यग्दर्शनवाला कहना भी पर्याय से कथन है। जीव तो विज्ञानघनस्वरूप है। सम्यग्दर्शन पर्याय तो एक अंश है, जवकि जीव त्रिकाली विज्ञानघनस्वरूप है ॥४॥

— आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ २६

(५)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन और आत्मा भेदरूप हैं या अभेदरूप हैं ?

उत्तर :– सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्याय और आत्मा अभेद हैं। राग और आत्मा में तो स्वभाव-भेद है, किन्तु सम्यग्दर्शन और शुद्धात्मा अभेद हैं।

परणति स्वभाव में अभेद होकर परिणमित हुई है, आत्मा स्वयं अभेदपने उस परिणतिरूप से परिणमित हुआ है – उसमें भेद नहीं है। व्यवहार सम्यग्दर्शन तो विकल्परूप है, वह कहीं आत्मा के साथ अभेद नहीं है ॥५॥

— आत्मधर्म : जुलाई १९७७, पृष्ठ २४

(६)

प्रश्न :– कहीं-कहीं शुद्धपर्याय को आत्मा कहा है, उसका क्या आशय है ?

उत्तर :– अलिंगग्रहण के २० वें बोल में ध्रुव को स्पर्श नहीं करने वाली शुद्धपर्याय को आत्मा कहा है, वहाँ वेदन की अपेक्षा कहा है, क्योंकि आनन्द का वेदन परिणति में है, त्रिकाली में वेदन नहीं होता; इसलिए 'जो वेदन में आया, वह मैं हूँ'– ऐसा कहा है। जहाँ जैसा आशय हो, वैसा समझना चाहिए। सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली ध्रुव सामान्य है, वही सर्व तत्त्वों में सार है। वस्तु स्वयं ध्रुवरूप है, उसका लक्ष्य करने से सम्यग्दर्शन होता है ॥६॥ — आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ २७

(७)

प्रश्न :– पहले ज्ञान जानने में आता है या आत्मा ? दोनों की प्रसिद्धि में कितना अन्तर है ?

उत्तर :– दोनों एक साथ ही जानने में आते हैं। आत्मा को लक्ष्य में लिये बिना ज्ञान को किसका लक्षण कहना ? आत्मा को लक्ष्य में लेने पर ज्ञान उसमें अभेद हुआ, तब आत्मा लक्षित हुआ और ज्ञान उसका लक्षण हुआ; इसप्रकार लक्षण और लक्ष्य – दोनों की प्रसिद्धि एक साथ ही है ॥७॥ — आत्मधर्म : जुलाई १९८३, पृष्ठ २४

(८)

प्रश्न :– यदि दोनों एक साथ जानने में आते हैं, तो फिर ज्ञान और आत्मा का भेद तो व्यर्थ हो गया ?

उत्तर :– अभेद की ओर ढलने पर भेद को उपचार से साधन कहा जाता है। अभेद के लक्ष्य बिना अकेला भेद तो सचमुच व्यर्थ ही है। अभेद में जाते-जाते बीच में भेद आ जाता है, परन्तु उस भेदरूप व्यवहार का निषेध करके अभेद में ढलना होता है; अतः उस भेद को व्यवहार-साधन कहा जाता है। निश्चय बिना अकेला व्यवहार तो व्यर्थ ही है। 'प्रथम

ज्ञान को जाना, पश्चात् आत्मा को जाना'—ऐसा भी वास्तव में है नहीं। जब तक 'यह लक्षण और यह लक्ष्य' इ – सप्रकार दो भेदों के ऊपर लक्ष रहे; तब तक विकल्प की ही प्रसिद्धि है, आत्मा की नहीं। आत्मा की ओर बढ़कर जब आत्मा की प्रसिद्धि हुई, अनुभव हुआ; तब लक्ष्य और लक्षण – ऐसे दो भेदों पर लक्ष नहीं रहता और दोनों अभेद होकर एक साथ प्रसिद्ध होते हैं; भेद व्यवहार तो अभेद आत्मा का प्रतिपादन करने के लिये है ॥८॥ — आत्मधर्म : जुलाई १९८३, पृष्ठ २४

(९)

प्रश्न :– यदि आत्मस्वभाव सुख का सागर है तो वर्तमान में उस सुख का अंश भी अनुभव में क्यों नहीं आता ?

उत्तर :– आत्मा सुख का सागर होने पर भी उसने राग में एकत्वबुद्धि अनादिकाल से बना रखी है, इसलिए स्वभाव से सुखांश प्रगट नहीं होता। राग के साथ एकत्वबुद्धि का धागा तोड़कर उससे भेदज्ञान करे तो स्वभाव में से सुखांश प्रगट हो ॥९॥

— आत्मधर्म : जनवरी १९७९, पृष्ठ २५

(१०)

प्रश्न :– पर्याय में प्रभुता कैसे प्रगट हो ?

उत्तर :– तू रागादि से निर्लेपस्वरूप प्रभु है। कषायोत्पत्ति हो, उसे मात्र जानना – यही तेरी प्रभुता है। कषाय में एकत्वबुद्धि करके निजत्व स्थापित करना, तेरी प्रभुता नहीं है। भाई ! तू निर्दोष वस्तु है – तुझे कषाय का लेप लगा ही नहीं है। आत्मा तो सदा ही कषायों से निर्लिप्त है। जैसे स्फटिकमणि में पर का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही कषायभाव – विभावभाव ज्ञान में आते-जाते हैं;वे तेरे में प्रविष्ट नहीं हो जाते, तू तो निर्लेप है। व्रतादि के विकल्प आते हैं, वे तो इस ज्ञायक से भिन्न संयोगी भाव हैं, ज्ञायक की जाति के नहीं हैं; अतः कुजाति हैं, परजाति हैं, परज्ञेय हैं, स्वजाति या स्वज्ञेय नहीं। तू ज्ञायकस्वरूप निर्लेप प्रभु है। इस प्रभुता का अन्तर से विश्वास करने पर पर्याय में प्रभुता प्रगट होती है ॥१०॥ — आत्मधर्म : जनवरी १९७९, पृष्ठ २५–२६

(११)

प्रश्न :– आत्मवस्तु तो अव्यक्त है, फिर जानने में कैसे आवे ?

उत्तर :– वर्तमान में वर्तती पर्याय व्यक्त है—प्रगट है। वह पर्याय कहाँ से आती है ? कोई वस्तु है, उसमें से आती है या कहीं अधर में से आती है ? तरंग है, वह पानी में से आती है या कहीं अधर में से आती है ? उसी भाँति पर्याय है, वह अधर में से नहीं आती; अपितु वस्तु अव्यक्त – शक्तिरूप है, उसमें से आती है। व्यक्त पर्याय अव्यक्त आत्मशक्ति को व्यक्त करती है – उसका अस्तित्व बताती है ।।११।।

— आत्मधर्म : जनवरी १९७९, पृष्ठ २५

(१२)

प्रश्न :– 'ज्ञान सो आत्मा' – ऐसा कहकर मात्र ज्ञान के द्वारा ही आत्मा की पहिचान क्यों कराई ? जीव का मूल प्रयोजन तो आनन्द को प्राप्त करना है न ?

उत्तर :– आत्मा को पहिचानने के लिए 'ज्ञान सो आत्मा' – इस प्रकार कहा है, उसका कारण यह है कि ज्ञान तो प्रगट अंश है – वर्तमान में विद्यमान है और आनन्द का अंश प्रगट नहीं है, प्रगट तो आकुलता है; इसलिए ज्ञान के प्रगट अंश द्वारा ही आत्मा की पहिचान कराई है। ज्ञान के प्रगट अंश को अन्दर में लगाए अर्थात् एकाग्रता करे तो जिस प्रकार द्रव्य और गुण शुद्ध हैं, उसीप्रकार पर्याय भी शुद्ध हो जाती है। आत्मा को ज्ञान के अंश से पहिचान करवाने का मूल हेतु यही है ।।१२।।

— आत्मधर्म : मार्च १९७९, पृष्ठ २६

(१३)

प्रश्न :– समयसार सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार का मांगलिक करते हुए आचार्यदेव ने कहा हैं कि आत्मा का द्रव्यस्वभाव शुद्ध-शुद्ध है। यहाँ शुद्ध-शुद्ध दो वार प्रयोग करने का आशय क्या है ?

उत्तर :– प्रथम तो परद्रव्य से भिन्न होने के कारण शुद्ध है और द्वितीय राग से भी भिन्न होने के कारण शुद्ध है। बंध और मोक्ष के विकल्पों से दूरीभूत है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त समस्त पर्यायों से आत्मस्वभाव अत्यन्त दूर है; अतः आत्मस्वभाव शुद्ध-शुद्ध है – सम्पूर्णतः ही शुद्ध है ।।१३।।

— आत्मधर्म : मार्च १९७९, पृष्ठ २६

(१४)

प्रश्न :– 'मैं शुद्ध हूं' – इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर :– नर-नारकादि जीव के विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष – इन नव तत्त्वों से एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव अत्यन्त भिन्न होने से 'मैं शुद्ध हूँ'। साधक-बाधक की पर्याय से आत्मा को अत्यन्त भिन्न कहा। शरीरादि से तो अत्यन्त भिन्न है ही, पुण्य-पापादि से भी अत्यन्त जुदा है; इसके अतिरिक्त संवर, निर्जरा और मोक्ष की शुद्ध निर्मल पर्याय के व्यवहारिक भावों से भी मैं एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभावरूप होने के कारण अत्यन्त भिन्न होने से शुद्ध हूँ। यहाँ समयसार की गाथा में तो संवर, निर्जरा और मोक्ष की शुद्ध निर्मल पर्याय के व्यवहारिक भावों से भी आत्मा को अत्यन्त भिन्न कहकर दिगम्बर सन्तों ने अन्दर के रहस्य को व्यक्त कर दिया है। ऐसी बात अन्यत्र है ही नहीं। आहाहा ! जगत का भाग्य है कि ऐसी वाणी अवशेष रह गई ॥१४॥

— आत्मधर्म : मई १९७९, पृष्ठ २४

(१५)

प्रश्न :– 'भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है'– इसप्रकार आप आत्मा के गुणों का विशद व्याख्यान करते हो, परन्तु वह भगवान चला कहाँ गया – यह तो बतलाइए ?

उत्तर :– भगवान तो जहाँ है, वहाँ ही है; परन्तु इस भगवान का इस जीव को भान नहीं है, इसलिए दृष्टि में आता नहीं। स्वयं भगवान-स्वरूप कारणपरमात्मा है – ऐसा जिसको हृदय में जमता है, उसी को कारणपरमात्मा है; परन्तु जिसको ऐसा जमता ही नहीं कि मैं परमात्म-स्वरूप हूं, उसके लिए कारणपरमात्मा कहाँ है ? उसको तो राग और अल्पज्ञता ही है। जिसको कारणपरमात्मा का विश्वास जमता है, उसी को कार्यरूप में समग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है ॥१५॥

— आत्मधर्म : अक्टूबर १९७९, पृष्ठ २२

(१६)

प्रश्न :– तो अज्ञानी को क्या करना ?

उत्तर :– अज्ञानी को प्रथम वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान करके आत्मा का भान करना चाहिये। यही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का सच्चा उपाय है। शुभराग का क्रियाकाण्ड करना सच्चा उपाय नहीं है ॥१६॥

— आत्मधर्म : अक्टूबर १९७९, पृष्ठ २२

(१७)

प्रश्न :– लोक छह द्रव्यस्वरूप है, उसमें जीव सप्तम द्रव्य हो जाता है क्या ?

उत्तर :– लोक है तो छह द्रव्यस्वरूप ही, किन्तु वह ज्ञेय होने से व्यक्त है और उसको जाननेवाला जीव उससे भिन्न है; अतः इसी अपेक्षा से उसे सप्तम द्रव्य कहा है ॥१७॥

— आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २४

(१८)

प्रश्न :– आत्मद्रव्य की महिमा विशेष है या द्रव्य को लक्ष्य में लेने वाली पर्याय की ?

उत्तर :– आत्मद्रव्य की महिमा विशेष है। पर्याय द्रव्य का लक्ष्य करे, तब मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है – इसी अपेक्षा से पर्याय की महिमा कही जाती है; किन्तु पर्याय तो एक समय की है, जबकि द्रव्य पर्याय से अनन्त-अनन्त गुणी सामर्थ्यवाला है – त्रिकाली महाप्रभु है, इसलिए द्रव्य की महिमा ही विशेष है ॥१८॥ — आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २२

(१९)

प्रश्न :– नियमसार में संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व के भी साररूप नहीं कहा, इसमें क्या रहस्य है ?

उत्तर :– आत्मा ही एक सर्व तत्त्वों में साररूप है। संवर, निर्जरा और मोक्ष उत्पन्न करने की अपेक्षा से, प्रगट करने की अपेक्षा से तो हितरूप और साररूप कहे जाते हैं, किन्तु नियमसारजी में उन्हें भी साररूप नहीं कहा। इसका कारण यह है कि वे पर्याय हैं, नाशवान हैं, क्षणिक हैं; और आत्मा तो अविनाशी ध्रुव होने से साररूप है। संवरादितत्त्व तो नाशवान भाव हैं, उनसे अविनाशी भगवान आत्मा दूर है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-वीर्यादिभाव पर्याय हैं – विनाशीक हैं, अतः साररूप नहीं हैं। अविनाशी भगवान आत्मा ही एक साररूप होने से नाशवान भावों से दूर है। आहाहा ! पर्याय के समीप ध्रुव भगवान पड़ा है – वही अकेला साररूप होने से दृष्टि में लेने योग्य है और तो सर्व असार है ॥१९॥

— आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २३

(२०)

प्रश्न :– उपयोग किसका लक्षण है ? उसको किसका अवलम्बन

है – किसके अवलम्बन से प्रगट होता है ? उस उपयोग की अस्ति किसके कारण से है और किसके कारण से नहीं है ?

उत्तर :– उपयोग आत्मा का लक्षण है, उसको ज्ञेय पदार्थों का अवलम्बन नहीं है। आत्मा के अवलम्बन से उपयोग प्रगट होता है, बाह्य पदार्थों के अवलम्बन से नहीं। आत्मा को तो परपदार्थों का अवलम्बन है ही नहीं। अरे ! उसके उपयोगको भी बाह्यपदार्थों का अवलम्बन नहीं है। उपयोग लक्षण को तो लक्ष्य ऐसे आत्मा का अवलम्बन है। परपदार्थों के अवलम्बन से अर्थात् देव-गुरु-जिनवाणी के अवलम्बन से आत्मा का उपयोग प्रगट नहीं होता है। उपयोग की अस्ति ज्ञेय पदार्थों के कारण नहीं है, परन्तु वह उपयोग जिसका लक्षण है – ऐसे आत्मा से अस्तिरूप है। उस उपयोग को पर का अवलम्बन कैसे हो ? अधिक वांचन, अधिक श्रवण करे तो शुद्धि की वृद्धि हो – ऐसा नहीं है। शुद्धि की वृद्धि तो नियम से आत्मा के अवलम्बन से ही होगी ॥२०॥

— आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २४

(२१)

प्रश्न :– सीमंधर का अर्थ क्या है ? क्या आत्मा सीमंधर है।

उत्तर :– सीमंधर अर्थात् वस्तु मर्यादावाली है। प्रभु ! तू मर्यादित है, तेरी सीमा – तेरी मर्यादा यह है कि तू राग में न जावे, राग को न करे, अपने त्रिकाली अकषायी नीराग स्वरूप में ही रहे। अतः मर्यादा का, सीमा का धारक आत्मा स्वयं ही सीमंधर है ॥२१॥

— आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २३

(२२)

प्रश्न :– द्रव्यस्वभाव में विकार है ही नहीं तो कारणपरमात्मा को पापरूपी बहादुर शत्रुसेना का लूटनेवाला क्यों कहा ?

उत्तर :– यह तो पर्याय से बात की है। पर्याय में रागादिभाव हैं, वे स्वभाव-सन्मुख ढलने पर उत्पन्न ही नहीं होते, ऐसी स्थिति में उन्हें नाश किया – ऐसा कथनमात्र कहा जाता है। द्रव्यस्वभाव में तो रागादि-भाव अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, केवलज्ञान या सिद्धपर्याय आदि कोई भी पर्याय हैं ही नहीं। संसार-मोक्ष तो सब पर्यायों का खेल है, द्रव्यस्वभाव में ये पर्यायें है ही नहीं। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव एक रूप है; उसे न तो कुछ ग्रहण ही करना है और न कुछ छोड़ना। ज्ञायकभाव तो

शाश्वत-ही है। तीन कषायों का अभाव करके अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेनेवाले दिगम्बर सन्तों ने अन्तर की बात अजब-गजब की की है। ऐसी बात दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त भरतक्षेत्र में अन्यत्र है ही नहीं; वे कहते हैं कि सभी जीव सुखी होवें, कोई जीव दुःखी न होवे, सभी जीव मुक्तदशा को प्राप्त करें, प्रत्येक आत्मा मुक्तस्वभावी ही है ॥२२॥

—आत्मधर्म : अगस्त १९८०, पृष्ठ २७

(२३)

प्रश्न :— त्रिकाली आत्मद्रव्य के आश्रय से ही धर्म होता है - इसका क्या कारण है ?

उत्तर :— त्रिकाली आत्मद्रव्य ही मूल वस्तु है, उसी में आनन्द भरा है; इसलिए त्रिकाली द्रव्य का आश्रय लेने पर पर्याय में आनन्दरूप धर्मदशा प्रकट होती है ॥२३॥ —आत्मधर्म : अप्रैल १९८१, पृष्ठ २४

(२४)

प्रश्न :— ध्रुव का मूल्य अधिक है या पर्याय में आनन्द के अनुभव का ?

उत्तर :— ध्रुव का मूल्य अधिक है। आनन्द की पर्याय तो एक समय की है, जबकि ध्रुव में आनन्द का कोष भरा है ॥२४॥

— आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ २१

(२५)

प्रश्न :— यदि द्रव्य की प्रसिद्धि पर्याय से होती है, तब तो द्रव्य से पर्याय ऊँची हो गई ?

उत्तर :— द्रव्य की प्रसिद्धि भले ही पर्याय करती है, फिर भी पर्याय है तो एक समय की ही न ? द्रव्य तो अनन्त-अनन्त पर्यायों का पिण्ड प्रभु है, उसकी ही महिमा है। यद्यपि एक समय की पर्याय की भी महिमा है कि वह एक समय में तीनकाल-तीनलोक के पदार्थों को जानती है — यह सत्य है, तथापि द्रव्य तो उससे अनन्तगुणी पर्यायों का पिण्ड है; इसलिए पर्याय की अपेक्षा द्रव्य की अनन्तगुणी महिमा है। ऐसे द्रव्य की महिमा दृष्टि में आये तो पर्याय में आनन्द का वेदन होवे ॥२५॥

— आत्मधर्म : अगस्त १९८१, पृष्ठ २

(२६)

प्रश्न :— द्रव्य में पड़ा हुआ आनन्द काम में अर्थात् भोगने में नहीं

आता, जबकि पर्याय का आनन्द भोगने में आता है – ऐसी स्थिति में पर्याय का मूल्य बढ़ा या नहीं ?

उत्तर :– पर्याय में भोगने में आनेवाला आनन्द एक क्षणवर्ती होता है और द्रव्य तो त्रिकाली आनन्द का पिण्ड है। द्रव्य में से क्षण-क्षण आनन्द का प्रवाह आता है, इसलिए द्रव्य आनन्द का सागर है। आनन्द के सागर का मूल्य अधिक है ॥२६॥ – आत्मधर्म : अगस्त १९८१, पृष्ठ २

(२७)

प्रश्न :– आप कहते हैं कि ज्ञान की पर्याय ध्रुव को जानती है, ध्रुव स्वयं कुछ नहीं जानता; तो क्या ध्रुव अन्धा है ?

उत्तर :– ध्रुव अन्धा नहीं है, बल्कि महाप्रभु है। ध्रुव जानने की अन्वयशक्तियों का महापिण्ड प्रभु है। पर्याय व्यक्त है – प्रगट है, अतः ध्रुव को जानती है ॥२७॥ – आत्मधर्म : सितम्बर १९८१, पृष्ठ २४

(२८)

प्रश्न :– जीव शुद्धस्वरूपी है – यह तो ठीक है; परन्तु राग-द्वेष-मोह-सुख-दुःख के परिणामों को करता कौन है और भोगता कौन है ?

उत्तर :– जीव ही राग-द्वेष-मोह के परिणामों को करता है, सुख-दुःख एवं हर्ष-शोक को भोगता है; किन्तु वे विभाव परिणाम हैं, उपाधिभाव हैं; अतः जीव के स्वरूप का विचार करने पर वे जीव का स्वरूप नहीं हैं – ऐसा कहा जाता है तथा शुद्धस्वरूप के अनुभव में विभाव नहीं आता है, इसलिए स्वभावदृष्टि से विभाव आत्मा से भिन्न है ॥२८॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७७, पृष्ठ २५

(२९)

प्रश्न :– आत्मा का स्वभाव ज्ञान है तो राग कैसे होता है ?

उत्तर :– अपने स्वभाव को भूलकर पर को अपना मानता है, इसलिए पर में राग करता है। निमित्ताधीन बुद्धि होने से, रागादि में एकत्वबुद्धि होने से, पर्यायबुद्धि होने से राग होता है। आत्मा के द्रव्य-गुण में राग करने की शक्ति नहीं है, किन्तु पर्याय में विकार होने की योग्यता से राग होता है ॥२९॥ – आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ २६

(३०)

प्रश्न :– आत्मा में नित्यस्वभाव और अनित्यस्वभाव दोनों एक

साथ हैं, उनमें से अनित्यस्वभाव का अर्थ क्या है ? क्या विकारीभाव भी आत्मा का अनित्यस्वभाव है ?

उत्तर :– आत्मा कायम रहकर पलटता रहता है। आत्मा की विकारीदशा संसार, और निर्मलदशा मोक्ष है। शरीर तो संयोगी है, वह तेरा स्वभाव नहीं और क्षणिक विकार भी तेरा स्वभाव नहीं; त्रिकाली स्वभाव का वेदन हो, वह तेरा स्वभाव है। आत्मा में अनित्यस्वभाव तो कायम रहता है, परन्तु विकारीपर्याय सदा नहीं रहती; अतः वह वास्तव में आत्मा का अनित्यस्वभाव नहीं है। क्षण-क्षण में जो जानने की पर्याय हुआ करती है, वही आत्मा का अनित्यस्वभाव है । नई-नई ज्ञान की पर्याय सदा होती ही रहती है, वही आत्मा का अनित्यस्वभाव है ।।३०।।

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९८२, पृष्ठ २४

(३१)

प्रश्न :– इन्द्रियों द्वारा जाना जाय, वह आत्मा अर्थात् आत्मा इन्द्रियों से जाना जाता है – ऐसा मानें तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर :– इन्द्रियों से जाना जाय, वह आत्मा – ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मा तो सर्वज्ञस्वभावी है। इन्द्रियों से आत्मा जाना जाता है – ऐसा माना जाय तो इसमें आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव का अपवाद होता है तथा सर्वज्ञ का भी अपवाद होता है। जानने का स्वभाव तो चेतन आत्मा का ही है, अचेतन इन्द्रियों का नहीं। सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय ही है, उन्हें इन्द्रियों का अवलम्बन रंचमात्र भी नहीं है। यदि ऐसा माना जाय कि आत्मा को जानने की सामर्थ्य इन्द्रियों की है तो इसमें आत्मा के सर्वज्ञ-स्वभाव का स्पष्ट अनादर हो जाता है और यही सबसे बड़ी आपत्ति है ।।३१।।

– आत्मधर्म : फरवरी १९८३, पृष्ठ २५

(३२)

प्रश्न :– आत्मा और ज्ञान जब अभेद हैं तो उनमें लक्ष्य और लक्षण का भेद क्यों किया ?

उत्तर :– प्रसिद्धत्व और प्रसाध्यमानत्व के कारण लक्षण और लक्ष्य का विभाग करने में आया है। ज्ञान स्वयंप्रसिद्ध है और उस ज्ञान द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि की गई है। लोग ज्ञानमात्र को तो स्वसंवेदन से जानते है। पेट दुखता है, माथा दर्द करता है – ऐसा किसने जाना ? ज्ञान ने जाना । इसप्रकार ज्ञान तो प्रसिद्ध है; परन्तु अज्ञानी उस ज्ञान

द्वारा अकेले पर की प्रसिद्धि करता है, इसलिए उस ज्ञान को स्वसन्मुख करके आत्मा की प्रसिद्धि करने के लिए आत्मा और ज्ञान का लक्ष्य-लक्षण भेद करके समझाया गया है। प्रसिद्ध ज्ञान द्वारा अप्रसिद्ध आत्मा को प्रसिद्ध किया गया है ॥३२॥   – वीतराग-विज्ञान : नवम्बर १९८३, पृष्ठ २४

(३३)

प्रश्न :– आत्मद्रव्य समस्त पर्यायों में व्यापक है – ऐसा कहा तो क्या विकारी पर्याय में भी आत्मा व्यापक है ?

उत्तर :– हाँ, विकारी पर्याय में भी उस एकसमय के लिए आत्मा व्यापक है ; परन्तु ऐसा जिसने निर्णय किया, उसकी अपनी पर्याय में अकेला विकारभाव ही नहीं होता, परन्तु साधकभाव भी होता है; क्योंकि 'विकारभाव कर्म के कारण नहीं होता अर्थात् उसमें कर्म व्यापक नहीं, उसमें भी आत्मद्रव्य ही व्यापक है'–इसप्रकार जिसने निश्चय किया, उसके विकार के समय भी द्रव्य की प्रतीति हटी नहीं है अर्थात् 'पर्याय में द्रव्य व्यापक है' – ऐसा निश्चय करनेवाले को अकेले विकार में ही व्यापकपना नहीं होता; किन्तु सम्यक्त्वादि निर्मल पर्यायों में व्यापपना होता है।   – वीतराग-विज्ञान : सितम्बर १९८३, पृष्ठ २२

(३४)

प्रश्न :– 'केवलज्ञान की शक्ति' और 'केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म' – इन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर :– जिस जीव में केवलज्ञान प्रगट होनेवाला है, उस जीव में केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म सदैव है। उपर्युक्त 'शक्ति' और 'धर्म' दोनों भिन्न-भिन्न चीजें हैं। केवलज्ञान की शक्ति तो अभव्यजीव में भी है, परन्तु केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म उसमें नहीं है। अभव्य में केवलज्ञान की शक्तिरूप स्वभाव है, किन्तु उसमें केवलज्ञान पर्याय कभी प्रगट होनेवाली नहीं है – ऐसा भी उसका एक स्वभाव है ॥३४॥

– वीतराग-विज्ञान : सितम्बर १९८३, पृष्ठ २२

(३५)

प्रश्न:– देहदेवल में भगवान आत्मा सर्वकाल प्रत्यक्ष है तो इस समय क्यों नहीं दिखता ?

उत्तर:– यह शक्ति की अपेक्षा प्रत्यक्ष है। जिसकी दृष्टि इसक ऊपर जाती है, उसको प्रत्यक्ष है, तीनों काल में निर्मल है, तीनों काल में

प्रत्यक्ष है। इसक स्वरूप में दया-दान आदि का विकल्प नहीं होता। जो प्रत्यक्ष करना चाहता है, उसको प्रत्यक्ष ही है। जो वर्तमान ज्ञानका अंश है, उसको त्रिकाली की ओर मोड़ने से प्रत्यक्ष है ॥३५॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २४

(३६)

प्रश्न :– जीव को हर्ष-विषाद आदि के स्थान नहीं होते तो वे किसको होते हैं ?

उत्तर :– जीव के मूल स्वभाव में विकार नहीं, इसलिए विकार के स्थानों को पुद्गलकर्म का कहने में आता है ॥३६॥

–आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २४

(३७)

प्रश्न:– आत्मा में तो अनन्त शक्तियाँ हैं। उनमें से कोई शक्ति एसी भी होगी कि आत्मा परद्रव्य का भी कार्य करे ? जिसप्रकार एक गाय को चराने जायें तो उसके साथ में ही अन्य भी दो-चार गायें चराने को ले जाते हैं, उसीप्रकार आत्मा अपना कार्य करने के साथ शरीरादि का भी कार्य करे तो क्या दोष है ?

उत्तर:– भाई, सुनो ! आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं। वे अपना सम्पूर्ण कार्य करती हैं और अन्य द्रव्य से भिन्नपने स्वयं को टिकाये रखती हैं। अन्य द्रव्य आत्मा से वाहर लोटते होने से तथा अन्य द्रव्यों में आत्मा का व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से आत्मा ज्ञानावरणी कर्म का अथवा शरीरादि अन्य द्रव्यों का कार्य करने में असमर्थ है ॥३७॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ २६

(३८)

प्रश्न:– आत्मा के स्वभाव में दुःख है क्या ?

उत्तर:– नरक के नारकी को स्वर्ग के सुख की गन्ध नहीं, स्वर्ग के देव को नरक के दुःख की गन्ध नहीं, परमाणु में पीड़ा की गन्ध नहीं, सूर्य में अन्धकार की गन्ध नहीं और सुखस्वभाव में संसारदुःख की गन्ध नहीं ॥३८॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २७

(३९)

प्रश्नः– कृपया ज्ञाता-दृष्टापने का वास्तविक स्वरूप बतलाइये ?

उत्तरः– चेतना ही आत्मा का लक्षण है और चेतना ज्ञान-दर्शनमय है। पुण्य-पाप दोनों ही आत्मा के स्वभाव से भिन्न है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। पर के समक्ष देखते रहने मात्र का नाम ज्ञाता-दृष्टापना नहीं है, किन्तु अपने ज्ञायक-दर्शकस्वभाव को पहिचान कर उसमें स्थिर रहना ही ज्ञाता-दृष्टापना है। हमें तो ज्ञाता-दृष्टा रहकर पर का काम करना – यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है, क्योंकि आत्मा तो पर का कार्य कर ही नहीं सकता। ज्ञान-दर्शनस्वभाव द्वारा अपने आत्मा को जानकर उसमें स्थिर होना ही मोक्ष का निकट उपाय है ॥३९॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८४, पृष्ठ २६

सन्त निरन्तर चिन्तत ऐसे···

सन्त निरन्तर चिन्तत ऐसे, आतमरूप अबाधित ज्ञानी ॥टेक॥

रागादिक तो देहाश्रित हैं, इनतें होत न मेरी हानी।
दहन दहत ज्यो दहन न तदगत, गगन दहनता की विधि ठानी ॥१॥

वरणादिक विकार पुदगल के, इनमें नहिं चैतन्य निशानी।
यद्यपि एक क्षेत्र अवगाही, तद्यपि लक्षण भिन्न पिछानी ॥२॥

मैं सर्वाङ्ग पूर्ण ज्ञायक रस, लवण खिल्लवत लीला ठानी।
मिलौ निराकुल स्वाद न यावत, तावत परपरनति हित मानी ॥३॥

नित अकलंक अवंक शंक बिन, निर्मल पंक बिना जिमि पानी।
'भागचन्द' निरद्वन्द निरामय, मूरति निश्चय सिद्ध समानी ॥४॥

— कविवर पण्डित श्री भागचन्दजी छाजेड़

२

देव-शास्त्र-गुरु

(४०)

प्रश्न :– भगवान की मूर्ति तो जड़ है, फिर उसकी पूजा का उपदेश क्यों दिया जाता है ?

उत्तर :– अरे भाई ! अभी तू जड़-चेतन को समझ ही कहाँ पाया है ? तेरे स्त्री-पुत्रादि भी तो जड़ ही है, फिर उनसे राग क्यों करता है ? आत्मा स्त्री-पुत्रादिरूप नहीं है, तू उनके आत्मा को तो जानता नहीं, केवल शरीर में ही तू स्त्री-पुत्रादिपना मान बैठा है। यह शरीर तो जड़ है, फिर भी तू उससे राग करके पाप बाँधता है और जहाँ देव की बात आती है, वहाँ तू कहता है कि मूर्ति तो जड़ है; तब कहना होगा कि तुझे देव-गुरु की पहिचान ही नहीं है। भगवान के भक्त को प्रथम भूमिका में देव-शास्त्र-गुरु के प्रति शुभराग आए बिना नहीं रहता ॥१॥

– आत्मधर्म : मई १९८३, पृष्ठ २८

(४१)

प्रश्न :– जड़ मूर्ति को भगवान कैसे माना जाए ?

उत्तर :– साक्षात् जिनेन्द्र भगवान के अभाव में प्रतिमाजी में उनकी स्थापना की जाती है। स्थापना दो प्रकार की होती है – (१) सद्भावरूप स्थापना (२) असद्भावरूप स्थापना। जिनेन्द्रदेव के अनुसार उनकी मूर्ति में जिनेन्द्रदेव का आरोप करना सद्भावरूप स्थापना है और पुष्पादिक में स्थापना असद्भावरूप स्थापना है। इन्हें तदाकार और अतदाकार स्थापना भी कहते हैं। जिनदेव की प्रतिमा में जिनदेव की ही स्थापना होती है; इसलिए उस प्रतिमा पर कोई शृंगार आदिक नहीं हो सकता। वीत–

राग की प्रतिमा के वस्त्र नहीं हो सकते, माला नहीं हो सकती, मुकुट नहीं हो सकते, शस्त्र आदि राग-द्वेष के अन्य चिह्न भी नहीं हो सकते ॥२॥

– आत्मधर्म : मई १९८३, पृष्ठ २८

(४२)

प्रश्न :– सच्चे देव को देखे बिना उनका निश्चय कैसे किया जाए ?

उत्तर :– जैसे कोई आदमी किसी बन्द मकान में वीणा बजा रहा हो तो यद्यपि वह आँखों से दिखाई नहीं देता; किन्तु बाहर का आदमी उसकी वीणा बजाने की कला, पद्धति और स्वर इत्यादि से उस पुरुष को देखे बिना ही उसकी कला का निर्णय कर लेता है; उसीप्रकार शरीररूपी मकान में वाणीरूपी वीणा द्वारा भीतर स्थित आत्मा के सर्वज्ञ पद का निर्णय हो सकता है।

ज्ञान की वृद्धि और राग-द्वेष की हीनता के आधार पर भी सर्वज्ञता का निर्णय हो सकता है। एक आत्मा से दूसरे आत्मा में अधिक ज्ञान होता है और तीसरे आत्मा में उससे अधिक ज्ञान होता है – इसप्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि होते-होते किसी जीव के परिपूर्ण ज्ञान प्रकट होता है, वही सर्वज्ञ है। इसीप्रकार एक जीव के जितना राग-द्वेष होता है, दूसरे जीव को उससे भी थोड़ा होता है तथा तीसरे के उससे भी कम होता है – इसप्रकार कम करते-करते अन्त में किसी जीव के राग-द्वेष का सर्वथा अभाव भी होता है। जिस जीव के राग-द्वेष का सर्वथा अभाव होता है, उसके परिपूर्ण ज्ञान होता है और वह सर्वज्ञ कहलाता है।

इसप्रकार अपने ज्ञान में सर्वज्ञ के स्वरूप का निश्चय करके जो उन्हें देव के रूप में पूजता है, उनकी श्रद्धा करता है; वह अपनी भक्ति से भगवान को अपने आँगन में ले आता है अर्थात् वह स्वयं सत् के आँगन में पहुँच जाता है ॥३॥ – आत्मधर्म : मई १९८३, पृष्ठ २८-२९

(४३)

प्रश्न :– भगवान की भक्ति से रुपया-पैसा आदि लौकिक सुख की सामग्री मिलती है या नहीं ?

उत्तर :– जो रुपये-पैसे आदि की आशा से वीतराग भगवान की भक्ति करता है, वह व्यवहार से भी भगवान का भक्त नहीं है। यदि कोई लौकिक आशा से सच्चे देव-गुरु को मानता हो और कुदेवादि को नहीं

मानता हो तो भी वह पापी है। उसका गृहीत मिथ्यात्व भी छूटा हुआ नहीं कहा जा सकता। वीतरागी देव-गुरु तो धर्म को समझाने के लिए निमित्तमात्र हैं, उसकी जगह यदि कोई लौकिक आशा से उनको मानता है तो उसे पुण्य भी नहीं होगा; किन्तु पापवन्ध होगा, धर्म समझने की वात तो दूर ही रही ॥४॥ — आत्मधर्म : मई १९८३, पृष्ठ २९

(४४)

प्रश्न :— सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने से तो सम्यग्दर्शन तो हो जाएगा न ?

उत्तर :— जव सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान कर उनके लिए तन-मन-धन अर्पण करने की भावना आ जाए और कुगुरु-कुदेवादि में प्रवृत्ति न हो, तव गृहीत मिथ्यात्व छूटता है और जव उसे आत्मा की ऐसी श्रद्धा हो जाए कि देव-गुरु के प्रति होनेवाला राग भी पुण्यवन्ध का कारण है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; तव अगृहीत मिथ्यात्व भी छूट जाता है। अनादि के अगृहीत मिथ्यात्व के छूटने पर ही जिनेन्द्र भगवान का सच्चा भक्त होता है, सच्चा जैनपना प्रगट होता है ॥५॥

— आत्मधर्म : मई १९८३, पृष्ठ २९

(४५)

प्रश्न :— आप कहते हैं कि शुभभाव से धर्म नहीं होता; इसलिए हमें देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का उत्साह नहीं आता ?

उत्तर — यह ठीक है कि शुभराग से धर्म नहीं होता, किन्तु यह कहाँ कहा है कि शुभराग को छोड़कर अशुभराग करो? फिर तू स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी आदि के अशुभराग में रत क्यों रहता है ? इससे सिद्ध होता है कि तुझे निमित्त की परीक्षा करना नहीं आता। जिसे निमित्त की परीक्षा का भान नहीं है, वह अपने उपादानस्वरूप को कैसे पहिचानेगा ? भगवान अरहन्तदेव, सत्शास्त्र और नग्न दिगम्वर भावलिंगी सद्गुरु अपने सत्-स्वरूप को समझने में निमित्त हैं ॥६॥

— आत्मधर्म : मई १९८३, पृष्ठ २९

(४६)

प्रश्न :— आप तो व्यवहार को हेय कहते हैं, फिर अरहन्तादि की भक्ति का उपदेश क्यों देते हैं ?

उत्तर :– जो यह तो जानता नहीं कि निश्चय क्या है एवं व्यवहार क्या है ? और व्यवहारशुद्धि के विना मात्र निश्चयनय की ही बातें करता है, उसे निश्चयनय नहीं होता । जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के लिए तन-मन-धन अर्पण करने का भाव आता है, वह व्यवहार से अरहन्तादि का भक्त है । प्रशस्त शुभराग होने पर गृहीत मिथ्यात्व छूटता है और अन्तर्स्वभाव के वल से शुभराग से अपने को भिन्न जानकर शुद्धस्वभाव की श्रद्धा करने पर निश्चयसम्यक्त्व होता है ॥७॥

– आत्मधर्म : मई १९८३, पृष्ठ २९

(४७)

प्रश्न :– भगवान की व्यवहारभक्ति और निश्चयभक्ति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :– जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान होती है तथा उनके लिए सर्वस्व समर्पण का भाव होता है, वह व्यवहार से भगवान का भक्त कहलाता है । भगवान का व्यवहारभक्त वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु को छोड़कर कुगुरु-कुदेव आदि का समर्थन नहीं करता । सत्यमार्ग एक ही होता है, तीनलोक और तीनकाल में भी सत्यमार्ग दो नहीं होते । वीतरागदेव के अतिरिक्त अन्य देव को सच्चा माननेवाला वीतराग का भक्त नहीं है । सर्वज्ञदेव और कुदेवादि एक समान नहीं होते – ऐसी श्रद्धा होने पर सर्वज्ञ की व्यवहारश्रद्धा कहलाती है । कुछ लोग जैनधर्म व अन्य धर्मों का समन्वय करना चाहते हैं, किन्तु जैनधर्म व अन्य धर्मों का समन्वय कभी भी नहीं हो सकता । वीतराग के वाह्य या अन्तरंग स्वरूप को अन्यथा माननेवाला भगवान का व्यवहारभक्त भी नहीं है ।

जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की व्यवहारश्रद्धापूर्वक आनन्दघनस्वरूप निज आत्मा की श्रद्धा के वल से यह निर्णय करता है कि परपदार्थों के साथ मेरा कोई सम्वन्ध नहीं है, देव-शास्त्र-गुरु सम्वन्धी शुभराग भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं अखण्ड ज्ञायक हूँ; वही भगवान का निश्चयभक्त है । जिसे निश्चयभक्ति होती है, उसे व्यवहारभक्ति अवश्य होती है तथा उसे सच्चे देव-गुरु-धर्म के लिए उत्साहपूर्वक तन-मन-धन खर्च करने का भाव भी आए विना नहीं रहता ॥८॥   – आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ २६

(४८)

प्रश्न :– भगवान तो वीतरागी हैं, वे धन का क्या करेंगे ?

उत्तर :— भाई ! तुझे भगवान को कहाँ धन देना है ? भगवान के लिए कुछ नहीं करना है; किन्तु वीतरागता की रुचि बढ़ाकर देव-गुरु की प्रभावना के लिए खर्च करके तृष्णा कम करने के लिए कहा जाता है। यदि तुझे सत् की रुचि है, तो यह देख कि अन्य सार्धर्मियों को किस बात की प्रतिकूलता है ? और यदि किसी को शास्त्र आदि की आवश्यकता है तो उसकी पूर्ति के लिए अपने पद के अनुसार हिस्सा दे ।।६।।

— आत्मधर्म : जून १६८३, पृष्ठ २६

(४६)

प्रश्न :— ज्ञानी जीव भी भगवान के समक्ष भक्ति करते समय बोलते हैं कि हे नाथ ! भव-भव में आपका शरण प्राप्त हो। यदि भगवान का शरण न होता तो ज्ञानी जीव ऐसा कैसे बोलते ?

उत्तर :— भव-भव में भगवान का शरण प्राप्त हो — यह मात्र निमित्त के तरफ की भाषा है, ज्ञानी इस भाषा का कर्त्ता नहीं है। इस भाषा के समय ज्ञानी के अन्तर में ऐसा अभिप्राय होता है कि रागरहित चिदानन्द मेरा स्वरूप है। ऐसी श्रद्धा-ज्ञान के होने पर भी अभी पर्याय में राग है; अतः जबतक यह राग समाप्त न हो, तबतक अशुभराग तो हमें होवे ही नहीं और वीतरागता के निमित्त के प्रति ही लक्ष हो, वीतरागता का ही बहुमान हो, शुभराग टूटकर अशुभराग तो आवे ही नहीं। अब शुभराग लम्बे समय तक तो टिक नहीं सकता, अल्पकाल में ही वह पलटकर या तो वीतरागभावरूप हो जायेगा या अशुभभावरूप हो जायेगा।

'वीतराग का ही शरण हो' — इसमें ज्ञानी की ऐसी भावना है कि यह शुभ टूटकर अशुभ न हो, अपितु शुभ टूटकर वीतरागता ही हो। वीतराग के बहुमान का राग हुआ, उससमय भी लक्ष तो वीतराग की तरफ होता है; परन्तु वीतराग भगवान कहीं मुक्ति के दाता नहीं हैं, मैं अपनी शक्ति से ही राग तोड़कर भगवान बनूँगा। यदि आत्मा में ही भगवान बनने की शक्ति न हो तो भगवान कुछ भी देने में समर्थ नहीं हैं और यदि आत्मा में ही भगवान बनने की शक्ति है तो भगवान की अपेक्षा ही क्या ? वीतराग भगवान की प्रार्थना के शुभराग से तीन काल तीनलोक में धर्म नहीं होता। जिसे अपने स्वतः शुद्धस्वभाव का भान नहीं; वह अपने लिए देव-शास्त्र-गुरु का सहारा चाहता है और ऐसी मान्यतावाले को आचार्यदेव जीव कहते ही नहीं, वह तो जड़ जैसा है — मूढ़ है, उसे चैतन्यतत्त्व का

भान नहीं है। जैसे शरीर में फोड़ा निकला हो; उसे जो रोगरूप समझे, उसका ही आपरेशन होगा। उसी प्रकार जो जीव शुद्धचैतन्यस्वरूप को जाने तथा हिंसादि और दयादि के अशुभभावों से स्वरूप को भिन्न जाने, वही जीव विकारीभावों का अभाव करने पर प्रयत्न करके मुक्ति प्राप्त करेगा। जो अपने निरुपाधि शुद्धस्वरूप को पहिचानेगा ही नहीं, वह जीव शुभाशुभाभावों को छोड़ेगा नहीं और उसकी मुक्ति भी नहीं होगी ॥१०॥

— आत्मधर्म : जनवरी १९८३, पृष्ठ २३

(५०)

प्रश्न : — भेदभक्ति और अभेदभक्ति अथवा व्यवहारभक्ति और निश्चयभक्ति का स्वरूप क्या हैं एवं उसका फल क्या है ?

उत्तर :— परमात्मा के स्वरूप का विचार करना भेदभक्ति है, वह प्रथम होती है। ऐसी भेदभक्ति को जानने के पश्चात् ऐसा ही परमात्मा मैं हूँ, आत्मा में ही परमात्मा होने की शक्ति है' — इस प्रकार अपने आत्मा को पहिचानकर उसमें स्थिर होना, वह परमार्थभक्ति अथवा अभेदभक्ति अथवा निश्चयभक्ति है। अभेद आत्मा की तरफ बढ़ने के लक्षपूर्वक भेद-भक्ति होती है, वह व्यवहार कहलाती है। रागरहित ज्ञानस्वरूपी आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करके उसके ध्यान में एकाग्रतारूप अभेदभक्ति तो मोक्ष-फलदायक है, इसके विपरीत भेदभक्ति बंधफलदायक है ॥११॥

— आत्मधर्म : अक्तूबर १९८२, पृष्ठ २४

(५१)

प्रश्न :— अभेदभक्ति कितने प्रकार की होती है ? क्या सभी प्रकार की भक्ति स्त्रियों को हो सकती है ?

उत्तर :— अभेदभक्ति दो प्रकार की होती है :— (१) शुक्लध्यान (२) धर्मध्यान। यद्यपि कहने में तो दोनों जुदा (भिन्न) लगते हैं; परन्तु इन दोनों के अवलम्बनस्वरूप आत्मा एक ही है, इसलिए ये दोनों एक ही जाति के हैं, मात्र निर्मलता की अधिकता और हीनता का ही अन्तर है। आत्मस्वभाव के भान द्वारा धर्मध्यान स्त्रियों को भी हो सकता है, परन्तु उसे शुक्लध्यान नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मध्यान की अपेक्षा शुक्लध्यान विशेष निर्मल है और ऐसी विशेष निर्मलता स्त्रीपर्याय में स्वाभाविकरूप से सम्भव नहीं है ॥१२॥   — आत्मधर्म : अक्टूबर १९८२, पृष्ठ २४

(५२)

प्रश्न :– कोई किसी का बहुमान नहीं कर सकता – ऐसा मानने में तो तीर्थंकर का अविनय हो जावेगा ?

उत्तर :– तीर्थंकर का अविनय किसे कहते हैं ? तीर्थंकर भगवान तो वीतराग हैं। वास्तव में राग से उनका विनय नहीं होता। जैसा तीर्थंकर प्रभु ने स्वयं किया और कहा, वैसा ही समझना और भगवान चैतन्य-ज्योति का बहुमान करके उसमें ठहरना – यही तीर्थंकर का सच्चा विनय है। सत् समझने से विनय का अभाव नहीं होता, अपितु सत् की सच्ची भक्ति और सच्चा विनय होता है।

पहले अज्ञानदशा में कुदेवादि के समक्ष मस्तक झुकाता रहा। अब सच्ची समझ होने पर जबतक स्वयं वीतराग नहीं हो जाता, तबतक बीच में सत् निमित्तों का विनय, भक्ति, बहुमान आए बिना रहता नहीं; परन्तु वहाँ भी परमार्थ से पर का बहुमान नहीं, अपने भाव का ही बहुमान है। ज्ञानी तो अपने स्वभाव को ही सर्वोत्कृष्ट जानकर उसी का आदर करते हैं, क्योंकि स्वभाव के आदर में ही तीर्थंकर का सच्चा विनय समाहित है ॥१३॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९८२, पृष्ठ २६

(५३)

प्रश्न :– श्री परमात्मप्रकाश ग्रन्थ की पन्द्रहवीं गाथा में कहा है कि भावकर्म, द्रव्यकर्म और देहादिक सर्व परद्रव्यों को छोड़कर केवलज्ञानमय परमात्मपना प्राप्त किया; अतः यहाँ प्रश्न है कि अरिहन्तदेव ने भावकर्म, द्रव्यकर्म का अभाव किया - यह तो ठीक; परन्तु उनके देहादिक का भी अभाव हो गया – ऐसा कैसे कहा ? शरीर का संयोग तो उनके अभी मौजूद है ?

उत्तर :– शरीरादि तो तीनों काल आत्मा से भिन्न ही हैं; परन्तु पहले उनके प्रति मोह और राग-द्वेष था, उस मोह और राग-द्वेष का अभाव हो गया; इसलिए शरीरादि का भी अभाव हो गया – ऐसा कहने में आया है ॥१४॥

– आत्मधर्म : मार्च १९८३, पृष्ठ २५

(५४)

प्रश्न :– शास्त्रपठन का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर :– शास्त्रों का तात्पर्य तो भिन्नवस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा बतलाना है। ऐसे आत्मा का ज्ञान होना ही शास्त्र पढ़ने का तात्पर्य है। जो जीव ऐसे आत्मा को नहीं जानते, उन्होंने वास्तव में शास्त्र पढ़ा ही नहीं। ज्ञानस्वभावी आत्मा राग से भी भिन्न है – ऐसा बतलाकर शास्त्र ज्ञानस्वभाव का ही अवलम्बन कराते हैं और राग का अवलम्बन छुड़ाते हैं - यही शास्त्र का तात्पर्य है, यही शास्त्र पढ़ने का गुण है। जिसके भिन्न-वस्तुभूत शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मा के ज्ञान का अभाव है, उसको शास्त्र के पठन के फल का भी अभाव है अर्थात् वह अज्ञानी है; अतः राग से पार शुद्ध ज्ञानमय आत्मा का स्वरूप जानकर उसका आश्रय करना योग्य है ॥१५॥ —आत्मधर्म : जून १६८०, पृष्ठ २८

(५५)

प्रश्न :– क्या शास्त्रों का अर्थ भी अनेक तरह से किया जाता है ?

उत्तर :– अक्षरार्थ, भावार्थ आदि पाँच प्रकार से शास्त्रों का अर्थ करने को आचार्यदेव ने कहा है।

जैसे :– ज्ञानावरणी कर्म से ज्ञान रुकता है – यह तो अक्षरार्थ हुआ। ज्ञानवरणी कर्म से ज्ञान नहीं रुकता, परन्तु अपने ही कारण ज्ञान अल्प (हीन) हुआ है – यह भावार्थ हुआ। पर के कारण ज्ञान अल्प हुआ है – ऐसा माननेवाले की तो दृष्टि ही मिथ्या है। परन्तु ज्ञान अपने ही कारण हीन है – ऐसा जानना सत्य है। ऐसा जानकर भी हीन पर्याय का लक्ष छोड़कर त्रिकाली ध्रुव चैतन्यसामान्य का लक्ष करना भावार्थ है। यही जानने का प्रयोजन है।

नियमसार में आत्मा को चार भावों से अगोचर कहा है अर्थात् क्षायिक भाव से आत्मा जानने में नहीं आता – यह अक्षरार्थ है। यह अक्षरार्थ भी भावार्थ से ही सफल है। उसका भावार्थ यह है कि क्षायिक भाव के आश्रय से आत्मा ज्ञात नहीं होता, इसलिए आश्रय की अपेक्षा से क्षायिक भाव से अगोचर कहा है। आत्मा को जाननेवाली तो निर्मल पर्याय ही है, तथापि उसके आश्रय से त्रिकाली आत्मा जानने में नहीं आता।

नियमसार (भक्ति अधिकार) में दर्शन-ज्ञान-चरित्र के परिणाम का भजन वह भक्ति है – ऐसा कहा है, वह व्यवहारनय से कहा है; परन्तु उसका भावार्थ' धर्मी जीव ध्रुव आत्मा की ही भक्ति-सेवा-उपासना करता

है' – ऐसा समझना। समयसार की १६वीं गाथा में कहा है कि दर्शन-ज्ञान-चरित्र सदा सेवन करने योग्य हैं। वह व्यवहार से समझाया है, परमार्थ में तो एकरूप ध्रुव आत्मा का ही सेवन करना है। व्यवहार से समझाया जाता है, तथापि समझाने और समझनेवाले को व्यवहार में स्थित नहीं रहना है। समयसार की ८वीं गाथा की टीका में भी ऐसा ही कहा है कि "................व्यवहारनय भी म्लेच्छ भाषा के स्थान में होने के कारण परमार्थ का प्रतिपादक (कहनेवाला) होने से स्थापन करने योग्य है; तथापि 'ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं होना' – इस वचन से वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है।" जहाँ-जहाँ शुद्ध पर्याय की सेवा करने को – ध्यान करने को कहा है, वहाँ-वहाँ उसे समझाने की एक प्रकार की शैली के कथन समझना चाहिए। निर्मल पर्याय प्रकट होती है – इस अपेक्षा से कहा है – ऐसा समझना।

समयसार की ६वीं गाथा की टीका में कहा है कि आत्मा अन्य द्रव्य-भावों से भिन्नरूप उपासना किये जाने से 'शुद्ध' कहलाता है; वहाँ ऐसा समझना चाहिए कि अन्यद्रव्य से लक्ष छूटता है और स्वद्रव्य पर लक्ष जाता है, तब पर्याय भी गौण हो जाती है और अकेले ध्रुव द्रव्य-स्वभाव पर लक्ष जाता है – यही द्रव्य की सेवा कही जाती है ॥१६॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९७७, पृष्ठ २६

(५६)

प्रश्न :– जिनवाणी सुनने से ज्ञान होता है और पुण्यबन्ध होता है, उससे पैसा भी मिलता है – यह तो दोनों प्रकार से लाभ हुआ ?

उत्तर :– सुनने के राग से ज्ञान नहीं होता, केवल पुण्य ही होता है ॥१७॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ २४

(५७)

प्रश्न :– सुनने से थोड़ी-थोड़ी जानकारी तो होती है न ?

उत्तर :– यह जानकारी वास्तव में जानकारी नहीं, यथार्थ में वास्तविक जानकारी तो स्वसन्मुख हो, तब ही कही जाती है ॥१८॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ २४

(५८)

प्रश्न :– ज्ञान में धारणारूप जानकारी तो होती है ?

उत्तर :– धारणारूप जानकारी होती है, लेकिन यथार्थ जानकारी तो सीधा स्वसन्मुख अन्तर आ जाए, तव होती है। भगवान आत्मा को राग से लाभ मानना तो कलंक है ॥१६॥

– आत्मधर्म : सितम्वर १६७६, पृष्ठ २४

(५६)

प्रश्न :– शास्त्रों में कहीं तो परीक्षाप्रधानी वनने के लिए कहा है और कहीं आज्ञानुसारी रहने का निर्देश दिया है। परीक्षा किये विना निर्णय होता नहीं; अव हमें क्या करना ?

उत्तर :– परीक्षा तो करना, परन्तु जिन-आज्ञा को मुख्य रखकर करना। सर्वज्ञ की आज्ञा मानकर परीक्षा करना; अकेली परीक्षा करने जाओगे तो भ्रष्ट हो जाओगे। जिनशासन में कथित पदार्थों के स्वभाव की गम्भीरता, क्षेत्रस्वभाव की गम्भीरता, कालस्वभाव की गम्भीरता, अनन्त भावों के स्वभाव की गम्भीरता – इन सूक्ष्मस्वभावी पदार्थों को जिन-आज्ञा से प्रमाण करना।

अल्पबुद्धि का धारक जीव अकेली परीक्षा करने जायेगा तो जिनमत से च्युत हो जाने का वड़ा दोष होगा। जिन-आज्ञा को मुख्य रखकर वने जितनी अर्थात् जितनी हो सके, उतनी परीक्षा करने में दोष नहीं है। अकेली आज्ञा से ही माने और परीक्षा करे ही नहीं तो भी निर्णय सच्चा नहीं हो सकता और सच्चा निर्णय हुए विना किसी अन्य के द्वारा की गई कुतर्कपूर्ण वार्ता सुनकर श्रद्धान वदल भी सकता है, इसलिए परीक्षा करके निर्णय तो अवश्य करना; परन्तु जिन-आज्ञा को मुख्य रखकर परीक्षा करना योग्य है ॥२०॥

– आत्मधर्म : सितम्वर १६७६, पृष्ठ २८

(६०)

प्रश्न :– सभी शास्त्रों का सार स्वसन्मुख होना ही कहा है तो शास्त्रों को पढ़ने की क्या आवश्यकता ? हमें तो स्वसन्मुख होने का ही प्रयत्न करना चाहिए।

उत्तर :– स्वसन्मुख होने का ही प्रयत्न करना है; परन्तु जवतक स्वसन्मुख न हो पाता हो और अनेक प्रकार से अटक जाने की शल्य पड़ी

हो, तब तक शास्त्र-वाँचन का विकल्प आता है, आये विना रहता नहीं तथा शास्त्र भी तो स्वसन्मुख होने के लिए ही कहते हैं ॥२१॥

– आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २३–२४

(६१)

प्रश्न :– बुद्धिपूर्वक तत्त्वाभ्यास करने पर भी किसी को सम्यग्दर्शन होता है, किसी को नहीं – ऐसा क्यों ?

उत्तर :– जो जीव तत्त्वनिर्णय का यथार्थ अभ्यास करते हैं, उन्हें तो सम्यग्दर्शन होता ही है; किन्तु जो जीव तत्त्व का अभ्यास करने पर भी किसी न किसी स्थान पर अटक जाते हैं, उन्हें सम्यग्दर्शन नहीं होता। शास्त्रानुसार अभ्यास कर लेने पर भी अटकने के अनेक स्थान हैं, उनमें से कहीं भी अटक जाय तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। चढ़ने का एक ही प्रकार है। जो रुचिपूर्वक सच्चा प्रयत्न करता है, उसके ढ़ीले पड़ने की वात ही नहीं; उसका वल तो इतना प्रवल होता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करके ही रहता है। एक कथानक आता है कि एक वार अनेक जहाज समुद्र में डूव गए, केवल एक जहाज बच गया; तव किसी पुण्यवान ने कहा कि यह वचनेवाला जहाज ही मेरा है, मेरा जहाज डूव नहीं सकता। इसीप्रकार 'जो तिरनेवाले जीव हैं, उनमें मैं ही हूँ' – ऐसा पात्र जीव को अन्दर से लगता है ॥२२॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २४

(६२)

प्रश्न :– तत्त्व का निर्णय करने में कितने वर्ष लगते होंगे ?

उत्तर :– कार्य हो जाय तो अन्तर्मुहूर्त्त में ही हो जाय, अन्यथा पूरा जीवन ही निर्णय करने में व्यतीत हो जाय। इसमें काल का कोई प्रश्न ही कहाँ है ? वीर्य को विपरीत परिणमन से अवरुद्ध करके स्वरूपसन्मुख करे तो कार्य हुए विना रहे नहीं। जितना कारण उपस्थित करना चाहिए; उतना जव तक नहीं जुटावे, तव तक कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता ॥२३॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७९, पृष्ठ २७

(६३)

प्रश्न :– जो शास्त्रों का जानकार है, वह तो मुक्ति पायेगा ही ?

उत्तर :– जो जीव आत्मज्ञान से शून्य है, वीतरागी ज्ञान रहित है; उस जीव को वाह्य पदार्थों से कुछ भी सिद्धि नहीं होती, उसका शास्त्र-ज्ञान भी किसी काम का नहीं। स्वसंवेदन ज्ञान से रहित व्रत-तप आदि जीव को

दुःख के कारण होते हैं। आनन्द सहित ज्ञान ही निज आत्मज्ञान है और वही ज्ञान वर्तमान सुख का कारण है, मोक्षसिद्धि का कारण है। शास्त्र-ज्ञान, व्रत-तप आदि के जो शुभ विकल्प हैं; वे सभी उसी क्षण – तत्काल दुःखरूप हैं और भावी दुःख के कारण हैं तथा स्वसंवेदन ज्ञान तो वर्तमान सुखरूप है और भावी सुख का भी कारण है; इसलिए समस्त महिमा स्वसंवेदन ज्ञान की ही है ॥२४॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७८, पृष्ठ २५

(६४)

प्रश्न :– शास्त्र द्वारा आत्मा का ज्ञान होता है या नहीं ?

उत्तर :– शास्त्र द्वारा आत्मा का ज्ञान नहीं होता। दिव्यध्वनि से भी आत्मा जानने में नहीं आता – ऐसा परमात्मप्रकाश में कहा है न ! आत्मा तो अपने से ही अपने द्वारा जानने में आता है, तब शास्त्र को निमित्त कहा जाता है। प्रवचनसार में आता है कि आत्मा के लक्ष्य से शास्त्राभ्यास करो; वहाँ तो निमित्त बतलाया है। शास्त्र-पठन का गुण भिन्नवस्तुभूत आत्मा का ज्ञान करना है। ज्ञानमय आत्मा का अनुभव करना ही शास्त्र-पठन का गुण है, अज्ञानी उसे तो जानता नहीं और मात्र शास्त्र पढ़ता है। परन्तु निज परमात्मा को जाने बिना कर्मबन्धन से छुटकारा मिलनेवाला नहीं। दया, दान, पूजा, व्रत, तप आदि शुभराग तो दूर रहो; किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि अकेले शास्त्र-पठन में ही रुक गया और सब कण्ठस्थ कर डाला, तो इससे भी क्या लाभ हुआ ? ॥२५॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७८, पृष्ठ २५

(६५)

प्रश्न :– शास्त्र पढ़ने से आत्मा की सन्मुखता तो कही जाती है न ?

उत्तर :– आत्मा में जाने का प्रयत्न करे तो आत्मा की सन्मुखता कही जाय। यदि मात्र शास्त्र के ज्ञान में ही रुका रहे और अन्तर निर्विकल्प स्वभाव में जाने, का प्रयत्न न करे, तब तो वह आत्मसन्मुख भी नहीं कहा जा सकता ॥२६॥ – आत्मधर्म : नवम्बर १९७८, पृष्ठ २५

(६६)

प्रश्न :– एक तरफ तो कहते हो कि शास्त्र पढ़ना चाहिए और दूसरी तरफ कहते हो कि शास्त्र पढ़ने में रुक जाय तो भी आत्मा जानने में नहीं आता – ऐसा क्यों ?

उत्तर :– जो जीव व्यापार आदि के अशुभभाव में ही रुक गये हैं और आत्मज्ञान होने में निमित्त ऐसे शास्त्राभ्यास का भी जिनको समय नहीं, उनसे कहते हैं कि हे भाई ! तू शास्त्र-अभ्यास कर ! किन्तु जो जीव शास्त्राभ्यास करता हुआ भी मात्र उसी में रुक जाय और आत्म-सन्मुख होने का प्रयत्न न करे तो उससे कहते हैं कि हे भाई ! शास्त्र-पठन का गुण तो अन्तर्मुख होकर अनुभव करना है, उस निर्विकल्प अनुभव का प्रयत्न करते नहीं तो तुम्हारा वह शास्त्र-पठन किस काम का ? क्योंकि शास्त्र पढ़ने का हेतु – प्रयोजन तो आत्मज्ञान प्रगट करना ही है। शास्त्र-बाँचन और शास्त्र-श्रवण में द्रव्य-सन्मुख होने की जोरदार बात पढ़ते और सुनते ही उसकी धुन चढ़ जाना चाहिये, वह न हो तो सब श्रम व्यर्थ है ॥२७॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७८, पृष्ठ २५–२६

(६७)

प्रश्न :– शास्त्र द्वारा आत्मा को जाना और बाद में परिणाम आत्मा में मग्न हुए – इन दोनों में आत्मा के जानने में क्या अन्तर है ?

उत्तर :– अनन्तगुणा अन्तर है। शास्त्र से जानपना किया – यह तो साधारण धारणारूप जानपना है और आत्मा में मग्न होकर अनुभव से जानना – यह प्रत्यक्ष वेदन से जानपना है। अतः इनमें भारी अन्तर है ॥२८॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(६८)

प्रश्न :– समयसार जैसे महान अध्यात्मशास्त्र को पढ़-सुनकर भी लोग आगे क्यों नहीं बढ़ते ?

उत्तर :– क्रियाकाण्ड की दृष्टिवाले को ऐसा लगता हैं कि अमुक व्यक्ति समयसार सुनता है, फिर भी आगे नहीं बढ़ता। कुछ बाह्य त्याग, तप, व्रतादिक क्रियायें करे तो ही उसे आगे बढ़ा हुआ दिखाई पड़ता है; किन्तु भाई ! समयसार का पठन, मनन, श्रवण करके परद्रव्य की भिन्नता, परद्रव्य का अकर्तृत्व, रागादि भावों में हेयबुद्धि और अन्तर में विराजित परमात्मशक्ति का उपादेयपना निरन्तर उसकी श्रद्धा-ज्ञान में चल रहा है और उससे जो पर्याय में सुधार हुआ है, वह क्या आगे बढ़ना नहीं है ? अन्दर में श्रद्धा-ज्ञान में सत्य के संस्कार पड़ते हैं, वही आगे बढ़ना है। श्रद्धा-ज्ञान को सम्यक् किये बिना जो त्याग-व्रतादि किया जाता है, उसके सम्बन्ध में आत्मानुशासनकार श्री गुणभद्राचार्य तो कहते हैं कि आत्मभान

रहित जो भी वाह्य तपादि है, वह सब अज्ञानी का बालतप है। अन्तरंग मिथ्यात्व के त्याग बिना वाह्य त्याग को सच्चा त्याग नहीं कहते। अन्दर में श्रद्धा-ज्ञान-स्वरूपाचरणचारित्र में जो सुधार होता है, वही सच्चा सुधार है और वही आगे बढ़ना है; परन्तु वाह्यदृष्टिवन्त को वह दृष्टिगोचर नहीं होता ॥२९॥ — आत्मधर्म : दिसम्बर १९७९, पृष्ठ २३

(६९)

प्रश्न :— मात्र द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से क्या निश्चयाभासी हो जाते हैं ?

उत्तर :— नहीं, द्रव्यानुयोग के अभ्यास से निश्चयाभासी नहीं होते; पर व्यवहार है ही नहीं, ऐसा निषेध करने से निश्चयाभासी होते हैं। इसीलिए कहा है कि जिसे निश्चय का अतिरेक हो, उसे व्यवहार ग्रहण करना और जिसे व्यवहार का अतिरेक हो, उसे निश्चय ग्रहण करना चाहिए ॥३०॥ — आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २४

(७०)

प्रश्न :— जो मुनि आहारक शरीर प्रकृति बाँधे, उसके वह उदय में आवे ही आवे — ऐसा कोई नियम है ?

उत्तर :— नहीं, कोई आहारक शरीर नामकर्म बाँधे, परन्तु उसके उदय का अर्थात् आहारक शरीर की रचना का प्रसंग कभी भी न आवे, बीच में ही उस प्रकृति का छेद करके मोक्ष प्राप्त कर ले; परन्तु तीर्थंकर नामकर्म में ऐसा नहीं बनता, वह तो जिसके बँधता है उसके नियम से उदय होता है। आहारक शरीर की प्रकृति सातवें या आठवें गुणस्थान में बँधती है, किन्तु उदय छठे गुणस्थान में होता है। कोई जीव क्षपक श्रेणी माँडते समय आहारक शरीर प्रकृति बाँधे और सीधा केवलज्ञान प्राप्त कर ले तो छठे गुणस्थान में वापस गिरने का और आहारक शरीर की रचना का प्रसंग ही नहीं बनेगा। छठे गुणस्थान में आहारक शरीर की रचनावाले मुनिवर एक साथ अधिक से अधिक ५४ ही होते हैं ॥३१॥

— आत्मधर्म : अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २३-२४

(७१)

प्रश्न :— ग्यारह अंगधारी द्रव्यलिंगी मुनि की क्या भूल रह जाती है ?

उत्तर :– वह स्वसन्मुख दृष्टि नहीं करता, अतिन्द्रिय प्रभु के सन्मुख दृष्टि नहीं करता ।।३२।।   –आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(७२)

प्रश्न :– क्या द्रव्यलिंगी मुनि स्वसन्मुखता का प्रयत्न करता ही नहीं ?

उत्तर :– नहीं, उसके धारणा में सब बातें आती हैं, किन्तु अन्तर्मुख प्रयत्न नहीं हो पाता ।।३३।।   – आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(७३)

प्रश्न :– द्रव्यलिंगी की भूमिका की अपेक्षा सम्यक्त्वसन्मुख की भूमिका कुछ ठीक है क्या ?

उत्तर :– हाँ, द्रव्यलिंगी तो सन्तोषित हो गया है और सम्यक्त्व–सन्मुखता वाला तो प्रयत्न करता है ।।३४।।

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(७४)

प्रश्न :– मुनि को आहार की वृत्ति उठने पर भी मुनिदशा रहती है, तो फिर वस्त्र रखने की वृत्ति उठे तो उसमें क्या दोष है ?

उत्तर :– मुनि को संयम के हेतु शरीर के निभाव के लिए आहार की वृत्ति उठती है और वस्त्र रखने का भाव तो शरीर से ममत्व का प्रतीक है; अतः वस्त्र रखने की वृत्ति रहते हुए मुनिदशा नहीं रहती ।।३५।।

– आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २४

(७५)

प्रश्न :– क्या द्रव्यलिंगी शुद्धात्मा का चिन्तवन नहीं करता ?

उत्तर :– शुद्धात्मा का चिन्तवन तो करता है, परन्तु आत्ममय होकर नहीं करता – ऐसा जानना ।।३६।।

– आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २२

(७६)

प्रश्न :– द्रव्यलिंगी इतनी कठोर क्रियायें करता है, शास्त्राध्ययन भी गंभीर करता है, तथापि इन सबको स्थूल क्यों कहा ?

उत्तर :– द्रव्यलिंगी क्षयोपशम की धारणा से और बाह्यत्याग से

यह सव-कुछ करता है। वाह्य में उसके वैराग्य भी विशेष दिखलाई पड़ता है। हजारों रानियाँ और महान वैभव-राजपाट भी उसने छोड़ दिया है, फिर भी उसका वैराग्य सच्चा नहीं है। पुण्य-पाप के परिणाम से अन्तरंग में विरक्ति उसके हुई नहीं है। स्वभाव महाप्रभु है, अनन्तानन्त गुणों का समुद्र आनन्द से परिपूर्ण है, उसकी महिमा अभी तक उसे अन्दर से आई नहीं है। ॥३७॥ — आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २२

(७७)

प्रश्न :— द्रव्यलिंगी को शुभ में ही रुचि है या अशुभ में भी ?

उत्तर :— द्रव्यलिंगी को शुभ में रुचि है ॥३८॥

— आत्मधर्म : अगस्त १९७८, पृष्ठ २५

(७८)

प्रश्न :— काया और कषाय में एकत्व है, उसका विचार उसको आता है या नहीं ?

उत्तर :— उसका विचार उसको नहीं आता ॥३९॥

— आत्मधर्म : अगस्त १९७८ पृष्ठ २५

(७९)

प्रश्न :— तो धारणाज्ञान भी उसको सच्चा नहीं हुआ ?

उत्तर :— तत्त्वों के जानपने का धारणाज्ञान तो सच्चा है; परन्तु स्वयं वहाँ अटकता है, वह उसकी पकड़ में नहीं आता। कषाय की विशेष मन्दता है, उसी में स्वानुभव मानता है ॥४०॥

— आत्मधर्म : अगस्त १९७८, पृष्ठ २५

(८०)

प्रश्न :— समयसार गाथा ३ में कहा है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। अतः जीव शरीर को तथा एक शरीर अन्य शरीर को स्पर्श नहीं करता। जीव भोजन नहीं कर सकता, बोल नहीं सकता, अन्य पदार्थों को चुरा नहीं सकता, धन-धान्यादि ग्रहण नहीं कर सकता, तो मुनिराज हिंसादि पापों का त्याग क्यों करते हैं ?

उत्तर :— एक द्रव्य अन्य द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, यह तो महा सिद्धान्त है, ऐसा ही वस्तुस्वरूप है। परद्रव्य की क्रिया से जीव को बन्ध होता ही नहीं, परन्तु परद्रव्य के लक्ष से होनेवाले रागादिभाव जीव को

बन्ध के कारण होने से मुनिराज अपने हिंसादि पाप भावों को त्याग करते हैं, अतः पाप भावों के त्याग के निमित्तभूत बाह्य हिंसादि परद्रव्यों की क्रिया का त्याग किया – ऐसा उपचार से कहा जाता है ॥४१॥

– आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २२

(८१)

प्रश्न :– ज्ञान रहित वैराग्य तो रुँधा हुआ कषाय है ?

उत्तर :– हाँ, आत्मा के ज्ञान-भान रहित कषाय की मन्दता के वैराग्यरूप परिणाम में कषाय दबा हुआ है, कषाय टला नहीं है। जब यह दबा हुआ – रुँधा हुआ कषाय प्रस्फुटित होगा, तभी नरक-निगोद में चला जायेगा। भले ही बाह्य में राजपाट-स्त्री-पुत्रादि छोड़े हों; तथापि आत्मभान बिना कषाय टलता नहीं, दबता है; और कालक्रम से प्रस्फुटित होकर तीव्रकषाय के रूप में प्रगट होता है ॥४२॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २४

(८२)

प्रश्न :– भावलिंगी मुनि का लक्षण क्या है ?

उत्तर :– अन्तर्मुहूर्त्त में छठेसातवें गुणस्थान में आता-जाता रहे वही लक्षण भावलिंगी मुनि का है। छठे गुणस्थान में भी अन्दर शुद्ध-परिणति रहती है, वही भावलिंगीपना है। मुनिदशा में तो आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन होता है। चतुर्थ-पंचम गुणस्थान में भी आनन्द का वेदन होता है, किन्तु अल्प होता है। जबकि भावलिंगी मुनि के प्रचुर होता है। ४३॥

– आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २३

(८३)

प्रश्न :– भावलिंगी मुनि को छठे गुणस्थान में शुभभाव आता है। क्या वह भी मोक्षमार्ग है ? क्या उसे वह श्रेयस्कर-सुखकर लगता है ? यदि नहीं तो क्यों ?

उत्तर :– भावलिंगी मुनि को छठे गुणस्थान में महाव्रतादि का शुभ-राग आता है – वह प्रमाद है, शास्त्र में उसे जगपंथ कहा है; वह मोक्षपंथ – मोक्षमार्ग नहीं है। स्वरूप में ठहर जाना ही मुनिदशा है, उसमें से निकल कर शुभराग में आना मुनि को सुहाता नहीं है। जिसप्रकार चक्रवर्त्ती को अपने सुखदायी महल में से बाहर आना रुचता नहीं है; उसीप्रकार चैतन्य-

महल में जो विश्रान्ति से बैठा है उसे वहाँ से बाहर निकलना पसन्द नहीं आता। अशुभराग तो पापरूप जहर है ही, परन्तु शुभराग भी दुःखरूप बंधन है।

आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द की मूर्ति है,। जिसे ऐसे निजस्वरूप की पहिचान हुई है, उसे फिर स्वरूप से बाहर निकलने की इच्छा नहीं होती। जिसकी ९६ हजार रानियाँ, ९६ करोड़ ग्राम और १६ हजार देव सेवा करने वाले हों, ऐसे बाह्य वैभव में रहनेवाला चक्रवर्ती उस वैभव को मल के समान क्षणमात्र में त्यागकर आनन्द का उग्र स्वाद लेने के लिए वन में चला जाता है। इस अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र – प्रचुर स्वाद लेने वाले को शुभरागरूपी आकुलता में आना कठिन लगता है, भारस्वरूप लगता है,, बाहर आना रुचता नहीं। शास्त्र-रचना अथवा उपदेश देने का विकल्प आता तो है, परन्तु रंचमात्र भी उसे श्रेयस्कर नहीं मानता – हेय ही मानता है ॥४४॥ –आत्मधर्म : मार्च १९८० ,पृष्ठ २३

(८४)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् साधुपने के लिए व्रतादि तो करने पड़ेंगे न ?

उत्तर :– भाई ! साधुपना कहीं बाहर से अथवा व्रतादि के विकल्पों से आता नहीं है; अतीन्द्रिय आनन्द की जमावट हो वह साधुपना है। आनन्द की उग्र जमावट होने पर व्रतादि के विकल्प भी सहज ही होते हैं, किन्तु अन्तर में स्थिरता का होना ही साधुपना है ॥४५॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ २६

(८५)

प्रश्न :– महाव्रत के भाव भले ही बन्ध के कारण हों, परन्तु मुनिराज के वे सहज आते हैं, फिर उनका निषेध कैसे ?

उत्तर : – महाव्रत के भाव मुनिराज को भले ही सहज आते हों, तथापि वे निषेधने योग्य ही हैं ॥४६॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २६

(८६)

प्रश्न :– महाव्रत तो महापुरुष पालन करते हैं, इसीलिए उन्हें महाव्रत कहते हैं, उनका निषेध कैसे होगा ?

उत्तर :— महापुरुष अन्तरस्वरूप में स्थिर हुए हैं, उसके साथ व्रत के परिणाम आते हैं, इसलिए उन्हें महाव्रत कहते हैं, परन्तु हैं तो वे बन्ध के ही कारण; अतः उनका निषेध किया गया है। समयसार कलश के श्लोक नं० १०८ की टीका में कहा है कि ······ व्यवहारचारित्र होता हुआ दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है; अतः विषय-कषाय के समान क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है ॥४७॥ — आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २६

(८७)

प्रश्न :— मुनिपने में व्रत-तप-शीलादि आचरण करना कहा है। जो कर सकते हैं, उसे तो बन्धनरूप और संसार का कारण कहा, तो फिर मुनियों को शरण किसका रहा ? मुनिपना किसके आश्रय पलेगा ?

उत्तर :— व्रत-तपशीलादि शुभाचरणरूप कर्म का निषेध करते हुये, निष्कर्म अवस्थारूप प्रवर्त्तते हुए, मुनि कहीं अशरणरूप नहीं हैं; ज्ञानस्वरूप में आचरण करने वाले मुनि को ज्ञान ही शरणरूप है। ज्ञान का शरण लेते हुए मुनिराज परम अमृत का आस्वादन करते हैं, अतः शुभाचरण के निषेधक मुनियों को ज्ञान ही परम शरणरूप है ॥४८॥

— आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २७

(८८)

प्रश्न :— श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भी तो महाव्रतों को पाला था ?

उत्तर :— श्री कुन्कुन्दाचार्यदेव ने महाव्रतों को पाला नहीं था, किन्तु महाव्रतों के विकल्प आये थे उन्हें जाना था, उन विकल्पों का उनके स्वामित्व नहीं था, उन्हें अपनत्वपने जानते नहीं थे, मात्र परयज्ञेपने जानते थे ॥४९॥ — आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २७

(८९)

प्रश्न :— शास्त्र में कहीं-कहीं अरिहन्त के आत्मा से भी निज-शुद्धात्मा को श्रेष्ठ कहा है, वह कैसे ? अपनी तो अपूर्ण अवस्था है, वह उनकी पूर्णावस्था से भी श्रेष्ठ कैसे ?

उत्तर :— निज शुद्धात्मस्वभाव वर्तमान में ही परिपूर्ण है, उसी का ध्यान करने को कहा है, यहाँ त्रिकाल शुद्धस्वभाव की दृष्टि से कथन है, पर्याय यहाँ गौण है। इस आत्मा को अरिहन्त के लक्ष से राग की उत्पत्ति होती है और अपने स्वभाव के लक्ष से वीतरागता की उत्पत्ति होती है; इसलिए इस आत्मा के लिए अरिहन्त श्रेष्ठ नहीं, किन्तु अपना शुद्धस्वभाव ही श्रेष्ठ है। जिनकी ओर से लक्ष

छोड़ना है, उनसे तेरा क्या प्रयोजन है ? – सब लक्ष छोड़कर अपने ही चैतन्यस्वभाव का लक्ष कर; क्योंकि अरिहन्त अवस्था प्रगट होने की सामर्थ्य तो तेरे में ही भरी है, अतः उसी का ध्यान करके उसी में से प्रगट कर; अन्य पदार्थों के ध्यान को छोड़ – ऐसा उपदेश है।

– वीतरागविज्ञान : मार्च १९८०, पृष्ठ २७

(९०)

प्रश्न :– देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का विकल्प, उस तरफ का ज्ञान अथवा पंचमहाव्रत के विकल्परूप व्यवहाररत्नत्रय का भाव वास्तव में आत्मा नहीं है – यह तो ठीक; परन्तु वह आत्मा की पर्याय भी नहीं है – यह कैसे हो सकता है ?

उत्तर:– उस व्यवहाररत्नत्रय की पर्याय के साथ आत्मा की अभेदता नहीं है। ज्ञान की अवस्था होती है, वही आत्मा की पर्याय है और वह ज्ञान आत्मा के साथ अभेद होता होने से ज्ञान ही आत्मा है और राग अनात्मा है। सम्यग्दर्शन के पूर्व कषाय की मन्दता से विशुद्धिलब्धि भले हो, परन्तु वह आत्मा नहीं है और सम्यग्दर्शन का वास्तविक कारण भी नहीं है, वह तो राग है। राग की आत्मा में अभेदता नहीं है, अतः वह वास्तव में आत्मा की पर्याय नहीं। रागादिभाव खरगोश के सींग की तरह जगत् में होवें ही नहीं – ऐसा नहीं है; वे आत्मा की पर्याय में एकसमयवर्ती सत्‌रूप हैं, परन्तु आत्मा के त्रिकालीस्वभाव की अपेक्षा वे असत् हैं।

– वीतरागविज्ञान : जून १९८४, पृष्ठ २९

निरखत जिनचन्द्रवदन, स्वपद सुरुचि आई ॥टेक॥
प्रगटी निज आन की, पिछान ज्ञान-भान की –
कला उद्योत होत काम यामिनी पलाई ॥१॥
शाश्वत आनन्द स्वाद, पायो विनसौं विषाद –
आन में अनिष्ट-इष्ट कल्पना नसाई ॥२॥
साधी निज साध की, समाधि मोह व्याधि की –
उपाधि को विराधि कैं अराधना सुहाई ॥३॥
धन दिन छिन आज सुगुनि, चितैं जिनराज अवै –
सुधरो सब काज 'दौल' अचल सिद्धि पाई ॥४॥

– आध्यात्मिक कविवर पं०दौलतराम

(३)

आत्मानुभूति

(६१)

प्रश्न :– आत्मानुभव करने के लिए प्रथम क्या करना चाहिए ?

उत्तर :– प्रथम यह निश्चित करना कि मैं शरीरादि परद्रव्यों का कुछ नहीं कर सकता और जो विकार होता है वह कर्म से नहीं, किन्तु मेरे अपने ही अपराध से होता है; ऐसा निश्चय करने के बाद विकार मेरा स्वरूप नहीं, मैं तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायक हूँ – ऐसा निर्णय करके ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा के सन्मुख होने का अन्तर-प्रयत्न करना चाहिए ॥१॥

— आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २१

(६२)

प्रश्न :– पहले व्रतादि का अभ्यास तो करना चाहिये न ?

उत्तर :– प्रथम में प्रथम राग से भिन्न पड़ने का अभ्यास करना चाहिए। राग से भेदज्ञान के अभ्यास विना व्रतादि का अभ्यास करना तो सचमुच मिथ्यात्व का अभ्यास करना ही है ॥२॥

— आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २१

(६३)

प्रश्न :– आत्मा प्राप्त करने के लिए सारे दिन क्या करना चाहिए ?

उत्तर :– सारे दिन शास्त्र का अभ्यास करना, विचार – मनन करके तत्त्व का निर्णय करना तथा शरीरादि से एवं राग से भेदज्ञान करने का अभ्यास करना। रागादि से भिन्नता का अभ्यास करते-करते आत्मा का अनुभव होता है ॥३॥ — आत्मधर्म : अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २३

(९४)

प्रश्न :— अभ्यास किस प्रकार का करना चाहिये ?

उत्तर :— शास्त्र वाँचना, श्रवण, सत्समागम करना चाहिए ॥४॥

— आत्मधर्म : अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २३

(९५)

प्रश्न :— यह सारा अभ्यास सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए तो अकिंचित्कर है न ?

उत्तर :— यद्यपि सम्यग्दर्शन आत्मा के लक्ष्य से ही होता है, तथापि स्वाध्याय, श्रवण, सत्समागम आदि का विकल्प आता ही है, उससे परलक्षी ज्ञान निर्मल होता है। शास्त्र में अनेक स्थानों पर आता है कि आगम का अभ्यास करो, स्व के लक्ष्य से आगम का अभ्यास करो। जिसे आत्मा चाहिये, उसे आत्मा के बतानेवाले देव-शास्त्र-गुरु के समागम का विकल्प आता ही है ॥५॥ — आत्मधर्म : अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २३

(९६)

प्रश्न :— अन्तरदृष्टि करने का उपाय क्या है ?

उत्तर :— अन्तरदृष्टि का उपाय स्वसन्मुख होकर अन्तर में दृष्टि करना है। सीधा अन्तरमुख होकर वस्तु को पकड़े — वह उपाय है पश्चात् ढीला करके व्यवहार से अनेक बातें कही जाती हैं। सविकल्प भेदज्ञान से निर्विकल्प भेदज्ञान होता है — ऐसा कथन आता है ॥६॥

— आत्मधर्म : जून १९८१, पृष्ठ २७

(९७)

प्रश्न :— सविकल्प भेदज्ञान से निर्विकल्प भेदज्ञान होता है न ?

उत्तर —: सविकल्प भेदज्ञान से निर्विकल्प भेदज्ञान नहीं, होता किन्तु व्यवहार से कथन में आता है ॥७॥

— आत्माधर्म : जून १९८१, पृष्ठ २७

(९८)

प्रश्न :— गुरुवाणी से आत्मवस्तु का स्वीकार करने पर भी अनुभव क्यों नहीं होता ? अनुभव होने में क्या शेष रह जाता है ?

उत्तर :– गुरुवाणी से स्वीकार करना अथवा विकल्प से स्वीकार करना – वह वास्तविक स्वीकार करना नहीं है। अपने भाव से – अपनी आत्मा से स्वीकार करना चाहिए। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि जो हम कहते हैं, वह तुम अपने स्वानुभव से प्रमाण करना। जो अपने अन्तर से सच्चा निर्णय करेगा, उसको अनुभव होगा ॥८॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(९९)

प्रश्न :– आत्मा की कितनी लगन लगे कि छह मास में सम्यग्दर्शन हो जाए ?

उत्तर :– ज्ञायक............ज्ञायक............ज्ञायक की लगन लगनी चाहिए। ज्ञायक की धुन लगे तो छह मास में कार्य हो जाय और उत्कृष्ट लगन लगे तो अन्तर्मुहूर्त में हो जाय ॥९॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(१००)

प्रश्न :– चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही ग्रहण करने के लिए कहा, परन्तु 'मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ' – ऐसा लक्ष करने पर भेद का विकल्प तो आये विना नहीं रहता, तो फिर विकल्प रहित आत्मा का ग्रहण कैसे करें ?

उत्तर :– प्रथम भूमिका में गुण-गुणी के भेद आदि का विचार आता अवश्य है, परन्तु आत्मा के चैतन्यलक्षण से विकल्पों को भिन्न जानकर अभेदचैतन्य की तरफ ढलना होता है। भेद भले ही बीच में आवे, किन्तु मेरे चैतन्य में वह भेद नहीं है। मैं 'चैतन्य अवस्था का कर्त्ता, चैतन्य में से अपनी अवस्था करूँ, चैतन्य के द्वारा करूँ', इत्यादि षटकारक के भेद आवें भले ही, किन्तु यथार्थतया छहों कारकों में चैतन्यवस्तु एक ही है, उस चैतन्य में कोई भेद नहीं है। इसप्रकार चैतन्यस्वभाव की मुख्यता करके तथा भेद को गौण करके स्वरूपसन्मुख होकर भावना करने पर चैतन्य का ग्रहण होता है, वही सम्यग्दर्शन है और उसी उपाय से मोक्ष होता है ॥१०॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८२, पृष्ठ २५

(१०१)

प्रश्न :– आत्मज्ञान करने के लिये तो अनेक शास्त्रों का गहन अध्ययन करना पड़ेगा। यदि इसके लिये कोई सरल मार्ग हो तो वतलाइये ?

उत्तर :– आत्मज्ञान के लिये वहुत से शास्त्रों के पढ़ने की वात ही कहाँ है ? तुम्हारी पर्याय दुःख के कारणों की तरफ झुकती है, उसे सुख के कारणभूत स्वभाव के सन्मुख लगा दो – इतनी सी वात है । स्वयं आत्मा अनन्त-अनन्त गुण-सम्पन्न भगवान ज्ञानानन्द स्वरूप है, उसकी महिमा लाकर स्वसन्मुख हो जाओ ! इतनी सी करने योग्य क्रिया है । अपनी पर्याय को द्रव्य-सन्मुख लगा दो – वस आत्मज्ञान का यही मार्ग है ॥११॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २१

(१०२)

प्रश्न :– स्वभाव-सन्मुख होने के लिए 'मैं शुद्ध हूँ', 'ज्ञायक हूँ' इत्यादि चिंतवन करते-करते कुछ अपूर्व आनन्द का स्वाद आता है । वह आनन्द अतीन्द्रिय है अथवा कषाय की मन्दता का है – इसका निर्णय कैसे हो ?

उत्तर :– चिंतवन में कषाय की विशेष मन्दता होने पर उसे आनन्द मान लेना तो भ्रम है, वह वास्तविक अतीन्द्रिय आनन्द नहीं है । अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आने पर तो राग और ज्ञान की भिन्नता प्रतीति में आती है । इस अतीन्द्रिय आनन्द का क्या कहना ? अलौकिक है । सच्ची रुचिवाले जीव को कषाय की मन्दता में अतीन्द्रिय आनन्द का भ्रम नहीं होता ॥१२॥

– आत्मधर्म : मार्च १९७९, पृष्ठ २६

(१०३)

प्रश्न :– आत्मसंस्कारों को दृढ़ करने के लिए क्या करना ?

उत्तर :– वस्तुस्वरूप का दृढ़ निर्णय करना । शुद्ध हूँ, एक हूँ, ज्ञायक हूँ – इसका चारों तरफ से वारम्वार निर्णय पक्का करके दृढ़ करना ॥१३॥

– आत्मधर्म : नवम्वर १९८०, पृष्ठ २९

(१०४)

प्रश्न :– सत् का संस्कार डालने से क्या लाभ है ?

उत्तर :– जिसप्रकार कोरे मटके में जल की विन्दु डालने से मटका उसे चूस लेता है और जलविन्दु ऊपर दृष्टिगोचर नहीं होती, फिर भी जल की आर्द्रता तो अन्दर रहती ही है, इसी कारण विशेष बूँदें पड़ने पर मटके की मिट्टी गीली हो जाती है और जल उसके ऊपर दिखाई देने लगता है; उसीप्रकार जो जीव सत् की गहरी जिज्ञासा करके सत् के गंभीर संस्कार

अन्दर में डालेगा, उस जीव को कदाचित् वर्त्तमान में पुरुषार्थ की कचास के कारण, कार्य न हो सके, तथापि सत् के गहरे डाले हुए संस्कार दूसरी गति में प्रकट होंगे; अतः सत् के गहरे संस्कार अवश्य डालो ।।१४।।

— आत्मधर्म : सितम्बर १९७९, पृष्ठ २७

(१०५)

प्रश्न :— एक पर्याय दूसरी पर्याय को स्पर्श नहीं करती तो पूर्व-संस्कार दूसरी पर्याय में कैसे काम करते हैं ?

उत्तर :— एक पर्याय दूसरी पर्याय को स्पर्श नहीं करती, यह वात तो ठीक ही है, परन्तु वर्त्तमान पर्याय में ऐसा प्रवल संस्कार डाला होगा तो उसका जोर दूसरी पर्याय में प्रकट हो — ऐसी ही उस उत्पाद-पर्याय की स्वतन्त्र योग्यता होती है, उत्पाद-पर्याय के सामर्थ्य से स्मरण में आता है ।।१५।। — आत्मधर्म : जून १९८१, पृष्ठ २७

(१०६)

प्रश्न :— श्रवण करके संस्कार दृढ़ करना — आगे वढ़ने का कारण है क्या ?

उत्तर :— हाँ, अन्दर में संस्कार दृढ़ डाले तो आगे वढ़ता है ।।१६।।

— आत्मधर्म : जून १९८१, पृष्ठ २७

(१०७)

प्रश्न :— श्रवण में प्रेम हो तो मिथ्यात्व भी मन्द पड़ता होगा ?

उत्तर :— मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी तो अनन्तवार मन्द पड़ चुका है, फिर भी वह सम्यग्दर्शन का कारण नहीं वना। मूल दर्शनशुद्धि पर जोर होना चाहिए ।।१७।। — आत्मधर्म : जून १९८१, पृष्ठ २७

(१०८)

प्रश्न :— नवतत्त्व का विचार तो पहले अनन्तवार कर चुके हैं, फिर भी लाभ क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर :— भाई ! पहले जो नवतत्त्व का विचार कर चुके हो, उससे इसमें कुछ विशेषता है। पहले जो नवतत्त्व का विचार कर चुके हो, वह तो अभेदस्वरूप के लक्ष विना किया था, जवकि यहाँ अभेदस्वरूप के लक्ष सहित आत्मानुभूति की वात है। पहले अकेले मन के स्थूल विषय से

नवतत्त्व के विचाररूप आँगन तक तो अनन्तवार आया है, परन्तु उससे आगे बढ़कर विकल्प तोड़कर ध्रुव चैतन्यतत्त्व में एकपने की श्रद्धा करने की अपूर्व समझ से वंचित रहा; इसलिए भवभ्रमण खड़ा रहा ॥१८॥

– वीतरागविज्ञान : अप्रेल १९८४, पृष्ठ २५

(१०९)

प्रश्न :– प्रवचन तो वर्षों से सुनते आ रहे हैं, अब तो अन्दर जाने का कोई संक्षिप्त मार्ग बताइये ? जीवन अल्प रह गया है ?

उत्तर :– आत्मा अकेला ज्ञानस्वभाव चिद्घन है, अभेद है, उसकी दृष्टि करो। भेद के ऊपर लक्ष करने में रागीजीव को राग उत्पन्न होता है, इसलिए भेद का लक्ष छोड़कर अभेद की दृष्टि करो – यह संक्षिप्त सार है ॥१९॥

– वीतरागविज्ञान : अप्रेल १९८४, पृष्ठ २६

(११०)

प्रश्न :– तिर्यंच को ज्ञान अल्प होने पर भी आत्मा पकड़ में आ जाता है और हम इतनी मेहनत करते हैं तो भी आत्मा पकड़ में क्यों नहीं आता ?

उत्तर :– ज्ञान में आत्मा का जितना वजन आना चाहिए, वह नहीं आता; स्वरूपप्राप्ति का जितना जोर आना चाहिए, वह नहीं आता; जितना जिसप्रकार का राग छूटना चाहिए, वह नहीं छूटता; इसलिए कार्य नहीं होता अर्थात् आत्मा पकड़ में नहीं आता ॥२०॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २८

(१११)

प्रश्न :– शुद्धनय का पक्ष हुआ है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– शुद्धनय का पक्ष होने का आशय है – शुद्धात्मा की रुचि होना। अनुभव अभी हुआ नहीं है, किन्तु रुचि ऐसी हुई है कि अनुभव होगा ही; परन्तु यह होने पर भी कहीं सन्तोष कर लेने की बात नहीं है। इस जीव के सम्बन्ध में केवली ऐसा जानते हैं कि इस जीव की रुचि इतनी प्रबल है कि अनुभव करेगा ही। इस जीव को ऐसा ज्ञायक का जोर वीर्य में वर्तता है – यह केवली जानते हैं ॥२१॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २८

(११२)

प्रश्न :– दीर्घकाल से तत्त्वाभ्यास करने पर भी आत्मा प्राप्त क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर :– आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ है, उस अतीन्द्रिय आनन्द की लगन उत्पन्न हो, आत्मातिरिक्त अन्यत्र मिठास लगे नहीं, रस पड़े नहीं, जगत के पदार्थों का रस फीका लगने लगे अर्थात् संसार के राग का रस उड़ जाय। अहो ! जिसका इतना विशद् बखान हो रहा है, वह आत्मा अनन्तानन्त गुणों का पुंज प्रभु है कौन ? – ऐसा आश्चर्य उत्पन्न हो, उसकी लगन लगे, धुन चढ़े – तब समझना चाहिए कि आत्मा प्राप्त होगा ही; न प्राप्त हो – ऐसा नहीं हो सकता। जैसा कारण होगा, वैसा कार्य होगा ही; कारण उपस्थित हुए बिना कार्य होता नहीं और कारण की अपूर्णता में भी कार्य सम्पन्न करने की क्षमता नहीं। आत्मा के आनन्दस्वरूप की अन्दर से सच्ची लगन लगे, बेचैनी हो, स्वप्न में भी उसका अभाव न हो, तब समझना चाहिये कि अब आत्मानुभूति अवश्य होगी ॥२२॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७८, पृष्ठ २७

(११३)

प्रश्न :– आत्मा का स्वरूप ज्ञान में आने पर भी वीर्य बाह्य में क्यों अटक जाता है ?

उत्तर :– जैसा विश्वास आना चाहिए, वैसा नहीं आता है; इसलिए अटक जाता है। जानपना तो ग्यारह अंग का भी हो जाय, परन्तु यथोचित भरोसा नहीं आता। भरोसे से भगवान हो जाय, परन्तु वह नहीं आता, इसलिए भटकता है ॥२३॥

– आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २४

(११४)

प्रश्न :– इसमें रुचि की कमी है या भावभासन में भूल है ?

उत्तर :– मूल में तो रुचि की ही कमी है ॥२४॥

– आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २४

(११५)

प्रश्न :– हम तत्त्वनिर्णय करने का उद्यम तो करते हैं, परन्तु बीच में प्रतिकूलता आ पड़े तो क्या करें ?

उत्तर :– जिसको तत्त्वनिर्णय करना है, उसको तत्त्वनिर्णय में प्रतिकूलता कुछ है ही नहीं। प्रथम तो संयोग आत्मा में आता ही नहीं, संयोग तो आत्मा से भिन्न ही है; इसलिये प्रतिकूल संयोग वास्तव में आत्मा में हैं ही नहीं। फिर सातवें नरक में वाह्यसंयोग तो अनन्त प्रतिकूल है, तथापि वहाँ भी अनादि का मिथ्यादृष्टि जीव तत्त्वनिर्णय करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रतिकूलता आत्मकल्याण में कोई वाधा नहीं डालती।

जिसको आत्मा की जिज्ञासा जागृत हुई है और सच्चे देव-गुरु निमित्तरूप में मिले हैं, उसको तत्वनिर्णय की अनुकूलता ही है, प्रतिकूलता किंचित् भी नहीं है। तत्त्वनिर्णय करने के लिये सच्चे देव-गुरु अनुकूल हैं और अन्तर में अपना आत्मा अनुकूल है। जिसको सच्चे देव-गुरु निमित्तरूप से मिले और अन्तर में आत्मा की रुचि हुई, उसको तो सब अनुकूल ही है। अरे ! उसे कुछ भी प्रतिकूलता वाधक नहीं है ॥२५॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९८२, पृष्ठ २४

(११६)

प्रश्न : – जो जीव वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं करता, उसकी स्थिति क्या होती है ?

उत्तर : – जो जीव वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं करता, उसका चित्त 'वस्तुस्वरूप किस प्रकार होगा ?' – ऐसे सन्देह से सदा डांवाडोल अस्थिर बना रहता है। और स्व-पर के भिन्न-भिन्न स्वरूप का उसे निश्चय न होने के कारण परद्रव्य के कर्तृत्व की इच्छा से उसका चित्त सदा आकुलित बना रहता है। तथा परद्रव्य का उपभोग करने की वुद्धि से उसमें राग-द्वेष के कारण उसका चित्त सदा कलुषित बना रहता है। इसप्रकार वस्तुस्वरूप के निर्णय विना जीव का चित्त सदा डाँवाडोल और कलुषित रहने से, उसकी स्वद्रव्य में स्थिरता नहीं हो सकती। जिसका चित्त डांवाडोल तथा कलुषितरूप से परद्रव्य में ही भटकता हो, उसे स्वद्रव्य में प्रवृत्तिरूप चारित्र कहाँ से होगा ? – नहीं हो सकता। इसलिए जिसे पदार्थ के स्वरूप का निर्णय नहीं, उसे चारित्र नहीं होता ॥२६॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७६, पृष्ठ २४

(११७)

प्रश्न : – वस्तु के स्वरूप का निश्चय किसप्रकार करना चाहिए ?

उत्तर :– वस्तु के स्वरूप का निश्चय इसप्रकार होना चाहिए कि "इस जगत् में मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ तथा मुझसे भिन्न इस जगत् के जड़-चेतन समस्त पदार्थ मेरे ज्ञेय ही हैं। विश्व के पदार्थों के साथ मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध से विशेष मेरा अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है और न मैं किसी के कार्य को करता हूँ। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव-सामर्थ्य से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप परिणमन कर रहा है, उसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।"

जो जीव ऐसा निर्णय करे, वही पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर उपयोग को निजस्वरूप में लगाता है, इसलिए उसी को स्वरूप में चरणरूप चारित्र होता है। इसप्रकार चारित्र के लिए प्रथम वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए ॥२७॥ – आत्मधर्म : अक्टूम्बर १९७६, पृष्ठ २३

(११८)

प्रश्न :– न्याय और तर्क से तो यह बात जमती है, किन्तु अन्दर में जाने का साहस क्यों नहीं हो पाता ?

उत्तर :– अन्दर में पहुँचने का जितना पुरुषार्थ होना चाहिए उतना नहीं बन पाता, इसीलिए बाहर भटकता रहता है। अन्दर जाने की रुचि नहीं, इसलिए उपयोग अन्दर जाता नहीं ॥२८॥

– आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २५

(११९)

प्रश्न :— वर्तमान में कर्मबन्धन है, हीनदशा है, रागादिभाव भी वर्तते हैं, तो ऐसी दशा में शुद्धात्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है ?

उत्तर :— रागादिभाव वर्तमान में वर्तते होने पर भी वे सब भाव क्षणिक हैं, विनाशीक हैं, अभूतार्थ हैं, झूठे हैं। अतः उनका लक्ष छोड़कर त्रिकाली ध्रुव शुद्ध आत्मा का लक्ष करके आत्मानुभूति हो सकती है। रागादिभाव तो एक समय की स्थितिवाले हैं और भगवान आत्मा त्रिकाल टिकनेवाला अबद्धस्पृष्टस्वरूप है। इसलिए एक समय की क्षणिक पर्याय का लक्ष छोड़कर त्रिकाली शुद्ध आत्मा का लक्ष करते ही – दृष्टि करते ही आत्मानुभूति हो सकती है ॥२९॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(१२०)

प्रश्न :— ज्ञानी जीव सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है और सम्यक्त्व-सन्मुख जीव भी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है। उन दोनों की विधि का प्रकार एक ही है या उसमें कोई विलक्षणता है ?

उत्तर :– ज्ञानी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है, उसे तो आत्मा

का लक्ष हुआ है, आत्मा लक्ष में है और उसमें एकाग्रता का विशेष पुरुषार्थ करने पर विकल्प छूटकर निर्विकल्प होता है; परन्तु स्व-सन्मुख जीव को तो अभी आत्मा का लक्ष ही नहीं हुआ है, अतः उसने तो ज्ञान में ऊपर-ऊपर (धारणा) से ही जाना है, प्रत्यक्ष नहीं हुआ। विकल्प से आत्मा का लक्ष बाहर-बाहर हुआ है, उसको अन्दर पुरुषार्थ उग्र होने पर सविकल्पता छूटकर निर्विकल्पता होती है। इसप्रकार निर्विकल्प होने की विधि का प्रकार एक होने पर भी ज्ञानी ने तो वेदन से आत्मा जाना है और स्व-सन्मुखवाले ने बाहर-बाहर आनन्द के वेदन विना आत्मा को जाना है ॥३०॥ — आत्मधर्म : फरवरी १९७९, पृष्ठ २७

(१२१)

प्रश्न :– विकल्प से निर्विकल्प होने में सूक्ष्म विकल्प रोकता है, उसका क्या करें ?

उत्तर :– निर्विकल्प होने में विकल्प रोकता नहीं है। वास्तविकता यह है कि तू स्वयं अन्दर में ढलने योग्य पुरुषार्थ करता नहीं है, इसलिए विकल्प टूटता नहीं है। विकल्प को तोड़ना नहीं पड़ता, किन्तु स्वरूप में ढलने का पुरुषार्थ उग्र होने पर विकल्प सहज ही टूट जाता है ॥३१॥

— आत्मधर्म : फरवरी १९७९, पृष्ठ २७

(१२२)

प्रश्न :– सम्यक्त्व-सन्मुखजीव तत्त्व के विचार में राग को अपना जानता है क्या ?

उत्तर :– सम्यक्त्व-सन्मुखजीव ऐसा जानता है कि राग है, वह मेरा अपराध है; राग मेरा स्वरूप नहीं, राग मैं नहीं, – ऐसा जानकर उसका लक्ष छोड़कर अन्दर में जाने का – आत्मानुभव करने का प्रयत्न करता है ॥३३॥ — आत्मधर्म : फरवरी १९७९, पृष्ठ २७

(१२३)

प्रश्न :– दृष्टि का जोर कहाँ देने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होगा ?

उत्तर :– ज्ञायक निष्क्रियतत्त्व के ऊपर दृष्टि डालो न ! पर्याय के ऊपर जोर देने से क्या लाभ ? यह मेरी क्षयोपशम की पर्याय बढ़ी, यह मेरी पर्याय हुई – इसप्रकार पर्याय के ऊपर लक्ष देने से क्या काम बनेगा ? पर्याय पलटने पर उस अंश में त्रिकाली वस्तु थोड़े ही आ जाती है ? अरे

भाई ! त्रिकाली ध्रुवदल जो नित्यानन्द प्रभु है, उसके ऊपर दृष्टि का जोर दो न ! ज्ञानानन्द सागर की तरंगें उछलती हैं, उस पर लक्ष डालो न ! तरंगों को न देखकर आनन्द सागर के दल ऊपर दृष्टि डालो अर्थात् अनादि क्षणिकपर्याय को ही लक्ष बना रहे हो, उसको छोड़ दो और त्रिकाली ध्रुव नित्य ज्ञायक दल के ऊपर दृष्टि को दृढ़ स्थापित करो तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय प्रगट होगी ।।३३।।

– आत्मधर्म : अप्रेल १६७६, पृष्ठ २६

(१२४)

प्रश्न :– मोक्षमार्ग में धारणाज्ञान के बल से आगे नहीं बढ़ते तो किसके बल से आगे बढ़ते हैं ?

उत्तर :– द्रव्यस्वभाव के बल से आगे बढ़ा जाता है। ज्ञायकभाव, चैतन्यभाव, द्रव्यभाव आदि जिसके ही नाम हैं – इसकी तरफ का जोर आना चाहिए ।।३४।। – आत्मधर्म : सितम्बर १६८१, पृष्ठ २४

(१२५)

प्रश्न :– स्वानुभव मनजनित है या अतीन्द्रिय है ?

उत्तर :– वास्तव में स्वानुभव में मन और इन्द्रियों का अवलम्बन नहीं है, इसलिये वह अतीन्द्रिय है; परन्तु स्वानुभव के समय मति-श्रुतज्ञान विद्यमान है और वह मति-श्रुतज्ञान मन अथवा इन्द्रियों के अवलम्बन विना होता नहीं, इस अपेक्षा से स्वानुभव में मन का अवलम्बन भी कहा गया है। वास्तव में जितना मन का अवलम्बन टूटा, उतना ही स्वानुभव है – स्वानुभव में ज्ञान अतीन्द्रिय है ।।३५।।–आत्मधर्म : अगस्त १६७७, पृष्ठ २५

(१२६)

प्रश्न :– निर्विकल्पःअनुभूति में मन का सम्बन्ध छूट गया है, यह बात कितने प्रतिशत सत्य है ?

उत्तर :– शतप्रतिशत सत्य है। वहाँ निर्विकल्पतारूप जो परिणमन है, उसमें तो मन का अवलम्बन किंचित् मात्र भी नहीं है, क्योंकि उसमें तो मन का सम्बन्ध सर्वथा छूट गया है; परन्तु उससमय जो अबुद्धिपूर्वक राग का परिणमन शेष रह गया है, उसमें मन का सम्बन्ध है – ऐसा समझना ।।३६।। — आत्मधर्म : अगस्त १६७७, पृष्ठ २५

(१२७)

प्रश्न :– अनुभव द्रव्य का है या पर्याय का ?

उत्तर :–'अनुभव' में अकेला द्रव्य या अकेली पर्याय नहीं है, किन्तु स्वसन्मुख झुकी हुई पर्याय द्रव्य के साथ तद्रूप हुई है, अतः द्रव्य-पर्याय के वीच में भेद नहीं रहा; ऐसी जो दोनों की अभेद अनुभूति– वह अनुभव है। द्रव्य और पर्याय के वीच में भेद रहे, तव तक निर्विकल्प अनुभव नहीं होता ।।३७।।

– आत्मधर्म : अगस्त १९७७, पृष्ठ २५

(१२८)

प्रश्न :– जिससमय त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से निर्विकल्प आनन्द की अनुभूति होती है, उसीसमय 'मैं आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ' – ऐसा विचार आता है क्या ?

उत्तर :– निर्विकल्प अनुभूति के काल में आनन्द का वेदन है, किन्तु विकल्प नहीं है। जब निर्विकल्प से विकल्प में आता है, तव ध्यान में आता है कि आनन्द का अनुभव हुआ था, परन्तु आनन्द के अनुभवकाल में 'आनन्दानुभव करता हूँ' – ऐसा भेद नहीं है, वेदन है ।।३८।।

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २३

(१२९)

प्रश्न :– जिस प्रकार आम का स्वाद आत्मा को आता है; उसी प्रकार आत्मा के अनुभव का स्वाद कैसा होता है ?

उत्तर :– आम तो जड़ है, अतः उस जड़ का स्वाद आत्मा को आता नहीं। आम के मीठे रस का ज्ञान होता है और आम अच्छा है–ऐसी ममता के राग का दुःखरूप स्वाद आत्मा को आता है। आत्मा के अनुभव का जो अतीन्द्रिय आनन्द आता है, वह वचन अगोचर है; अनुभवगम्य है ।।३९।।

– आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २७

(१३०)

प्रश्न :– आप पर की पर्याय को परद्रव्य कहो, परन्तु स्व की निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य क्यों कहते हैं ?

उत्तर :– परद्रव्य के लक्ष के समान निर्मल पर्याय के लक्ष से भी राग होता है, अतः उसे भी परद्रव्य कहा है। वह द्रव्य से सर्वथा भिन्न है, ऐसा जोर दिये बिना दृष्टि का जोर द्रव्य पर नहीं जाता; इसलिये निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य, परभाव तथा हेय कहा है। जिसे पर्याय का प्रेम है, उसका लक्ष परद्रव्य पर जाता है, इसलिये उसे प्रकारान्तर से

परद्रव्य का ही प्रेम है। परम सत्यस्वभाव ऐसे द्रव्यसामान्य के ऊपर लक्ष जाना अलौकिक बात है ।।४०।। – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७६, पृष्ठ २६

(१३१)

प्रश्न :– इस आत्मा का स्वरूप विचार में आने पर भी प्रगट क्यों नहीं होता ?

उत्तर :– इसके लिए योग्य पुरुषार्थ चाहिए। अन्दर में अपार शक्ति पड़ी है, उसका महात्म्य आना चाहिए। वस्तु तो प्रगट है ही, पर्याय की अपेक्षा से उसे अप्रगट कहा जाता है। वस्तु कहीं आवरण से आच्छादित नहीं है। हाँ, प्रथम वस्तु का माहात्म्य आना आवश्यक है। कुछ लोग कहते हैं कि भान हो तो माहात्म्य आवे; परन्तु ऐसा है नहीं। सर्वप्रथम माहात्म्य आना चाहिए, पश्चात् माहात्म्य आते-आते भान हो जाता है ।।४१।। – आत्मधर्म : जनवरी १९७९, पृष्ठ २५

(१३२)

प्रश्न :– आत्मा के भिन्न-भिन्न गुण ध्यान में आते हैं, तथापि अभेद ध्यान में क्यों नहीं आता ?

उत्तर :– स्वयं ध्यान में लेता नहीं, इसलिए नहीं आता। अभेद को लक्ष में लेना तो अन्तिम स्थिति है। निर्विकल्प होने पर ही अभेद आत्मा लक्ष में आता है ।।४२।। – आत्मधर्म : जून १९८१, पृष्ठ २६

(१३३)

प्रश्न :– उसे लक्ष में लेना कठिन पड़ता है ?

उत्तर :– प्रयत्न करो ! घबड़ाने जैसी बात नहीं है। अभेद आत्मा अनुभव में आ सकने योग्य है, इसलिए धीरे-धीरे प्रयास करना, निराश मत होना। ऐसे काल में ऐसी ऊँची बात सुनने को मिली है — यही क्या कम है ? ।।४३।। – आत्मधर्म : जून १९८१, पृष्ठ २६

(१३४)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन होने से पहले किसप्रकार के विचार होते हैं कि जिनका अभाव करके सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर :– किसप्रकार के विचार चलते हैं, इसका कोई नियम नहीं है। तत्त्व के किसी भी प्रकार के विचार हो सकते हैं, जिनका अभाव करके सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ।।४४।।

– आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २३

(१३५)

प्रश्न :– परिचय किसका करना चाहिए ?

उत्तर :– सत्स्वरूप ऐसे आत्मा का परिचय करना चाहिए। जितना जिसका परिचय होगा, उतनी ही उसकी परिणति होगी। राग का रसीला होकर जगत के जीवों का परिचय करेगा तो तेरी परिणति पतित हो जायेगी। जिनको शरीरादि का प्रेम है, पुण्य का प्रेम है, ऐसे लौकिक जनों का परिचय करेगा तो तेरी परिणति बिगड़ जायेगी। लोग मान-सन्मान तुझे समर्पित करेंगे तो उनके परिचय में तू मर जायेगा। स्त्री-पुत्रादि अथवा व्यापारादि के परिचय से तुझे विशेष हानि होगी। तू तो आनन्द का नाथ प्रभु है। तेरे परिचय में यदि वह रहेगा तो तुझे आनन्द और सुख प्राप्त होगा। जैसे जंगल में सिंह निर्भय होकर विचरता है, उसे हिरण आदि का भय नहीं होता; वैसे ही तू भी निर्भय होकर अपने स्वदेश में विचरण कर ॥४५॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २३

(१३६)

प्रश्न :– आत्मानुभव होने से पहले अन्तिम विकल्प क्या होता है ?

उत्तर :– अन्तिम विकल्प का कोई नियम नहीं है। राग से भिन्नता-पूर्वक शुद्धात्मा की सन्मुखता का प्रयत्न करते-करते चैतन्य की प्राप्ति होती है। जहाँ त्रिकाली ज्ञायक-प्रभु की तरफ परिणति ढल रही हो, ज्ञायकधारा की उग्रता और तीक्ष्णता हो, वहाँ अन्तिम विकल्प क्या होगा – इसका कोई नियम नहीं है। पर्याय को अन्दर गहराई में ध्रुव पाताल में ले जाय, वहाँ भगवान आत्मा की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन होता है ॥४६॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ २०

(१३७)

प्रश्न :– स्वानुभूति कैसे करना ?

उत्तर :– राग की वृत्ति पर की तरफ जाती है, उसका लक्ष छोड़कर स्वसन्मुख झुके तो अनुभूति हो ॥४७॥ आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २३

(१३८)

प्रश्न :– विषय-कषाय की सतत् विडम्बना से छूटने का साधन क्या ?

उत्तर :– विषय-कषाय का प्रेम छोड़ना, रुचि छोड़ना, विषय-कषाय के राग से चैतन्य का भेदज्ञान करना, वह विषय-कषाय की सतत् विडम्बना से छूटने का साधन है ॥४८॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २३

(१३९)

प्रश्न :– इस तत्त्व के संस्कार अगले भव में भी बने रहें – ऐसा कोई उपाय है क्या ?

उत्तर :– हाँ, तत्त्व का पक्का निर्णय करे तो अगले भव में वह संस्कार काम आ सकता है ॥४९॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २७

(१४०)

प्रश्न :– विकल्पों से निर्विकल्प दशा की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

उत्तर :– विकल्प से निर्विकल्प चैतन्य के अनुभव की तरफ जायेंगे – ऐसा जो मानता है, वह विकल्प को और निर्विकल्प तत्त्व को – दोनों को एक मानता है, अतः उसे विकल्प का ही अनुभव रहेगा; किन्तु विकल्प से छूटकर निर्विकल्प चैतन्य का अनुभव नहीं होगा। जो विकल्प को साधन के रूप में स्वीकार करता है, वह विकल्प का अवलम्बन छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकता अर्थात् विकल्प से पार ऐसा चैतन्यतत्त्व उसके अनुभव में नहीं आ सकता। भाई ! चैतन्यतत्त्व और विकल्प – इन दोनों की तो जाति ही जुदी है। चैतन्य में से विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती और विकल्प का प्रवेश चैतन्य में नहीं होता। इस प्रकार दोनों की अत्यन्त भिन्नता को अन्तरंग से विचार कर चैतन्य की ही भावना में तत्पर रहो। चैतन्य में जैसे-जैसे निकटता होती जाती है वैसे-वैसे विकल्पों का शमन होता जाता है, पश्चात् चैतन्य में लीन होने पर विकल्पों का सर्वथा लोप हो जाता है। इस भाँति चैतन्य में विकल्प नहीं हैं – ऐसे भिन्न चैतन्य का तुम तीव्र लगन से चिंतवन करो ॥५०॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७७, पृष्ठ २६

(१४१)

प्रश्न :– अनुभूति में और ज्ञान में क्या अंतर है ?

उत्तर :– ज्ञान में तो सम्पूर्ण आत्मा जाना जाता है और अनुभूति में तो पर्याय का ही वेदन होता है, द्रव्य का वेदन नहीं होता ॥५१॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २२

(१४२)

प्रश्न :– आत्मा में अनंत गुण हैं; उस गुणभेद का लक्ष छोड़ने से निर्विकल्पता होती है, तो उन अनंत गुणों का ज्ञान चला नहीं जाता ?

उत्तर :– आत्मा में अनंत गुण हैं, उनका ज्ञान करके उनके भेद

का लक्ष छोड़ने से ज्ञान चला नहीं जाता; भेद का विकल्प छूटकर दृष्टि अभेद होने से निर्विकल्पता में अनंत गुणों का स्वाद आता है – अनुभव होता है।

समयसार की ७वीं गाथा की टीका में कहा है – अनंत पर्यायों को एक द्रव्य पी गया है, वहाँ 'पर्याय' शब्द से सहवर्ती गुण कहे हैं। समयसार की २६४वीं गाथा की टीका में भी सहवर्ती गुणों को 'पर्याय' शब्द से कहा है। अनंत गुणों को द्रव्य पी गया है अर्थात् अनंत गुणमय अभेदरूप एक अखण्ड आत्मा है।

आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति अखण्ड अभेद एकरूप है। उसमें यह अशुद्ध पर्यायवाला आत्मा और यह शुद्ध पर्यायवाला आत्मा – इसप्रकार एकरूप आत्मा में दो भेद करना वह कुबुद्धि है। एकरूप ज्ञायकभाव में यह बहिरात्मा और यह अंतरात्मा – ऐसे भेद करता है, वह पर्यायबुद्धि है। शुद्ध निश्चयनय का विषय त्रिकाल शुद्ध एकरूप आत्मा पर्याय रहित है, उसमें पर्याय-भेद करने का विकल्प करता है (दृष्टि करता है), वह मिथ्यादृष्टि है ॥५२॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७६, पृष्ठ २५

(१४३)

प्रश्न :– पर्याय के भेद जानने में तो आते हैं न ?

उत्तर :– पर्याय का यथायोग्य ज्ञान करना तो ठीक है, परन्तु जो शुद्ध अखण्ड अभेद आत्मा को पर्याय के भेदरूप मानता है, उसे कुबुद्धि कहा है। (नियमसार कलश २६१) ॥५३॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९७६, पृष्ठ २५

(१४४)

प्रश्न :– पर्याय को द्रव्य से कथंचित् अभिन्न कहा है न ?

उत्तर :– सम्पूर्ण द्रव्य को प्रमाणज्ञान से देखने पर पर्याय कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है – ऐसा कहा जाता है, परन्तु शुद्धनय के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव की अपेक्षा से देखने पर वास्तव में द्रव्य से पर्याय भिन्न ही है, पर्यायार्थिकनय से देखने पर पर्याय द्रव्य से अभिन्न है। प्रयोजन की सिद्धि के लिये तो पर्याय को गौण करके, अविद्यमान ही मानकर, त्रिकाली ध्रुवस्वभाव को मुख्य करके भूतार्थ का आश्रय कराया है।

प्रमत्त पर्याय परद्रव्य के निमित्त से मलिन होती है – ऐसा तो कहा ही है, परन्तु अप्रमत्त पर्याय को भी परद्रव्य के संयोगजनित कह दिया है। औदयिकादि चार भावों को आवरणयुक्त कहा है। केवलज्ञान की क्षायिक

पर्याय भी कर्मकृत (पंचास्तिकाय में) कही है, क्योंकि उसमें कर्म के अभाव की अपेक्षा आती है। चार भाव ज्ञायकस्वभाव में नहीं हैं, कर्म की अपेक्षा आने से उन्हें कर्मकृत कहा है।

भगवान के कहे हुए द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप का प्रतिपादन करने में समर्थ ऐसे द्रव्यलिंगी मुनि द्रव्य-गुण-पर्यायादि में तो चित्त को लगाते हैं, परन्तु नित्यानन्द प्रभु निज कारणपरमात्मा में चित्त को कभी नहीं जोड़ते, इसलिये वे अन्यवश हैं। वे ऐसे विकल्पों के वश होने से अन्यवश हैं। जो द्रव्य-गुण-पर्याय के विकल्प में चित्त को लगाता है, वह विष का प्याला पीता है और जो नित्यानन्द निज कारणपरमात्मा में चित्त को लगाता है, वह अनाकुल आनन्द रस के प्याले पीता है ॥५४॥

— आत्मधर्म : दिसम्बर १९७६, पृष्ठ २५–२६

(१४५)

प्रश्न :– अनादि के अज्ञानी जी को सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पहले तो अकेला विकल्प ही होता है न ?

उत्तर :– नहीं, अकेला विकल्प नहीं। स्वभाव तरफ ढलते हुए जीव को विकल्प होने पर भी उसी समय 'आत्मस्वभाव की महिमा का लक्ष' भी काम करता है और उस लक्ष के बल पर ही वह जीव आत्मा की ओर आगे बढ़ता है; कहीं विकल्प के बल पर आगे नहीं बढ़ता। राग की ओर का जोर – झुकाव हानिगत होने लगा और स्वभाव की तरफ का जोर-झुकाव वृद्धिगत होने लगा, वहाँ (सविकल्प दशा होने पर भी) अकेला राग ही काम नहीं करता; परन्तु राग के अवलम्बन बिना, स्वभाव की तरफ जोरवाला – झुकाववाला एक भाव भी अन्तरंग में वहाँ कार्य करता है और उसी के बल पर आगे बढ़ता-बढ़ता पुरुषार्थ की कोई अपूर्व छलांग लगाकर निर्विकल्प आनन्द का वेदन करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है ॥५५॥   — आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ ७२

(१४६)

प्रश्न :– 'विकार चारित्र गुण की पर्याय की योग्यता से होता है' तब तो फिर जब तक उसमें विकार होने की योग्यता रहेगी, तब तक विकार होता ही रहेगा और तब तक विकार टालना जीवाधीन नहीं रहेगा ?

उत्तर :– एक-एक समय की स्वतन्त्र योग्यता है – ऐसा निर्णय किस ज्ञान में हुआ ? त्रिकालीस्वभाव की तरफ ढले बिना ज्ञान में एक-

एक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय नहीं हो सकता; और जहाँ ज्ञान त्रिकालीस्वभाव में ढला, वहाँ स्वभाव की प्रतीति के बल पर पर्याय में से राग-द्वेष होने की योग्यता प्रतिक्षण घटती जाती है। जिसने स्वभाव का निर्णय किया, उसकी पर्याय में लम्बे समय तक राग-द्वेष बने रहें – ऐसी योग्यता ही नहीं रहती, ऐसा ही सम्यक्‌निर्णय का बल है ॥५६॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८३, पृष्ठ २५

(१४७)

प्रश्न :– वर्त्तमान पर्याय में तो अधूरा ज्ञान है, उसमें पूरे ज्ञान-स्वभाव का ज्ञान कैसे हो ?

उत्तर :– जिस प्रकार आँख छोटी होने पर भी सारे संसार को जान लेती है; उसी प्रकार पर्याय में ज्ञान का विकास अल्प होने पर भी यदि वह ज्ञान स्वसन्मुख हो तो पूर्णज्ञानस्वरूपी आत्मा को स्वसंवेदन से जान लेता है। केवलज्ञान होने से पहले अपूर्णज्ञान में भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से पूर्णज्ञानस्वरूपी आत्मा का निःसन्देह निर्णय होता है। जैसे शक्कर की अल्प मात्रा से सम्पूर्ण शक्कर के स्वाद का निर्णय हो जाता है, वैसे ही ज्ञान की अल्पपर्याय को अन्तर्मुख करने पर उसमें पूर्णज्ञानस्वभाव का निर्णय हो जाता है। पूर्णज्ञान होने पर ही पूर्ण आत्मा को जाना जाय – ऐसी बात नहीं है। यदि अपूर्णज्ञान पूर्ण आत्मा को न जान सके, तब तो कभी सम्यग्ज्ञान हो ही नहीं सके; इसलिये अपूर्णज्ञान भी स्वसन्मुख होकर पूर्ण आत्मा को जान लेता है ॥५७॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८३, पृष्ठ २४

(१४८)

प्रश्न :– जिनागम में चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही ग्रहण करने के लिये कहा; परन्तु 'मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ' – ऐसा लक्ष में लेने पर भेद का विकल्प तो आये बिना रहता ही नहीं ? तो फिर विकल्प रहित आत्मा का ग्रहण कैसे हो ?

उत्तर :– प्रथम भूमिका में गुण-गुणी भेद आदि का विकल्प आयेगा अवश्य; किन्तु आत्मा के चैतन्य लक्षण से उसे भिन्न जान कर अभेद चैतन्य की तरफ ढलना। भले ही भेद बीच में आवे, परन्तु मेरे चैतन्य में तो भेद है नहीं – ऐसा जानना। "चैतन्य अवस्था का मैं कर्त्ता, चैतन्य में से मैं करूँ, चैतन्य के द्वारा करूँ – इत्यादि षट्कारक-भेद के विचार भले आवें; परन्तु यथार्थ ने छहों

कारकों में चैतन्यवस्तु एक ही है, उस चैतन्य में कोई भेद नहीं है।" – इस भाँति चैतन्यस्वभाव की मुख्यता करके और भेद को गौण करके, स्वरूपसन्मुख होकर भावना करने पर ही चैतन्य का ग्रहण होता है; यही सम्यग्दर्शन है – यही मोक्ष का उपाय है ॥५८॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८३, पृष्ठ २५

(१४९)

प्रश्न :– आप सत् समझने की इतनी गहिमा गाते हैं, उससे लाभ क्या ? हम तो व्रतादि करने में लाभ मानते हैं।

उत्तर :– स्वभाव की रुचिपूर्वक जो जीव सत् समझने का अभ्यास करता है, उस जीव को क्षण-क्षण में मिथ्यात्वभार मन्द पड़ता जाता है, एक समय भी समझने का प्रयत्न निष्फल नहीं जाता। अज्ञानी जीव व्रतादि में धर्म मानकर जो शुभभाव करता है, उसकी अपेक्षा सत् समझने के लक्ष से होनेवाला शुभभाव ऊँची जाति का है। व्रतादि में धर्म मान कर जो शुभभाव करता है, उसके तो अभिप्राय में मिथ्यात्व पुष्ट होता जाता है, जबकि सत् समझने के लक्ष से प्रतिक्षण मिथ्यात्व हीन होता जाता है और जिसे सत् समझने में आ जाय, उसकी तो बात ही क्या ? ॥५९॥ – आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ २८

(१५०)

प्रश्न :– तत्त्वों का स्वरूप अनुमानज्ञान से विचार में आता है या अनुभव से – कृपया स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर :– प्रयोजनभूत नवतत्त्वों का स्वरूप पहले अनुमान से ज्ञान में आता है, पश्चात् अनुभव होता है·प्रथम शकुन होता है, तत्पश्चात् ही उसका फल आता है न ? उसीप्रकार प्रथम अनुमानज्ञान से खयाल में आता है, पश्चात् अनुभव होता है ॥६०॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९७८, पृष्ठ २५

(१४६)

प्रश्न :– निर्मलपर्याय को तो अन्तर्लीन कहा है न ?

उत्तर :– वह तो स्वसन्मुख झुकी है, इसलिए उस पर्याय को अन्तर्लीन कहा है, परन्तु इतने मात्र से वह कहीं ध्रुव में मिल नहीं गई है। ध्रुव के आश्रय से द्रव्यदृष्टि प्रगट होने के पश्चात् चारित्र की शुद्धि भी पर्याय के आश्रय से नहीं होती। त्रिकाली अन्तःतत्त्व जो ध्रुव तल-दल है, उसके आश्रय से ही चारित्र की शुद्धि होती है। यह वस्तुस्थिति है, भगवान की वाणी है, यह उपदेश भेदज्ञान की पराकाष्ठा का है। प्रभु ! निर्मल

पर्याय वहिर्तत्त्व है, वह निर्मल पर्याय के आश्रय से टिके नहीं, वढे नहीं, वह तो अन्तःतत्त्व जो ध्रुवतत्त्व, उसके ही आश्रय से प्रगट होती है, टिकती है, बढती है। दया-दानादि के शुभ परिणाम तो मलिन वहिर्तत्त्व हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम निर्मल वहिर्तत्त्व हैं। द्रव्यदृष्टि तो एक शुद्ध अन्तःतत्त्व का ही अवलम्वन लेती है ॥६१॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २१

(१५२)

प्रश्न :– आत्मा परोक्ष है तो जानने में कैसे आवे ?

उत्तर :– आत्मा प्रत्यक्ष ही है। पर्याय अन्तर्मुख हो तो प्रत्यक्ष जानने में आता है। वहिर्मुख पर्यायवाले को आत्मा प्रत्यक्ष नहीं लगता – नहीं दिखता, परन्तु है वह प्रत्यक्ष ही, क्योंकि उसके सन्मुख ढलकर-झुककर देखे तो अवश्य जानने में आता है ॥६२॥

– आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २६

(१५३)

प्रश्न :– नियमसारजी शास्त्र में ऐसा कहा कि आत्मा निरन्तर सुलभ है। इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– नियमसार कलश १७६ में कहा है कि आत्मा निरन्तर सुलभ है। आहाहा ! आत्मा निरन्तर वर्त्तमान सुलभ है। वर्त्तमान सुलभ है – इसका तात्पर्य यह कि आत्मा वर्त्तमान में ही है, उसका वर्त्तमान में आश्रय ले ? भूतकाल में था और भविष्य में रहेगा – ऐसा त्रिकाल लेने पर उसमें काल की अपेक्षा आती है। इसलिए वर्त्तमान में ही त्रिकाली पूर्णानन्दनाथ पड़ा है, उसका वर्त्तमान में ही आश्रय लेना योग्य है – ऐसा कहते हैं ॥६३॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २२

(१५४)

प्रश्न :– स्वद्रव्य आदरणीय है, उसी प्रकार उसकी भावनारूप निर्मलपर्याय को भी निर्मलपर्याय को भी आदरणीय कहें ?

उत्तर –: हाँ, राग हेय है, उसकी अपेक्षा से निर्मलपर्याय को आदरणीय कहा जाता है। द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय व्यवहार है, अतः आश्रय योग्य नहीं होने से उसे हेय कहा जाता है। क्षणिकपर्याय को द्रव्य की अपेक्षा हेय कहा, परन्तु राग की अपेक्षा से क्षायिकभाव को आदरणीय कहा गया है ॥६४॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ २०

४

भेद-विज्ञान

(१५५)

प्रश्न :– इष्टोपदेश में आता है कि जीव और देह को जुदा जानना ही बारह अंग का सार है – इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– जीव और देह को – पुद्गल को जुदा जाने अर्थात् विकार भी आत्मा के स्वभाव से जुदा है, यह भी उसमें गर्भित है। पुद्गल से और विकार से भिन्न आत्मा के स्वभाव को जानना, अनुभव करना – वही द्वादशांग का सार है। द्वादशांग में आत्मानुभूति करने को कहा गया है ॥१॥ – आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ २६

(१५६)

प्रश्न :– भेदज्ञान का क्या अर्थ है ?

उत्तर :– आत्मा उपयोगस्वरूप है, रागादि परभावों से भिन्न है – इसप्रकार उपयोग और रागादि को सर्वप्रकार से अत्यन्त भिन्न जानकर, राग से भिन्नत्वरूप, और उपयोग से एकत्वरूप ज्ञान का परिणमन भेदज्ञान है ॥२॥ – वीतराग-विज्ञान : जून १९८४, पृष्ठ २५

(१५७)

प्रश्न :– भेदज्ञानी क्या करता है ?

उत्तर :– भेदज्ञानी धर्मात्मा अपने भेदज्ञान की शक्ति से निज महिमा में लीन होता है। वह रागरूप किंचितमात्र भी नहीं परिणमता, ज्ञानरूप ही रहता है ॥३॥ – वीतराग-विज्ञान : जून १९८४, पृष्ठ २५

(१५८)

प्रश्न :– ज्ञानी को जैसे शरीर भिन्न दिखता है, वैसे रागादि भिन्न दिखते हैं क्या ?

उत्तर :– ज्ञानी को रागादि शरीर के जैसे ही भिन्न दिखते हैं, अत्यन्त भिन्न दिखते हैं ।।४।। – आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २२–२३

(१५९)

प्रश्न :– शरीर को आत्मा से भिन्न कहा, यह तो ठीक है, जँचता भी है; परन्तु राग आत्मा से भिन्न है, यह गले उतरना कठिन लगता है ?

उत्तर :– चैतन्य में अन्दर गया अर्थात् पुण्य-पापभाव का साक्षी हो गया, तब वह भाव से भिन्न है, काल से भिन्न है और क्षेत्र से भी भिन्न है; वस्तु भिन्न ही है, आत्मा तो अकेला ज्ञानघन चैतन्यपुंज ही है ।।५।।

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७९, पृष्ठ २७

(१६०)

प्रश्न :– सुख-दुःख की कल्पना जीव में होती हुई दिखाई देती है, तथापि समयसार में उस कल्पना को पुद्गलद्रव्य का परिणाम क्यों कहा ?

उत्तर :– सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि जीव की पर्याय में होते हैं, परन्तु जिसको द्रव्यदृष्टि प्रकट हुई है – ऐसे ज्ञानी जीव की दृष्टि तो द्रव्य के उपर पड़ी है, उसकी दृष्टि आत्मा के आनन्द में है। अतः वह जीव सुख-दुःख की कल्पना को कैसे भोगे ? इसलिए ज्ञानी के सुख-दुःख के राग परिणाम को पुद्गल का परिणाम कहा है, और इस सुखदुःख के परिणाम के आदि, मध्य और अन्त में अन्तव्यापक होकर पुद्गलद्रव्य उसको ग्रहण करता है, भगवान आत्मा उसको ग्रहण करता अथवा भोगता नहीं है। आत्मा का स्वरूप तो ज्ञायक है, कल्पना के सुख-दुःख को भोगना उसका स्वरूप नहीं है। पर्याय की सुख-दुःख की कल्पना होती है, किन्तु दृष्टिवन्त ज्ञानी उसका कर्ताभोक्ता नहीं है ।।६।।

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २५–२६

(१६१)

प्रश्न :– धर्मात्मा रागरूप नहीं परिणमता – इसका अर्थ क्या ? उसे राग तो होता है न ?

उत्तर :– राग होने पर भी उसे राग में एकत्वबुद्धि नहीं होती अर्थात् राग के साथ आत्मा की एकतारूप वह नहीं परिणमता, किन्तु राग से भिन्नपने ही परिणमता है ।।७।।

– वीतराग-विज्ञान जून १९८४, पृष्ठ २५

(१६२)

प्रश्न :– धर्मात्मा ज्ञानरूप ही रहता है – इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– भेदज्ञानी धर्मात्मा सर्व प्रसंगों में जानता है कि ज्ञान-स्वभाव ही मैं हूँ । चाहे जैसी प्रतिकूलता में घिर जाने पर भी अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा उसे कभी छूटती नहीं । इस भाँति सर्व प्रसंगों में अपने चैतन्यस्वभावरूप ही अनुभव करता रहने से धर्मात्मा ज्ञानरूप ही रहता है ॥८॥ – वीतराग-विज्ञान : जून १९८४, पृष्ठ २५

(१६३)

प्रश्न :– धर्मात्मा ज्ञानरूप ही रहता है और रागरूप बिल्कुल नहीं होता – यह किसका बल है ?

उत्तर :– यह भेद-विज्ञान का बल है । भेद-विज्ञान की ऐसी शक्ति है कि वह ज्ञान को ज्ञानरूप ही रखता है, उसमें किंचित् भी विपरीतता आने नहीं देता और न रागदिभावों को ही उसमें प्रविष्ट होने देता है । इसप्रकार भेद-विज्ञान का बल ज्ञान और राग को परस्पर एकमेक नहीं होने देता, अपितु भिन्न ही रखता है; इसीलिए भेदज्ञानी धर्मात्मा ज्ञानरूप ही रहता है, रागरूप नहीं होता ॥९॥

– वीतराग-विज्ञान : जून १९८४, पृष्ठ २५

(१६४)

प्रश्न :– विकारभावों को आत्मा से अन्य क्यों कहा, जबकि वे आत्मा में ही होते हैं ?

उत्तर :– आत्मा की अवस्था में जो राग-द्वेषादि विकारीभाव होते हैं, वे रूपी नहीं हैं और अजीव में भी नहीं होते । यद्यपि वे अरूपी हैं और आत्मा की ही अवस्था में होते हैं, तथापि द्रव्यदृष्टि में उन्हें आत्मा से अन्य वस्तु कहा गया है; क्योंकि आत्मा के शुद्धस्वभाव की अपेक्षा वे विकारभाव भिन्न हैं; अतः अन्यवस्तु हैं । वे विकारभाव शुद्धात्मा के आश्रय से नहीं होते, जड़ के लक्ष से होते हैं । धर्मात्मा की दृष्टि आत्मा के शुद्धस्वभाव के ऊपर है और उस स्वभाव में से विकारभाव आते नहीं, इसलिए धर्मी उनका कर्त्ता नहीं होता । अतः उन्हें जड़ पुद्गलपरिणाम कहकर आत्मा से अन्यवस्तु कहा गया है । वे परिणाम न तो पुद्गल में होते हैं और न उन्हें कर्म ही कराते हैं, वे आत्मा की ही पर्याय में होते हैं, तथापि पर्यायबुद्धि छुड़ाने और शुद्धद्रव्य को दृष्टि कराने के लिए उन्हें

आत्मा से अन्य कहा है; परन्तु उन्हें 'अन्य हैं' – ऐसा वही कह सकता है, जिसे शुद्धात्मा की दृष्टि हुई हो। अज्ञानी को तो विकार और आत्म-स्वभाव की भिन्नता का भान ही नहीं है, इसलिए वह तो दोनों को एकमेक मानकर विकार का कर्त्ता होता है, विकार उसके लिए आत्मा से अन्य नहीं रहा ॥१०॥ – वीतराग-विज्ञान : जून १९८४, पृष्ठ २५

(१६५)

प्रश्न :– आत्मा में राग-द्वेष होने पर भी 'वे राग-द्वेष मैं नहीं' – ऐसा उसी समय कैसे माना जाय ? राग-द्वेष के अस्तित्व के समय ही राग-द्वेष रहित ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा किसप्रकार हो सकती है ?

उत्तर :–राग-द्वेष तो पर्याय में हैं, उसीसमय यदि पर्यायदृष्टि को गौण करके स्वभावदृष्टि से देखो तो आत्मा का स्वभाव राग रहित ही है। राग होने पर भी शुद्धात्मा तो राग से रहित है। राग-द्वेष होना तो चारित्रगुण का विकारी परिणमन है और शुद्धात्मा को मानना श्रद्धागुण का तथा शुद्धात्मा को जानना ज्ञानगुण का निर्मल परिणमन है – इस-प्रकार प्रत्येक गुण का परिणमन भिन्न-भिन्न कार्य करता है।

चारित्र के परिणमन में विकारदशा होने पर भी श्रद्धा-ज्ञान गुण का परिणमन उसमें न लगकर त्रिकाली शुद्धस्वभाव में वढ़े – झुके; श्रद्धा की पर्याय ने विकार रहित सम्पूर्ण शुद्धात्मा को लक्ष करके स्वीकार किया और ज्ञान की पर्याय भी चारित्र के विकार का नकार करके स्वभाव का लक्ष करने लगी अर्थात् उसने भी विकाररहित शुद्धात्मा को जाना।

इसप्रकार चारित्र की पर्याय में राग-द्वेष होने पर भी श्रद्धा और ज्ञान स्वलक्ष द्वारा शुद्धात्मा की श्रद्धा और ज्ञान कर सकते हैं ॥११॥

– वीतराग-विज्ञान : अप्रेल १९८४, पृष्ठ २५

(१६६)

प्रश्न : – आत्मा और पर का सम्बन्ध नहीं है – यह समझने का प्रयोजन क्या ?

उत्तर :– पर के साथ सम्बन्ध नहीं अर्थात् परलक्ष से जो विकार होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है – इसप्रकार पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर तथा अपनी पर्याय का भी लक्ष छोड़कर अभेदस्वभाव की दृष्टि करना – यही प्रयोजन है ॥१२॥

– वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ २९

(१६७)

प्रश्न :– राग को जीव का कहें या पुद्गल का ?

उत्तर :– राग को जीव अपनी पर्याय में स्वयं करता है, अतः पर्याय दृष्टि से जीव का है। द्रव्यदृष्टि से जीवस्वभाव में राग है ही नहीं; अतः राग जीव का नहीं, पुद्गल के लक्ष से होता होने से पुद्गल का है ॥१३॥

– आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ २५

(१६८)

प्रश्न :– एक खूँटे से बाँधकर रखिये न ?

उत्तर :– जिस अपेक्षा से कहा जाता है, उस अपेक्षा से खूँटा मजबूत ही है। राग को सर्वथा पर का ही माने तो कभी उसका अभाव नहीं हो सकेगा। अतः पहले राग स्वयं ही अपने अपराध से करता है, कर्म नहीं कराते; ऐसा निर्णय करके फिर स्वभावदृष्टि कराने के लिए राग मेरा स्वरूप नहीं, औपाधिक भाव है – ऐसा कहा है। यहाँ राग को कर्मजन्य कहकर राग का लक्ष छुड़ाकर स्वभाव का लक्ष कराया है ॥१४॥

– आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ २५

(१६९)

प्रश्न :– समयसार गाथा ६ में समस्त अन्य द्रव्य के भावों से भिन्नपने उपासने में आता हुआ "शुद्ध" कहा जाता है – ऐसा कहा। यहाँ विकार से भिन्न उपासने में आता है। – ऐसा क्यों नहीं कहा ?

उत्तर :– अन्य द्रव्य के भावों से भिन्न उपासने पर विकार और पर्याय के ऊपर का भी लक्ष छूटकर स्वद्रव्य के ऊपर लक्ष जाता है ॥१५॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २८

(१७०)

प्रश्न :–आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्तपने नहीं होता, इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर :– आत्मा शुभ-अशुभरूप नहीं होता। यदि शुभ-अशुभरूप हो तो प्रमत-अप्रमत्तरूप हो, किन्तु शुद्धात्मा शुभाशुभ रूप से नहीं परिणमत्ता, इसलिए प्रमत्त-अप्रमत्तरूप से भी नहीं होता। अप्रमत्त सातवें गुणस्थान से तेरहवें तक है, उस पर्यायरूप आत्मा नहीं होता। आत्मा एकरूप ज्ञायकभावस्वरूप है। शुभाशुभरूप नहीं होता, इसलिए प्रमत्तरूप नहीं होता और प्रमत्तरूप हो तो उसका अभाव करके अप्रमत्तरूप हो।

आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त के भेदरूप नहीं होता। एकरूप ज्ञायकभाव स्वरूप ही है ॥१६॥ — आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २८

(१७१)

प्रश्न :– राग-द्वेष को जीव की पर्याय कहा है और फिर उसी को निश्चय से पुद्गल का परिणाम भी कहा। अब हम क्या निश्चय करें?

उत्तर :– राग-द्वेष है तो जीव का ही परिणाम, किन्तु वह पुद्गल के लक्ष्य से होता होने से और ज़ीव का स्वभावभाव न होने से तथा स्वभावदृष्टि कराने के प्रयोजन से. पुद्गल का कहा गया है; क्योंकि निमित्ताधीन होनेवाले भाव को निमित्त का भाव है, पुद्गल का भाव है– ऐसा कहने में आता है ॥१७॥ — आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २२

(१७२)

प्रश्न :– प्रथम भूमिका में जिज्ञासु जीव राग-द्वेष के भाव को अपना माने या पुद्गल का माने?

उत्तर :– रागादिभाव अपने में अपने अपराध से होते हैं – ऐसा जानकर, श्रद्धा में से निकाल दे; अर्थात् ऐसी श्रद्धा करे कि यह रागादि के परिणाम मेरे त्रिकाली स्वभाव में नहीं हैं ॥१८॥

— आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २२

(१७३)

प्रश्न :– राग आत्मा का है या पुद्गलकर्म का? दोनों प्रकार के कथन शास्त्र में आते हैं। कृपया रहस्य बतलाइए?

उत्तर :– वस्तु की सिद्धि करनी हो, तब राग व्याप्य है और आत्मा व्यापक है अर्थात् राग आत्मा का है – ऐसा कहा जाता है। जब दृष्टि शुद्धचैतन्य की हुई, सम्यग्दर्शन हुआ, तब निर्मलपर्याय व्याप्य और आत्मा व्यापक है। सम्यग्दृष्टि का जो राग है, वह व्याप्य और कर्म उसका व्यापक है अर्थात् सम्यग्दृष्टि का जो राग है, वह पुद्गल कर्म का कहा जाता है क्योंकि ज्ञानी जीव दृष्टि अपेक्षा राग से भिन्न पड़ गया है, इसलिए उसके राग में कर्म व्यापता है – ऐसा कहा जाता है ॥१९॥

— आत्मकर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २२

(१७४)

प्रश्न :– ज्ञानी द्रव्यदृष्टि के बल से राग को पुद्गल का मानता है तो क्या जिज्ञासु जीव भी राग को पुद्गल का मानता है?

उत्तर :– हाँ, जिज्ञासु जीव भी वस्तु के स्वरूप का चिन्तवन करते समय राग को आत्मा का नहीं मानता, पुद्‌गल का ही मानता है। राग तो उपाधिभाव है, पराश्रय से उत्पन्न होने के कारण मेरा नहीं है, पुद्‌गल का है – ऐसा विचार जिज्ञासु जीव करता है ॥२०॥

– आत्मधर्म : सितम्वर १६८१, पृष्ठ २४

(१७५)

प्रश्न :– राग पुद्‌गल का परिणाम है, पुद्‌गल का परिणाम है""ऐसा ही कहते रहेंगे तो राग का भय ही नहीं रहेगा, और फिर तो महादोष उत्पन्न होगा ?

उत्तर :– ऐसा नहीं होगा, राग की रुचि ही उत्पन्न नहीं होगी। राग की रुचि छोड़ने के लिए ही ऐसा जानना चाहिए कि राग पुद्‌गल का परिणाम है। भाई ! शास्त्र में कोई भी कथन स्वच्छन्दता उत्पन्न करने के लिए नहीं किया है, वीतरागता उत्पन्न करने के लिए ही किया है ॥२१॥

– आत्मधर्म : सितम्वर १६८१, पृष्ठ २४

(१७६)

प्रश्न :– भगवान की भक्ति आदि का शुभराग ज्ञानी को भी आता है और उस राग में पुद्‌गल ही व्याप्त होता है – ऐसा कहा जाता है; परन्तु यह वात वरावर नहीं लगती ?

उत्तर :– भाई ! राग तो जीव का ही परिणाम है; परन्तु पर के लक्ष से होता है, जीव का स्वभाव नहीं है, उपाधिभाव है; अतः उससे निवृत्त होने के लिए उसे पुद्‌गलकर्म भी कहा है ॥२२॥

– आत्मधर्म : सितम्वर १६८१, पृष्ठ २४

(१७७)

प्रश्न :– राग आत्मा का नहीं तो क्या राग जड़ में होता होगा ?

उत्तर :– राग जीव का स्वाभाविक परिणाम नहीं है, इसलिए शुभाशुभ राग को जड़ और अचेतन कहा है। राग आत्मा का स्वरूप है ही नहीं, चैतन्यपुन्ज कभी रागरूप हुआ ही नहीं। आत्मा के भान विना अनन्तवार नववें ग्रैवेयक में गया, किन्तु सम्यग्दर्शन विना लेशमात्र भी सुख नहीं पाया। अलिंगग्रहण के वोल में भी यति की क्रिया पंचमहाव्रतादि का आत्मा में अभाव कहा है। समयसार गाथा १८१ से १८३ तक में भी

कहा है कि ज्ञाननक्रियारूप आत्मा और क्रोधादिक्रियारूप आस्रव – ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। उनके प्रदेश भिन्न होने से दो वस्तुओं की सत्ता ही भिन्न-भिन्न है। बात यह है कि आभव के ऊपर से दृष्टि हटाना और द्रव्य के ऊपर दृष्टि देना – यहाँ यही अभीष्ट है। जहाँ तेरी वस्तु है नहीं, वहाँ से दृष्टि उठा ले और जहाँ तेरी वस्तु है, वहाँ दृष्टि डाल; तभी तुझे सुख और शान्ति मिलेगी ॥२३॥ – आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ २७

(१७८)

प्रश्न :– क्या राग आत्मा से भिन्न है और क्या यह निषेध करने योग्य भी है ?

उत्तर :– हाँ, राग आत्मा से भिन्न है; राग में ज्ञानगुण नहीं है और जिसमें ज्ञानगुण न हो, उसको आत्मा कैसे कहा जाय – इसलिए राग है, वह आत्मा नहीं है। आत्मा की शक्ति के निर्मल परिणाम से राग का परिणाम भिन्न है। आत्मा से भिन्न कहो या निषेध योग्य कहो – एक ही बात है। मोक्षार्थी को जैसे पराश्रित राग का निषेध है, उसीप्रकार पराश्रित ऐसे सर्व व्यवहार का भी निषेध ही है, राग और व्यवहार दोनों एक ही कक्षा में हैं – दोनों ही पराश्रित होने से निषेध योग्य हैं और उनसे विभक्त चैतन्य का एकत्वस्वभाव वही परम आदरणीय है ॥२४॥ – आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ २५

(१७९)

प्रश्न :– ज्ञान में राग नहीं ऐसा कहा तो जीव को जहाँ तक राग होगा, वहाँ तक वह ज्ञानी नहीं हो सकेगा ?

उत्तर :– भाई ! राग ज्ञानी को अपने ज्ञानभाव से एकमेक नहीं भासता, किन्तु भिन्न ही भासता है अर्थात् ज्ञानी राग में नहीं, किन्तु ज्ञानभाव में ही है – यह बात बराबर समझ में आवे तो पता लगे कि ज्ञानी क्या करता है ? राग के समय ज्ञानी राग करता है अथवा ज्ञान करता है – इसका विवेक अज्ञानी को नहीं होता, क्योंकि उसे अपने राग और ज्ञान की भिन्नता का भान नहीं है। सम्यक्त्वी को राग होने पर भी उसीसमय ज्ञान में ही एकत्वरूप परिणमन होने से और राग में एकस्वरूप परिणमन नहीं होने से वह ज्ञानी ही है ॥२५॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८२, पृष्ठ २७

(१८०)

प्रश्न :– वर्तमान में राग सहित होने पर राग रहित स्वभाव की श्रद्धा कैसे हो सकती है ? जबतक हमारी पर्याय में राग विद्यमान है, तबतक राग रहित स्वभाव की श्रद्धा कैसे हो ? पहले राग छूट जाय, तब राग रहित स्वभाव की श्रद्धा हो।

उत्तर :– ऐसे जीव राग को ही अपना स्वरूप मानकर सम्यक् श्रद्धा नहीं करते और पर्यायदृष्टि को छोड़कर स्वभावदृष्टि से अपने राग रहित स्वरूप का अनुभव नहीं करते। जिस समय क्षणिकपर्याय में राग हैं, उसी समय राग रहित त्रिकालीस्वभाव भी साथ में पड़ा है; इसलिए पर्यायदृष्टि को छोड़कर स्वभाव की प्रतीति करने पर उस प्रतीति के बल पर राग अल्पकाल में टल जायेगा। उस प्रतीति के बिना तो राग टलनेवाला है नहीं। 'राग टले तो श्रद्धा करें' अर्थात् 'पर्याय सुधरे तो द्रव्य को मानें' – ऐसी मान्यतावाले जीव पर्यायदृष्टि हैं – पर्यायमूढ़ हैं। उन्हें स्वभावदृष्टि नहीं है और वे मोक्षमार्ग के क्रम को जानते नहीं हैं, क्योंकि वे सम्यक् श्रद्धा से पहले सम्यक्चारित्र करना चाहते हैं। पर्याय-दृष्टि से अपने को रागस्वभावी मान लेगा तो राग दूर नहीं हो सकेगा। सम्यग्दृष्टि जीव अभिप्राय-अपेक्षा से वीतराग है और उसी अभिप्रायपूर्वक के विशेषपरिणमन से उसे चारित्र-अपेक्षा भी वीतरागता प्रगट हो जाती है। पहले अभिप्राय-अपेक्षा से वीतरागता प्रगट हुए बिना किसी भी जीव को चारित्र – अपेक्षा से वीतरागता प्रगट नहीं हो सकती। जबतक राग रहेगा, तबतक श्रद्धा सम्यक् नहीं हो सकती – ऐसा जो मानता है, वह श्रद्धागुण और चारित्रगुण के कार्य को भिन्न न मानकर एक ही मानता है; उसको न तो श्रद्धा का स्वीकार है और न चारित्र का ही और ऐसी स्थिति में उसे सचमुच आत्मा का ही स्वीकार नहीं है ॥२६॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९८३, पृष्ठ २५-२६

(१८१)

प्रश्न :– ज्ञान में राग तो जाना जाता है फिर भी ज्ञान से राग एकमेक हो गया हो – ऐसा क्यों लगता है ?

उत्तर :– भेदज्ञान के अभाव से अज्ञानी राग और ज्ञान की अति निकटता देखकर उन दोनों को एकमेक मान लेता है; परन्तु राग और ज्ञान का एकत्व है नहीं ॥२७॥ – आत्मधर्म : नवम्बर १९७७, पृष्ठ २५

(१८२)

प्रश्न :– समयसार संवराधिकार की प्रारंभिक गाथा १८१ की टीका में कहा है कि वास्तव में एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है। वहाँ यह भी कथन है कि जीव और राग के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। कृपया स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर :– वास्तव में एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है, इसलिए दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। आत्मवस्तु से शरीरादि परद्रव्य तो भिन्न हैं ही; किन्तु यहाँ तो मिथ्यात्व व राग-द्वेष के जो परिणाम हैं, वे भी निर्मलानन्द प्रभु – ऐसे आत्मा से भिन्नस्वरूप हैं। अतः पुण्य-पापभाव आत्मा के भाव से भिन्न हैं और भाव से भिन्न होने के कारण उनके प्रदेश भी भिन्न हैं। असंख्यप्रदेशी आत्मा है, उससे आस्रव के प्रदेश भिन्न हैं। ये हैं तो जीव के प्रदेश में ही; परन्तु निर्मलानन्द प्रभु असंख्यप्रदेशी ध्रुव है, उससे आस्रवभाव के प्रदेश भिन्न हैं। आत्मा और आस्रव को भाव से भिन्नता है, इसलिए उनके प्रदेश को भिन्न कहा और आत्मा के आश्रय से प्रकट हुई निर्मलपर्याय भी आस्रववस्तु से भिन्न कही गई है। भाव से भिन्न होने के कारण उनके प्रदेश को भी भिन्न कहकर वस्तु ही भिन्न है – ऐसा कथन आचार्य ने किया है ॥२८॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २१-२२

(१८३)

प्रश्न :– क्रोधादिभाव आत्मा से भिन्न वस्तु हैं – ऐसा कहा है। यहाँ क्रोधादिभाव को 'वस्तु' क्यों कहा ?

उत्तर :– क्रोधादिभाव को 'वस्तु' इसलिए कहा कि क्रोधादि अवस्था में वीतरागी अवस्था की नास्ति है, उस एक अवस्था में अन्य अनन्त अवस्थाओं की नास्ति है और उस अवस्था की स्वयंपने अस्ति है – ऐसा उसका अस्ति-नास्तिस्वभाव है, इसलिए वह भी वस्तु है। वह त्रिकाली द्रव्यरूप वस्तु नहीं है, क्षणिक पर्यायरूप वस्तु है। विकार विकारपने है, पर स्वभावपने नहीं है, पूर्व और पश्चात् की अवस्थापने नहीं है, जडकर्मपने नहीं है, अर्थात् अपने स्वरूप से उस विकार की अस्ति और दूसरे अनन्त पदार्थपने नास्ति है – इसप्रकार अनन्तधर्म उसमें सिद्ध हुए। एकद्रव्य के अनन्तगुण और एक-एक गुण की अनन्त अनन्त पर्यायें, उस एक-एक पर्याय में अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद और एक-एक अविभाग

प्रतिच्छेद अंश में दूसरे अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद अंशों की नास्ति है – इसप्रकार एक-एक अविभाग प्रतिच्छेद अंश में अनन्त अस्ति-नास्ति धर्म हैं; इसलिए क्रोधादिभावों को वस्तु कहा है ।।२६।।

– वीतराग-विज्ञान : जून १६८४, पृष्ठ २६

(१८४)

प्रश्न :– रागादिक की तथा ज्ञान की उत्पत्ति एक ही क्षेत्र और एक ही समय में होती है, फिर इन दोनों की भिन्नता किसप्रकार है ?

उत्तर :– जिससमय और जिस क्षेत्र में रागादिक की उत्पत्ति होती है, उसीसमय और उसी क्षेत्र में ज्ञान की उत्पत्ति होती होने से अज्ञानी को भ्रम से वे दोनों एक ही प्रतीत होते हैं; फिर भी वे रागादिक और ज्ञान स्वभाव से भिन्न-भिन्न ही हैं, एक नहीं। बन्ध का लक्षण रागादि है और चैतन्य का लक्षण जानना है। इसप्रकार दोनों के लक्षण भिन्न हैं। रागादिक का चैतन्य के साथ एक ही समय और एक ही क्षेत्र में उपजना होता है; वह चेत्य-चेतक, ज्ञेय-ज्ञायकभाव की अति निकटता से होता है, किन्तु एक द्रव्यपने से कारण नहीं। जिसप्रकार प्रकाश में आते हुए घटपटादि पदार्थ दीपक के प्रकाशपने की प्रसिद्धि करते हैं, घटपटादि की नहीं; उसीप्रकार जानने में आते हुए रागादिकभाव आत्मा के ज्ञायकपने की ही प्रसिद्धि करते हैं, रागादिक की नहीं। कारण कि दीपक का प्रकाश दीपक से तन्मय है, इसलिए प्रकाश दीपक की प्रसिद्धि करता है। ज्ञान भी आत्मा से तन्मय होने से आत्मा को प्रकाशित प्रसिद्ध करता है, रागादिक को नहीं। काम, क्रोधादिभाव ज्ञान में ज्ञात होते हैं, वे वास्तव में रागादिक को नहीं प्रकाशते; क्योंकि रागादि ज्ञान में तन्मय नहीं है, किन्तु रागादिक से सम्बन्धित ज्ञान अपने ज्ञान को प्रकाशित करता है। चैतन्य स्वयं प्रकाशकस्वभावी होने से परसम्बन्धी अपने ज्ञान को प्रकाशता है, पर को नहीं प्रकाशता। पहले कहा कि आत्मा पर को प्रकाशित करता है, वह व्यवहार से बात की थी; किन्तु वास्तव में देखा जाय तो आत्मा परसम्बन्धी अपने ज्ञान को ही प्रकाशित करता है।

समस्त जगत की वस्तुएँ ज्ञानप्रकाश में आ नहीं जाती और ज्ञानप्रकाश भी जगत की वस्तुओं में चला नहीं जाता। जगत की वस्तुयें हैं, उन सम्बन्धी अपनी पर प्रकाशकता ज्ञानप्रकाश को ही प्रकाशित करती है। इससे सिद्ध हुआ कि बन्धस्वरूप रागादि का और प्रकाशस्वरूप ज्ञान का लक्षण भिन्न होने से उनमें परस्पर एकत्व नहीं है। उन दोनों के

स्वलक्षण भिन्न-भिन्न जानकर भगवती प्रज्ञछैनी को उन दोनों की अंतरंगसंधि में पटकने से अर्थात् ज्ञान को आत्मा के सन्मुख करने से राग से भिन्न चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है ॥३०॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९८०, पृष्ठ २६-२७

(१८५)

प्रश्न :– क्या भावलिंग भी जीव का स्वरूप नहीं है ?

उत्तर :– द्रव्यलिंग तो, सर्वथा ही जीव का स्वरूप नहीं और भावलिंग जो सम्यग्दर्शन-चारित्र की शुद्ध निर्मल पर्याय है और पूर्ण स्वरूप – ऐसे मोक्ष का साधक है, वह भी उपचार से जीव का स्वरूप कहा गया है; परमार्थ सूक्ष्म शुद्धनिश्चयनय से वह भी जीव का स्वरूप नहीं है। साधक पर्याय को द्रव्य की है, ऐसा उपचार से कहा गया है। देहादि अथवा रागादि तो जीव के हैं ही नहीं; परन्तु यहाँ तो भावलिंग की पर्याय जो मोक्ष की साधक है, उसे भी जीव की है – ऐसा उपचार से कहा गया है। पर्याय का लक्ष छुड़ानेवाली, भेदज्ञान की पराकाष्ठा को छूनेवाली परमात्मप्रकाश की ८८वीं गाथा में यह बात कही है। ध्रुव-स्वभाव के सन्मुख जो ध्यान की अकषाय साधकपर्याय प्रगट होती है, वह भी उपचार से जीव का स्वरूप है, परमार्थ से तो त्रिकाली ध्रुव-स्वभाव ही जीव का स्वरूप है – ऐसी बात तो किसी भाग्यशाली के ही कर्णगोचर होती है ॥३१॥ – आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ २७-२८

(१८६)

प्रश्न :– एक ओर कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि परद्रव्य को भोगते हुए भी बँधता नहीं और दूसरी ओर कहते हैं कि जीव परद्रव्य को भोग नहीं सकता तो दोनों में से सत्य किसे मानें ?

उत्तर :– ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी जीव परद्रव्य को नहीं भोग सकता, परन्तु अज्ञानी मानता है कि मैं परद्रव्यों को भोग सकता हूँ; अतः यहाँ अज्ञानी की भाषा में अर्थात् व्यवहार से कहते हैं कि परद्रव्यों को भोगते हुए भी ज्ञानी बँधता नहीं है, क्योंकि ज्ञानी को राग में एकत्व बुद्धि नहीं है। अतः परद्रव्य को भोगते हुए भी ज्ञानी को बंध नहीं होता – ऐसा कहते हैं।

ज्ञानी को चेतन द्रव्यों का घात होते हुए भी बंध नहीं होता – इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि स्वच्छंद होकर परजीव का घात होने में

नुकसान नहीं। इसका आशय यह है कि जिसे राग की रुचि छूट गयी है और आत्मा के आनन्द का भान और वेदन वर्तते हुए भी निर्बलता से राग आता है तथा चारित्र-दोष के निमित्त से होनेवाले चेतन के घात से जो अल्प बंध होता है, उसे गौण करके 'ज्ञानी को बंध नहीं होता' – ऐसा कहा है; परन्तु जिसे राग की रुचि है और मैं परद्रव्य को मार सकता हूँ, भोग सकता हूँ, ऐसी रुचिपूर्वक भाव में (राग में) एकत्वबुद्धि होने से हिंसाकृत बंध अवश्य होता है।

परसन्मुखता से होनेवाले परिणाम को एकत्वबुद्धि की अपेक्षा अध्यवसान कहकर बंध का कारण कहा है। पर में एकत्व बुद्धि हुए विना जो राग होता है, उसे भी अध्यवसान कहते हैं; परन्तु उसमें मिथ्यात्व का बंध नहीं होता, अल्पराग का बंध होता है, उसे गौण करके, 'बँध नहीं होता' – ऐसा कहते हैं। स्वभावसन्मुख परिणाम को भी स्वभाव में एकत्वरूप होने से अध्यवसान कहते हैं, परन्तु वह अध्यवसान मोक्ष का ही कारण है।

जो देव-शास्त्र-गुरु और धर्म का स्वरूप समझे, उसे सम्यग्दर्शन होता ही है। ऐसे संस्कार लेकर कदाचित् अन्य भव में चला जाय तो वहाँ भी यह संस्कार फलेगा ॥३२॥

– आत्मधर्म : मई, १९७७, पृष्ठ २२-२३

(१८७)

प्रश्न :– भेदज्ञान करते समय किसकी मुख्यता करनी चाहिए ? पर या पर्याय, ज्ञेय – किससे भेदज्ञान करना चाहिए ?

उत्तर :– यह सब एक ही है। भेदज्ञान का अभ्यास करते समय विचार तो सभी आते हैं, परन्तु जोर अन्दर का आना चाहिए ॥३३॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९८१, पृष्ठ २४

(१८८)

प्रश्न :– अज्ञानी जिज्ञासु जीव स्वभाव और विभाव के भेदज्ञान करने का प्रयत्न करता है, किन्तु स्वभाव को देखे विना स्वभाव से विभाव भिन्न कैसे होगा ?

उत्तर :– यदि पहले से ही जिज्ञासु जीव ने स्वभाव को देखा हो, तब तो भेदज्ञान कराने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिज्ञासु पहले अनुमान

से निर्णय करता है कि यह पर की ओर झुकने का भाव विभाव है, उस विभाव में आकुलता है – दुःख है और अन्तर्लक्षीभाव में शान्ति–सुख है। इसप्रकार वह प्रथम अनुमान से निश्चय करता है ॥३४॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९८१, पृष्ठ २५

(१८९)

प्रश्न :– धर्म का मर्म क्या है ?

उत्तर :– आत्मा अपने स्वभाव-सामर्थ्य से पूर्ण है और पर से अत्यन्त भिन्न है – ऐसी स्व-पर की भिन्नता को जानकर स्वद्रव्य के अनुभव से आत्मा शुद्धता प्राप्त करता है – यही धर्म का मर्म है ॥३५॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७७, पृष्ठ २४

(१९०)

प्रश्न :– परलक्षी ज्ञान से तो आत्मा जानने में आता नहीं और अनादि मिथ्यादृष्टि के स्वलक्षी ज्ञान है नहीं तो साधन क्या ? समझाइए।

उत्तर :– राग से भिन्न पड़ना साधन है। प्रज्ञाछैनी को साधन कहो अथवा अनुभूति को साधन कहो – यह एक ही साधन है ॥३६॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७७, पृष्ठ २४

(१९१)

प्रश्न :– राग और आत्मा की सूक्ष्म सन्धि दिखलाई नहीं पड़ती, अन्य विचार आते रहते हैं तो प्रज्ञाछैनी कैसे पटकें ?

उत्तर :– स्वयं विपरीत पुरुषार्थ करता है, इसलिए अन्य विचार आते हैं। पुरुषार्थ करके उपयोग को स्वभावसन्मुख सूक्ष्म करे तो आत्मा और बन्ध की संधि अवश्य दृष्टिगोचर हो और दोनों को भिन्न कर सके ॥३७॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९८०, पृष्ठ २७

(१९२)

प्रश्न :– आत्मा और बन्ध को भिन्न करने का साधन क्या ?

उत्तर :– आत्मा और बन्ध को भिन्न करने में भगवतीप्रज्ञा ही एक साधन है। राग से भिन्न स्वभावसन्मुख झुकाव करना, एकाग्रता करना, ढलना – यही एक साधन है। राग से भिन्न पड़ने में ज्ञानातिरिक्त अन्य कोई साधन है ही नहीं ॥३८॥ – आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २५

(१९३)

प्रश्न :– आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता, लिख नहीं सकता, बोल नहीं सकता – ऐसा ज्ञानी को बराबर भान है, फिर भी 'मैं लिखूँ, मैं बोलूँ' – ऐसा विकल्प क्यों उठता है ? नभकुसुम तोड़ने का अथवा वन्ध्यापुत्रहनन का भाव ज्ञानी-अज्ञानी किसी को भी नहीं आता; क्योंकि वह असत् है, तब इस अशक्य कार्य का विकल्प क्यों आता है ?

उत्तर :– ज्ञानी के अन्तर में ज्ञान और राग का भेदज्ञान वर्तता है। उसे तो राग की भी कर्त्तृत्वबुद्धि नहीं है तो फिर देहादिक्रिया की, लेखनादिक्रिया की कर्त्तृत्वबुद्धि कैसे हो सकती है ? ज्ञान और राग का भिन्न अनुभव किये बिना 'ज्ञानी का अन्तर क्या कार्य कर रहा है' – उसका ज्ञान; अज्ञानी नहीं कर सकता अतः प्रथम ज्ञानस्वभाव और रागादि को भेदज्ञान द्वारा भिन्न जानना चाहिए। यह जानने के बाद 'ज्ञानी को लेखनादि का विकल्प क्यों उठता है' – यह प्रश्न ही नहीं उठता। ज्ञानी की दृष्टि ही पर और राग के ऊपर से हट गई है, अतः उसे अस्थिरता के अल्पराग में ऐसा जोर ही नहीं आता कि जिससे कर्त्तृत्वबुद्धि उत्पन्न हो। वास्तव में उसके ऐसी भावना ही नहीं है कि 'मैं करूँ', उसके तो 'मैं जानूँ' - ऐसी ही भावना है। राग का विकल्प तो पराश्रय से उत्पन्न होता है, पराश्रित राग में लिखने आदि के विकल्प उठते तो हैं, परन्तु उसीसमय ज्ञान में ऐसी मान्यता नहीं है कि मैं लिख या बोल सकता हूँ; इससे सिद्ध होता है कि राग आत्मा का स्वभाव नहीं है, ज्ञानी के ज्ञान और विकल्प भिन्न-भिन्न हैं ॥३९॥

– वीतराग-विज्ञान : जून १९८४, पृष्ठ २५

(१९४)

प्रश्न :– इस भेदज्ञान की भावना कबतक करनी चाहिए ?

उत्तर :– जबतक ज्ञान ज्ञान में ही न ठहर जाय। तबतक अच्छिन्न-धारा से भेदज्ञान भाना। पर से भिन्न शुद्धात्मा की भावना करते-करते ज्ञान के ज्ञान में ठहरने पर रागादि से भिन्न – होकर सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। उसके पश्चात् भी पर से भिन्न – ऐसे शुद्धात्मा की सतत् भावना करते-करते केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है ; अतः केवलज्ञान होने तक अच्छिन्नधारा से भेदज्ञान की भावना करना चाहिए। इस भेदज्ञान की भावना को रागरूप मत समझना, अपितु शुद्धात्मा के अनुभवरूप समझना ॥४०॥

– वीतराग-विज्ञान : जून १९८४, पृष्ठ २५

(१९५)

प्रश्न :– एक ओर तो कहते हैं कि ज्ञानी का भोग निर्जरा का कारण है और दूसरी ओर कहते हैं कि शास्त्र की ओर जानेवाला लक्ष शुभराग होने से बन्ध का कारण है। यहाँ प्रश्न है कि जब शास्त्रलक्षी शुभराग भी बन्ध का कारण है तो फिर भोग भोगनेरूप अशुभराग निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है ?

उत्तर :– ज्ञानी के ज्ञान का अचिन्त्य माहात्म्य बताने के लिए भोग को निर्जरा का कारण कहा है, भोग की पुष्टि के लिए नहीं। समयसार में एक जगह कहते हैं कि हे ज्ञानी ! तू परद्रव्य के भोग को भोग – ऐसा कहकर आचार्यदेव कहीं भोग भोगने की प्रेरणा नहीं दे रहे हैं, अपितु उनके कहने का आशय यह है कि इस जीव को परद्रव्य के कारण किंचित् भी बन्ध नहीं होता । शास्त्र में जहाँ जिस आशय से, अभिप्राय से कथन किया गया हो, वहाँ, उसी अभिप्राय से समझना चाहिए ।।४१।। – आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ २७

(१९६)

प्रश्न :– संयमलब्धिस्थान को पुद्गल का परिणाम कहा है तो वहाँ सरागसंयम लेना या वीतरागसंयम ?

उत्तर :– संयम सराग होता नहीं। वीतरागी संयम है, शुद्धपर्याय है; परन्तु दो भेद पड़ते हैं और उनके ऊपर लक्ष देने से राग होता है, इसलिए उसे पुद्गल का परिणाम कहा है। जीव तो एकरूप अखण्ड है; उसमें भेद करने पर जितने परिणाम जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान के हों; वे सब पुद्गल की रचना है, जीव की नहीं – ऐसा निस्सन्देह जानों ।।४२।। – आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २८

(१९७)

प्रश्न :– उपयोग को कितना अन्दर ले जाने से आत्मा का दर्शन होता है – आत्मा प्राप्त होता है ?

उत्तर : – जो उपयोग बाहर में जाता है, उसे अन्दर स्व में ले जाना है। उपयोग का स्व में ले जाना ही अन्दर ले जाना कहा जाता है। उपयोग के स्व में ढलते ही आत्मा का दर्शन होता है ।।४३।।

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २३

(१९८)

प्रश्न :– क्या आत्मा और राग का भेद ज्ञान करना अशक्य है ?

उत्तर :– नहीं, नहीं। यद्यपि आत्मा और राग की संधि अतिसूक्ष्म है, बहुदुर्लभ है, दुर्लभ है; तथापि अशक्य तो नहीं। ज्ञानोपयोग को अति-सूक्ष्म करने पर वह आत्मा लक्ष में आ सकता है। पंचमहाव्रत के परिणाम अथवा शुक्ललेश्यारूप कषाय की मन्दता के परिणाम अतिसूक्ष्म अथवा दुर्लभ नहीं हैं; किन्तु आत्मा अतिसूक्ष्म है, अतः उपयोग को अतिसूक्ष्म करने से आत्मा अनुभव में आता है ॥४४॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २३

(१९९)

प्रश्न :– स्वद्रव्य को परद्रव्य से भिन्न देखो – ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है। कृपया इस का कुछ विस्तृत विवेचन कीजिए ?

उत्तर :– देह-मन-वाणी तथा स्त्री-पुत्रादि तो परद्रव्य होने से भिन्न हैं ही; किन्तु देव-शास्त्र-गुरु भी परद्रव्य होने से आत्मा से भिन्न ही हैं – ऐसा देखो। एक द्रव्य अन्यद्रव्य का कुछ भी कर सकता नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव चमत्कारिक है। एक रजकण दूसरे रजकण का कार्य किंचित्मात्र भी नहीं कर सकता। लकड़ी हाथ से ऊँची उठी नहीं अथवा कलम से अक्षर लिखे नहीं गये, कारण कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य से भिन्न है। स्वद्रव्य और पर-द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखने में द्रव्य की प्रभुता है ॥४५॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९७९, पृष्ठ २६

(२००)

प्रश्न :–परमात्मा होने के लिए ज्ञानियों ने शास्त्रों में क्या कहा है ?

उत्तर :– सर्व शास्त्रों के सार में ज्ञानियों ने पर और विकार से भिन्न इस ज्ञानानन्द चैतन्यरत्न को ही पहिचानने के लिए कहा है। पूर्वप्रारब्धानुसार जो संयोग-वियोग होते हैं, वे चैतन्य नहीं और वह प्रारब्ध भी आत्मा नहीं तथा जिस भाव से प्रारब्ध बँधा, वह भाव भी आत्मा नहीं है। शरीरादि संयोग से भिन्न – ऐसे चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का भान करे तो परमात्मा बनता है और फिर कभी वह संसार में अवतरित नहीं होता ॥४६॥ – आत्मधर्म : मार्च १९८३, पृष्ठ २४

(२०१)

प्रश्न :– आत्मा मात्र जाननेवाला ही है – ऐसा आपने कहा। अब इसमें करने के लिए रह ही क्या गया है ?

उत्तर :– अरे भाई ! इसमें तो अपार करने के लिए है। देहादि परद्रव्य की तरफ जो लक्ष जाता है, उस लक्ष को जाननेवाला – ऐसा जो अपना आत्मा, उस आत्मा को जानने में उपयोग को लगाना है। आत्मा को जानने में तो अनन्त पुरुषार्थ आता है ॥४७॥

–आत्मधर्म : नवम्बर १९८० पृष्ठ २८

(२०२)

प्रश्न :– परपदार्थ बन्ध के कारण नहीं हैं तो उनके संग का निषेध क्यों किया जाता है ?

उत्तर :– यद्यपि बन्ध के कारण तो जीव के परिणाम ही हैं, बाह्य वस्तु नहीं; तथापि बाह्य वस्तु के आश्रय से होनेवाले अध्यवसान को छुड़ाने के लिए उसके आश्रयभूत बाह्य वस्तु का निषेध किया जाता है। बाह्य वस्तु के आश्रय बिना अध्यवसान नहीं होते; अतः अध्यवसान का निषेध करने के लिए बाह्य वस्तु के संग का निषेध करते हैं, उसका लक्ष छुड़ाते हैं ॥४८॥ – आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २२

(२०३)

प्रश्न :– स्वद्रव्य क्या है और परद्रव्य क्या है ? मोक्षार्थी जीव को किसे अंगीकार करना ?

उत्तर :– प्रत्यक्ष में बाह्य और भिन्न दिखनेवाले स्त्री, पुत्र, धन, मकानादि तथा एकक्षेत्रावगाही सम्बन्धवाले शरीर और अष्टकर्म तो परद्रव्य हैं ही; इनके अतिरिक्त जीव-अजीवादि सातों तत्त्वों के सम्बन्ध में उठनेवाले विकल्प भी पर हैं तथा इन सात तत्त्वों के विकल्पों से अगोचर जो शुद्ध अभेद आत्मस्वरूप है; वही एक स्वद्रव्य है, वही जीव है और एक वही अंगीकार करने योग्य है। शुद्धजीव को अंगीकार करने से शुद्ध-भाव प्रगट होता है। अंगीकार करने का अर्थ है – उसी शुद्धजीव की श्रद्धा करना, उसी का ज्ञान करना और उसी में लीन होना ॥४९॥

– वीतराग-विज्ञान : अप्रेल १९८४, पृष्ठ २९

(२०४)

प्रश्न :– स्वयं ही अपना ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता है तो अन्य छह द्रव्य ज्ञेय और स्वयं उनका ज्ञाता है; यह ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध छोड़ना अशक्य क्यों कहा ?

उत्तर :– छह द्रव्य तो ज्ञेय और स्वयं उनका ज्ञाता है। इस ज्ञेय-ज्ञायक के सम्बन्ध को छोड़ना अशक्य कहा है सो वहाँ तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताया है; किन्तु यहाँ तो स्व-अस्तित्व में रहने वाला स्वयं ही ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता है – इसप्रकार निश्चय बतलाकर पर का लक्ष छुड़ाया है ॥५०॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १६७६, पृष्ठ २५

(२०५)

प्रश्न :– क्या ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धी भ्रम भी जीव को रहता है ?

उत्तर :– हाँ, जीव से भिन्न पुद्गलादि छह द्रव्य ज्ञेय और आत्मा उनका ज्ञायक – ऐसा निश्चय से नहीं है। अरे ! राग ज्ञेय और आत्मा उसका ज्ञायक – ऐसा भी नहीं है। परद्रव्यों से लाभ तो है ही नहीं; किन्तु परद्रव्य ज्ञेय और उनका तू ज्ञाता – ऐसा भी वास्तव में नहीं है। "मैं जाननेवाला हूँ, मैं ही जानने योग्य हूँ, मैं ही मुझे जानता हूँ, अपने अस्तित्व में जो है, वही स्वज्ञेय है।" – इसप्रकार परमार्थ का प्रतिपादन करके पर-तरफ का लक्ष छुड़ाया है ॥५१॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १६७६, पृष्ठ २५

(२०६)

प्रश्न :– "ज्ञेय-ज्ञायकपने का निर्दोष सम्बन्ध धर्मात्मा को होता है।" कृपया समझाइए ?

उत्तर :– शरीर-मन-वाणी परवस्तुएँ हैं, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं; इसलिए 'उनकी अनुकूल क्रिया हो तो मुझे ठीक और प्रतिकूल क्रिया हो तो मुझे अठीक' – ऐसे उनके प्रति मुझे कोई पक्षपात नहीं है, चैतन्य ज्योति ही मेरा स्वभाव है – इसप्रकार प्रथम अपने स्वभाव की पहचान करना चाहिये। ज्ञानी जानता है कि मैं तो ज्ञाता हूँ और ये शरीरादि सब पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं। मैं ज्ञाता और ये ज्ञेय – इसके अलावा अन्य कोई सम्बन्ध हमारा इनके साथ नहीं है। जिसप्रकार जननी के साथ पुत्र का मातारूप निर्दोष सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य किसी अटपटे सम्बन्ध की कल्पना कभी स्वप्न में भी नहीं हो सकती; उसीप्रकार मैं चैतन्यमूर्त्ति आत्मा ज्ञायक हूँ और सारे पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं, इस ज्ञेय-

ज्ञायक निर्दोष सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध मेरा परद्रव्य के साथ स्वप्न में भी नहीं है; मेरा तो उनके साथ मात्र जानने भर का ही सम्बन्ध है।

जैसे अंधकार में कोई पुरुष किसी को भ्रम से अपनी स्त्री समझकर विकारपूर्ण भाव से उसके समीप गया, तत्काल विद्युत् प्रकाश में उसका अवलोकन होते ही ज्ञान हुआ कि यह तो मेरी माता है, वहाँ तब तुरन्त ही उसकी वृत्ति पलट जाती है कि अरे ! यह तो मेरी जननी है। जननी की पहिचान होते ही विकारवृत्ति पलटी और माता-पुत्र के सम्बन्धरूप निर्दोषवृत्ति जागृत हुई। वैसे ही अज्ञानदशा में परवस्तु को अपनी मानकर उसमें इष्टानिष्ट कल्पना करता था और कर्त्ता-भोक्ता का भाव करके विकाररूप परिणमता था, किन्तु ज्ञानप्रकाश होने पर भान हुआ कि अहो ! मेरा तो ज्ञायकस्वभाव है और इन पदार्थों का ज्ञेयस्वभाव है – ऐसा निर्दोष ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का भान होते ही धर्मी को विकारभाव का नाश होकर निर्दोष ज्ञायकभाव प्रगट होता है। अभी अस्थिरता का राग-द्वेष होने पर भी धर्मी की रुचि पलट गई है कि मैं तो चैतन्यस्वरूप सबका जाननेवाला हूँ, अन्य पदार्थों के साथ मेरा ज्ञेय-ज्ञायक स्वभावरूप सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं है ॥५२॥ – आत्मधर्म : जनवरी १९८३, पृष्ठ २४

(२०७)

प्रश्न :– प्रभू ! मैं संसाररोग से पीड़ित रोगी हूँ। इस रोग को मिटानेवाले आप जैसे वैद्य के पास आया हूँ। कोई अमोघ उपाय बतलाइए ?

उत्तर :– कोई रोगी है ही नहीं। मैं रोगी हूँ – एसी मान्यता छोड़ दे। मेरा चैतन्यस्वभाव त्रिकाल निरोगी परमात्मस्वरूप ही है ॥५३॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २६

विद पण्डित नाम कहावत है, विद अन्त जु अन्तहि पावत है।
निज ज्ञान प्रकाश सु अन्त लहो, कुछ अंश न जानन माहिं रहो ॥२८॥

– सिद्धचक्रविधान; तृतीय पूजा, छन्द २८

(५)

सम्यग्दर्शन

(२०८)

प्रश्न :– सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण क्या है ?

उत्तर :– स्व-पर का यथार्थ भेदज्ञान सदा सम्यक्त्व के साथ ही होता है तथा यह दोनों पर्यायें एक ही स्व-द्रव्य के आश्रय से होती हैं, इसलिए भेदविज्ञान सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण है। गुण-भेद की अपेक्षा से सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण निर्विकल्प प्रतीति है और सम्यक्त्व का अनात्मभूत लक्षण भेदविज्ञान है – ऐसा भी कहा जाता है। किन्तु निर्विकल्प अनुभूति को सम्यक्त्व का लक्षण नहीं कहा, क्योंकि वह सदा टिकी नहीं रहती। इतनी बात अवश्य है कि सम्यक्त्व के उत्पत्तिकाल में अर्थात् प्रकट होते समय निर्विकल्प अनुभूति अवश्यमेव होती है, इसलिए उसे 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' अर्थात् सम्यक्त्व प्रकट होने का लक्षण कह सकते हैं।

अनुभूति सम्यक्त्व के सद्भाव को प्रसिद्ध अवश्य करती है, परन्तु जिस समय अनुभूति नहीं हो रही होती है, उस समय भी सम्यक्त्वी के सम्यक्त्व का सदभाव तो रहता ही है; इसलिए अनुभूति को सम्यक्त्व के लक्षण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। लक्षण तो ऐसा होना चाहिये कि जो लक्ष्य के साथ सदैव रहे और जहाँ लक्षण न हो, वहाँ लक्ष्य भी न हो ॥१॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९७७, पृष्ठ २३

(२०९)

प्रश्न :– अनुभूति को सम्यग्दर्शन का लक्षण कह सकते हैं या नहीं ?

उत्तर :– अनुभूति को लक्षण कहा है लेकिन वास्तव में तो वह

ज्ञान की पर्याय है, सही लक्षण तो प्रतीति ही है। केवल आत्मा की प्रतीति – यह श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) का लक्षण है ।।२।।

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ २४

(२१०)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए पात्रता कैसी होनी चाहिये ?

उत्तर :– पर्याय सीधी द्रव्य को पकड़े, वह सम्यग्दर्शन की पात्रता है। तदतिरिक्त व्यवहार-पात्रता तो अनेक प्रकार की कही जाती है। मूल पात्रता तो दृष्टि द्रव्य को पकड़कर स्वानुभव करे, वही है ।।३।।

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २२

(२११)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले की व्यवहार योग्यता कैसी होती है ?

उत्तर :– निमित्त से अथवा राग से सम्यग्दर्शन नहीं होता, पर्याय-भेद के आश्रय से भी नहीं होता, अन्दर में ढलने से ही सम्यग्दर्शन होता है, अन्य किसी विधि से नहीं; इसप्रकार की दृढ़ श्रद्धा-ज्ञान होना, वही सम्यग्दर्शन होने वाले की योग्यता है ।।४।।

– आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २४

(२१२)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन के लिए खास प्रकार की पात्रता का लक्षण क्या है ?

उत्तर :– जिसको अपने आत्मा का हित करने के लिए अन्दर से वास्तविक लगन हो, आत्मा को प्राप्त करने की तड़फड़ाहट हो, दरकार हो, वास्तविक छटपटाहट हो; वह कहीं भी अटके विना – रुके विना अपना कार्य करेगा ही ।।५।।

– आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २६

(२१३)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन न होने में भावज्ञान की भूल है अथवा आगमज्ञान की ?

उत्तर :– अपनी भूल है। यह जीव स्व-तरफ नहीं झुककर, पर-तरफ रुकता है – यही भूल है। विद्यमान शक्ति को अविद्यमान कर दिया, अर्थात् प्राप्त शक्ति को अप्राप्त जैसा समझ लिया, अपनी त्रिकाली

शक्ति के अस्तित्व को नहीं पहचाना – यही अपनी भूल है। त्रिकाली वर्तमान शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार कर ले – देख ले तो भूल टल जाय ॥६॥ – आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २६

(२१४)

प्रश्न :– तत्त्वविचार तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का निमित्त है। उसका मूल साधन क्या है ?

उत्तर :– मूल साधन अन्दर में आत्मा है, वहाँ दृष्टि का जोर जावे और 'मैं एकदम पूर्ण परमात्मा ही हूँ' – ऐसा विश्वास आवे, जोर आवे और दृष्टि अन्तर में ढले तब सम्यग्दर्शन होता है। उससे प्रथम तत्त्व का विचार होता है, उसकी भी रुचि छोड़कर जब अन्दर में जाता है तब उस विचार को निमित्त कहा जाता है ॥७॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९८० पृष्ठ २६

(२१५)

प्रश्न :– नवतत्त्व को जानना सम्यग्दर्शन है या शुद्धजीव को जानना सम्यग्दर्शन है ?

उत्तर :– नवतत्त्व को यथार्थरूप से जानने पर उसमें शुद्धजीव का ज्ञान भी साथ में आ ही जाता है, तथा जो शुद्धजीव को जानता है उसको नवतत्त्व का भी यथार्थ ज्ञान अवश्य होता है। इसप्रकार नवतत्त्व के ज्ञान को सम्यक्त्व कहो अथवा शुद्धजीव के ज्ञान को सम्यक्त्व कहो – दोनों एक ही हैं। (ज्ञान कहने पर उस ज्ञानपूर्वक की प्रतीति को सम्यग्दर्शन समझना) इसमें एक विशेषता यह है कि सम्यक्त्व प्रकट होने की अनुभूति के समय में नवतत्त्व के ऊपर लक्ष्य नहीं होता, वहाँ तो शुद्धजीव के ऊपर ही उपयोग लक्षित होता है और 'यह मैं हूँ,' – ऐसी जो निर्विकल्प प्रतीति है, उसके ध्येयभूत एकमात्र शुद्धात्मा ही है ॥८॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९७७, पृष्ठ २३

(२१६)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि क्या है ?

उत्तर :– "पर का कर्त्ता आत्मा नहीं, राग का भी कर्त्ता नहीं, राग से भिन्न ज्ञायक मूर्त्ति हूँ" – ऐसी अन्तर में प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि है। ऐसा समय मिला है जिसमें आत्मा

को राग से भिन्न कर देना ही कर्त्तव्य है। अवसर चूकना बुद्धिमानी नहीं ॥९॥ — आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ २५

(२१७)

प्रश्न :– त्रिकाली ध्रुव द्रव्य दृष्टि में आया – ऐसा कब कहा जाय ? वेदन में भी द्रव्य आता है क्या ?

उत्तर :– चैतन्य त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मद्रव्य दृष्टि में आने पर नियम से पर्याय में आनन्द का वेदन आता है। इसी पर्याय को अलिंगग्रहण के २०वें बोल में आत्मा कहा है। त्रिकाली ध्रुव भगवान के ऊपर दृष्टि पड़ने पर आनन्द का अनुभव होता है, तभी द्रव्यदृष्टि हुई कही जाती है। यदि आनन्द का वेदन न हो तो उसकी दृष्टि द्रव्य पर गई ही नहीं। जिसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर जावे, उसको अनादिकालीन राग का वेदन टलकर आनन्द का वेदन पर्याय में होगा। ऐसी दशा में उसकी दृष्टि में द्रव्य आया है, तथापि वेदन में द्रव्य आता नहीं, क्योंकि पर्याय द्रव्य का स्पर्श करती नहीं। प्रभु की पर्याय में प्रभु का स्वीकार होने पर उस पर्याय में प्रभु का ज्ञान आता है, किन्तु पर्याय में प्रभु का – द्रव्य का वेदन नहीं आता। यदि वेदन में द्रव्य आवे तो द्रव्य का नाश हो जाय, परन्तु द्रव्य तो त्रिकाल टिकने वाला है, इसलिए वह पर्याय में आता नहीं अर्थात् पर्याय सामान्यद्रव्य को स्पर्श नहीं करती – ऐसा कहा ॥१०॥ — आत्मधर्म : मई १९८०, पृष्ठ २५

(२१८)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन और आत्मा भेदरूप हैं या अभेदरूप हैं ?

उत्तर :– यह सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्याय और आत्मा अभेद हैं। राग को और आत्मा को तो स्वभाव-भेद है, किन्तु यह सम्यग्दर्शन और शुद्धात्मा अभेद हैं। परणति स्वभाव में अभेद होकर परिणमित हुई है, आत्मा स्वयं अभेदपने उस परिणतिरूप से परिणमित हुआ है – उसमें भेद नहीं है। व्यवहारसम्यग्दर्शन तो विकल्परूप है, वह कहीं आत्मा के साथ अभेद नहीं है ॥११॥ — आत्मधर्म : जुलाई १९७७, पृष्ठ २४

(२१९)

प्रश्न :– दृष्टि के विषय में वर्तमान पर्याय शामिल है या नहीं ?

उत्तर :– दृष्टि के विषय में मात्र ध्रुवद्रव्य ही आता है। पर्याय तो द्रव्य को विषय करती है, परन्तु वह ध्रुव में शामिल नहीं

होती, क्योंकि वह विषय करने वाली है। विषय और विषयी भिन्न-भिन्न हैं ॥१२॥

— आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २३

(२२०)

प्रश्न :— द्रव्यदृष्टि में किसका आलम्बन होता है ?

उत्तर :— द्रव्यदृष्टि शुद्ध अन्तःतत्त्व का ही अवलम्बन लेती है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय भी वहिर्तत्त्व है, उसका आलम्बन द्रव्यदृष्टि में नहीं है। संवर-निर्जरा-मोक्ष भी पर्याय है, अतः वह भी विनाशीक होने से वहिर्तत्त्व है, उसका भी आलम्बन द्रव्यदृष्टि में नहीं है। मन-शरीर-वाणी, कुटुम्ब अथवा देव-शास्त्र-गुरु — ये तो परद्रव्य होने से वहिर्तत्त्व हैं ही और दया-दान-व्रत-तपादि के परिणाम भी विकार होने से वहिर्तत्त्व ही हैं; परन्तु यहाँ तो जो शुद्ध निर्मल पर्यायरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम हैं, वे भी क्षणिक अनित्य और एकसमयमात्र टिकते होने से, ध्रुवतत्त्व अन्तःतत्त्व की अपेक्षा से वहिर्तत्त्व ही हैं। अतः उनका भी आलम्बन लेने योग्य नहीं है ॥१३॥

— आत्मधर्म : अगस्त १९७९, पृष्ठ २३

(२२१)

प्रश्न :— सम्यग्दर्शन का विषय क्या है ?

उत्तर :— समयसार की १३वीं गाथा में कहा है कि नवतत्त्वरूप पर्यायों में अन्वयरूप से विद्यमान भूतार्थ एकरूप सामान्य ध्रुव वह सम्यग्दर्शन का विषय है। पंचाध्यायी (अध्याय २) में भी कहा है कि भेदरूप नवतत्त्वों में सामान्यरूप से विद्यमान अर्थात् ध्रुवरूप से विद्यमान वह जीव का शुद्ध भूतार्थ स्वरूप है। इसप्रकार भेदरूप नवतत्त्वों से भिन्न शुद्ध जीव को बतलाकर उसे सम्यग्दर्शन का विषय अर्थात् ध्येयरूप बतलाया है।

जीव की श्रद्धापर्याय ध्येयभूत सामान्य ध्रुव द्रव्यस्वभाव की ओर झुकती है तभी सम्यग्दर्शन एवं निर्विकल्प स्वानुभव होता है। उस समय दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि सर्व गुणों के परिणाम (पर्याय) स्वभाव की ओर झुकते हैं; मात्र श्रद्धा-ज्ञान के ही परिणाम झुकते हैं ऐसा नहीं है। "........ वहाँ सर्व परिणाम उस रूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं;..........." — (पं० टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी) ॥१४॥

— आत्मधर्म : जनवरी १९७७, पृष्ठ २४

(२२२)

प्रश्न :– ध्रुव स्वभाव के साथ निर्मल पर्याय को अभेद करके दृष्टि का विषय मानने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर :– ध्रुव द्रव्यस्वभाव के साथ निर्मल पर्याय को एकमेक करने से दृष्टि का विषय होता है – ऐसा मानने वाले व्यवहार से निश्चय होना मानने वालों की भाँति ही मिथ्यादृष्टि है; उनका जोर पर्याय पर है, ध्रुव स्वभाव पर नहीं है।

सम्यग्दर्शन के विषय में द्रव्य के साथ उत्पादरूप निर्मल पर्याय को साथ लेने से वह निश्चयनय का विषय न रहकर प्रमाण का विषय हो जाता है, और प्रमाण स्वयं सदभूत व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय का विषय अभेद एकरूप द्रव्य है, प्रमाण की भाँति उभय-अंशग्राही नहीं है। यदि पर्याय को द्रव्य के साथ एकमेक किया जाये तो निश्चयनय का विषय जो त्रिकाली सामान्य है वह नहीं रहता, परन्तु प्रमाण का विषय हो जाने से दृष्टि में भूल है, विपरीतता है।

अनित्य नित्य को जानता है; पर्याय द्रव्य को जानती है; पर्यायरूप व्यवहारनिश्चयरूप ध्रुवद्रव्य को जानता है; भेद अभेद द्रव्य को जानता है; पर्याय जानने वाली अर्थात् विषयी है और त्रिकाली ध्रुव द्रव्य जानने वाली पर्याय का विषय है। यदि द्रव्य के साथ निर्मल पर्याय को मिलाकर निश्चयनय का विषय कहा जाये तो विषय करने वाली पर्याय तो कोई भिन्न नहीं रही। अतः पर्याय को विषयकर्ता के रूप में द्रव्य से भिन्न लिया जाये तभी विषय-विषयी दो भाव सिद्ध हो सकते हैं; इससे अन्यथा मानने से महाविपरीतता होती है।

श्रुतज्ञान की पर्याय वह प्रमाणज्ञान है। प्रमाणज्ञान स्वयं पर्याय होने से व्यवहार है। वीतरागी पर्याय स्वयं व्यवहार है; परन्तु उसने त्रिकाली द्रव्यरूप निश्चय का आश्रय लिया होने से उस निर्मल पर्याय को निश्चयनय कहा है; परन्तु वह पर्याय होने से व्यवहार ही है।

शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है। पर का लक्ष छोड़कर, राग का लक्ष छोड़कर, पर्याय का लक्ष छोड़कर, त्रिकाली द्रव्य का लक्ष करे तब वीतरागता प्रकट होती है। यदि त्रिकाली द्रव्यरूप ध्येय में पर्याय को साथ ले तो वह बात नहीं रहती ॥१५॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९७७, पृष्ठ २४-२५

(२२३)

प्रश्न :— इसका कोई शास्त्रीय आधार भी है क्या ?

उत्तर :— समयसार की ४९वीं गाथा की टीका में त्रिकाली सामान्य ध्रुव द्रव्य से निर्मल पर्याय को भिन्न वतलाते हुए कहा है कि व्यक्तपना तथा अव्यक्तपना एकमेक — मिश्रित रूप से प्रतिभासित होने पर भी वह व्यक्तपने को स्पर्श नहीं करता, इसलिये अव्यक्त है। इस 'अव्यक्त' विशेषण से त्रिकाली ध्रुव द्रव्य कहा है, उसके आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट होती है, तथापि वह त्रिकाली ध्रुवद्रव्य व्यक्त ऐसी निर्मल पर्याय को स्पर्श नहीं करता। इसी अपेक्षा से त्रिकाली ध्रुव द्रव्य से निर्मल पर्याय को भिन्न कहा है।

प्रवचनसार गाथा १७२ में अलिंगग्रहण के १८वें बोल में कहा है कि आत्मा में अनंत गुण होने पर भी उन गुणों के भेद को आत्मा स्पर्श नहीं करता, क्योंकि गुणों के भेद को लक्ष में लेने से विकल्प उठता है, निर्विकल्पता नहीं होती। शुद्ध निश्चयनय से एकरूप अभेद सामान्य ध्रुवद्रव्य को लक्ष में लेने से विकल्प टूटकर निर्विकल्पता होती है। इसलिये आत्मा गुणों के भेद को स्पर्श नहीं करता — ऐसा कहा है। और १९वें वोल में आत्मापर्याय के भेद को स्पर्श नहीं करता अर्थात् जिस प्रकार ध्रुव में गुण हैं तथापि उनके भेद को स्पर्श नहीं करता; उसी प्रकार ध्रुव में पर्यायें हैं और उन्हें स्पर्श नहीं करता — ऐसा नहीं कहना है, परन्तु ध्रुव सामान्य से पर्याय भिन्न ही है — ऐसे पर्याय के भेद को आत्मा स्पर्श नहीं करता, ऐसा कहकर निश्चयनय के विषय में अकेला सामान्यद्रव्य ही आता है — ऐसा वतलाया है ॥१६॥

— आत्मधर्म : जनवरी १९७७, पृष्ठ २५

(२२४)

प्रश्न :— सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसमें पुरुषार्थ की निर्बलता को कारण मानें ?

उत्तर :— नहीं; विपरीतता के कारण तो सम्यग्दर्शन अटकता है और पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण चारित्र अटकता है — ऐसा न मानकर सम्यक्त्व के न होने में पुरुषार्थ की निर्बलता को कारण मानना, यह तो पहाड़ जैसे महादोष को राईसमान अल्प वनाने जैसा है। जो ऐसा मानता है कि सम्यग्दर्शन अटकने में पुरुषार्थ की निर्बलता कारण है, वह इस पहाड़ जैसी विपरीत मान्यता के दोष को दूर नहीं कर सकता ॥१७॥

— आत्मधर्म : अगस्त १९८१, पृष्ठ २६

(२२५)

प्रश्न :– समयसार में शुद्धनय का अवलम्बन लेने के लिए कहा है, परन्तु शुद्धनय तो ज्ञान का अंश है, पर्याय है, क्या उस अंश के – पर्याय के अवलंबन से सम्यग्दर्शन होगा ?

उत्तर :– शुद्धनय का अवलम्बन वास्तव में कब हुआ कहा जाय ? अकेले अंश का भेद करके उसके ही अवलम्बन में जो अटका है, उसके तो शुद्धनय है ही नहीं। ज्ञान के अंश को अन्तर में लगाकर जिसने त्रिकाली द्रव्य के साथ अभेदता की है, उसको ही शुद्धनय होता है। ऐसी अभेद दृष्टि की, तब शुद्धनय का अवलम्बन लिया – ऐसा कहा जाता है।'शुद्धनय का अवलम्बन' – ऐसा कहने पर उसमें भी द्रव्य-पर्याय की अभेदता की ही बात आती है; परिणति अन्तर्मुख होकर द्रव्य में अभेद होने पर जो अनुभव हुआ – उसका नाम शुद्धनय का अवलम्बन है; उसमें द्रव्य-पर्याय के भेद का अवलम्बन नहीं है। यद्यपि शुद्धनय ज्ञान का ही अंश है, पर्याय है; परन्तु वह शुद्धनय अन्तर के भूतार्थ स्वभाव में अभेद हो गया है अर्थात् वहाँ नय और नय का विषय जुदा नहीं रहा। जब ज्ञानपर्याय अन्तर में झुककर शुद्धद्रव्य के साथ अभेद हुई, तब ही शुद्धनय निर्विकल्प है। ऐसा शुद्धनय कतकफल के स्थान पर है। जैसे – मैले पानी में कतकफल अर्थात् निर्मली नामक औषधि डालने पर पानी निर्मल हो जाता है, वैसे ही कर्म से भिन्न शुद्धात्मा का अनुभव शुद्धनय से होता है। शुद्धनय से भूतार्थ स्वभाव का अनुभव होने पर आत्मा और कर्म का भेदज्ञान हो जाता है ॥१८॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९८२, पृष्ठ २४

(२२६)

प्रश्न :– कितना अभ्यास करें कि सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सके ?

उत्तर :– ग्यारह अंगों का ज्ञान हो जाये – इतनी राग की मन्दता अभव्य को होती है। ग्यारह अंग के ज्ञान का क्षयोपशम बगैर पढ़े ही हो जाता है, विभंग ज्ञान भी हो जाता है और सात द्वीप समुद्र को प्रत्यक्ष देखता है, तो भी यह सब ज्ञान होना सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है ॥१९॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २१

(२२७)

प्रश्न :– ग्यारह अंग वाले को भी सम्यग्दर्शन नहीं होता, तब आत्मा की रुचि बगैर इतना सारा ज्ञान कैसे हो जाता है ?

उत्तर :– ज्ञान का क्षयोपशम होना – यह तो मन्द कषाय का कार्य है, आत्मा की रुचि का कार्य नहीं। जिसको आत्मा की यथार्थ रुचि होती है, उसका ज्ञान अल्प हो तो भी रुचि के बल पर सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के लिए ज्ञान के क्षयोपशम की आवश्यकता नहीं, लेकिन आत्मरुचि की ही आवश्यकता है ॥२०॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६ पृष्ठ २१-२२

(२२८)

प्रश्न :– इतने अधिक शास्त्र हैं, उनमें सम्यग्दर्शन के लिए विशेष निमित्त भूत कौन-सा शास्त्र है ?

उत्तर :– स्वयं जब स्वभाव को देखने में उग्र पुरुषार्थ करता है, तब उससमय जो शास्त्र निमित्त हो, उसको निमित्त कहा जाता है। द्रव्यानुयोग हो, करणानुयोग हो, चरणानुयोग शास्त्र हो, वह भी निमित्त कहा जाता है, प्रथमानुयोग को भी बोधिसमाधि का निमित्त कहा है ॥२१॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २०

(२२९)

प्रश्न :– अपनी आत्मा को जानने से ही सम्यग्दर्शन होता है तो फिर अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर :– अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानना आवश्यक है। अरहन्त की पूर्ण पर्याय को जानने पर ही, वैसी पर्याय अपने में प्रगट नहीं हुई है, इसलिए उसे स्वद्रव्य की तरफ लक्षित करने पर दृष्टि द्रव्य के ऊपर जाती है और सर्वज्ञ-स्वभाव की प्रतीति होती है। इसलिए अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने पर सम्यग्दर्शन हुआ – ऐसा कहा जाता है ॥२२॥

– आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ २६

(२३०)

प्रश्न :– शुद्धस्वरूप का इतना विशाल स्तंभ दिखलाई क्यों नहीं पड़ता ?

उत्तर :– दृष्टि बाहर ही बाहर भ्रमावे, उसको कैसे दिखाई पड़े ? पुण्य के भाव में बड़प्पन देखा करता है, परन्तु अन्दर जो विशाल महान प्रभु पड़ा है उसे देखने का प्रयत्न नहीं करता। यदि उसे देखने का प्रयत्न करे तो अवश्य दिखाई पड़े ॥२३॥ – आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २७

(२३१)

प्रश्न :— जिनविंब-दर्शन से निद्धत्ति और निकांचित कर्म का भी नाश होता है और सम्यग्दर्शन प्रकट होता है – ऐसा श्री धवलग्रन्थ में वर्णन आता है। तो क्या परद्रव्य के लक्ष से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ?

उत्तर: – श्री धवलग्रन्थ में जो ऐसा पाठ आता है उसका अभिप्राय यह है कि जिनविंबस्वरूप निज अन्तरात्मा सक्रिय चैतन्यबिम्ब है, उसके ऊपर लक्ष और दृष्टि जाने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है और निद्धत्ति व निकांचित कर्म टलते हैं, तब जिनविंब-दर्शन से सम्यग्दर्शन हुआ और कर्म टला – ऐसा उपचार से कथन किया जाता है। चूंकि पहले जिनविम्ब के ऊपर लक्ष था, इसलिए उसके ऊपर उपचार का आरोप किया जाता है। सम्यग्दर्शन तो स्व के लक्ष से ही होता है, पर के लक्ष से तो तीनकाल में हो सकता नहीं – ऐसी वस्तुस्थिति है और वही स्वीकार्य है ॥२४॥

– आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २४

(२३२)

प्रश्न :— मिथ्यात्व का नाश स्वसन्मुख होने से ही होता है या कोई और दूसरा उपाय भी है ?

उत्तर :— स्वाश्रय से ही मिथ्यात्व का नाश होता है, यही एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय प्रवचनसार गाथा ८६ में बताया है कि स्वलक्ष से शास्त्राभ्यास करना उपायान्तर अर्थात् दूसरा उपाय है, इससे मोह का क्षय होता है ॥२५॥ – आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ २८

(२३३)

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का कारण क्या है ?

उत्तर :— सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट हुई है वह राग की मंदता के कारण प्रगट हुई है – ऐसा तो है ही नहीं; किन्तु सूक्ष्मता से देखें तो द्रव्य-गुण के कारण सम्यग्दर्शन हुआ है – ऐसा भी नहीं है। सम्यग्दर्शन की पर्याय का लक्ष और ध्येय व आलम्बन यद्यपि द्रव्य है; तथापि पर्याय अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमित हुई है। जिससमय जो पर्याय होने वाली है उसको निमित्तादि का अवलम्बन तो है नहीं, वह द्रव्य के कारण उत्पन्न हुई है – ऐसा भी नहीं है। भाई ! अन्तर का रहस्य कच्चे पारे की तरह बहुत गम्भीर है, पचा सके तो मोक्ष होता है ॥२६॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ २५

(२३४)

प्रश्न : – "पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ सो प्रारम्भ" – ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है'। वहाँ पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ में त्रिकाली द्रव्य को लेना अथवा केवलज्ञान पर्याय को लेना ? कृपया स्पष्टीकरण कीजिये।

उत्तर :– यहाँ पूर्णता के लक्ष में साध्यरूप केवलज्ञान पर्याय लेना। त्रिकाली द्रव्य तो ध्येयरूप है। केवलज्ञान उपेय है और साधकभाव उपाय है। उपाय का साध्य उपेय केवलज्ञान है ॥२७॥

– आत्मधर्म : मई १९८०, पृष्ठ २५

(२३५)

प्रश्न : – जिनवर कथित व्यवहारचारित्र का सावधानीपूर्वक पालन सम्यग्दर्शन होने का कारण होता है या नहीं ?

उत्तर : – रंचमात्र भी कारण नहीं होता। सम्यग्दर्शन होने का कारण तो अपना त्रिकाली आत्मा ही है। जिनेन्द्र कथित व्यवहारचारित्र को सावधानीपूर्वक और परिपूर्ण पाले, तथापि उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता ॥२८॥ – आत्मधर्म : अक्तूबर १९७७, पृष्ठ २४

(२३६)

प्रश्न – दोनों अपेक्षाओं का प्रमाणज्ञान करें, फिर पर्यायदृष्टि गौण करें, निश्चयदृष्टि मुख्य करें – इतनी मेहनत करने के बदले 'आत्मा चैतन्य है' – मात्र इतना ही अनुभव में आए तो इतनी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है या नहीं ?

उत्तर : – नहीं; नास्तिकमत के सिवाय सभी मत वाले आत्मा को चैतन्यमात्र मानते हैं। यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जाय तो सबको सम्यक्त्व सिद्ध हो जाएगा। सर्वज्ञ वीतराग ने आत्मा का जैसा स्वतन्त्र और पूर्ण स्वरूप कहा है – वैसा सत्समागम से जानकर, स्वभाव से निर्णय करके, उसका ही श्रद्धान करने से निश्चय सम्यक्त्व होता है। सर्वज्ञ को स्वीकार करने वाले जीव ने यह निर्णय किया है कि अल्पज्ञ जीव अधूरी अवस्था के काल में भी सर्वज्ञ परमात्मा जैसा पूर्ण सामर्थ्यवान है। पूर्ण को स्वीकार करने वाला प्रतिसमय पूर्ण होने की ताकत रखता है। परोक्षज्ञान में वस्तु के वर्त्तमान स्वतन्त्र त्रिकाली अखण्ड परि-

पूर्णस्वरूप का निर्णय पूर्णता के लक्ष्य से ही होता है। शुद्धनय से ऐसा जानना निश्चय सम्यक्त्व है ॥२६॥

— आत्मधर्म : नवम्बर १६७७, पृष्ठ २४

(२३७)

प्रश्न :— जिस प्रकार क्रियानय से साध्य सिद्धि है ऐसा एक धर्म है और ज्ञाननय से साध्य सिद्धि है ऐसा भी एक धर्म है; उसी प्रकार त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से भी सम्यग्दर्शन हो और निर्मल पर्यायसहित द्रव्य के आश्रय से भी सम्यग्दर्शन हो — ऐसा है क्या ?

उत्तर :— नहीं, एक ही समय में जानने योग्य क्रियानय तथा ज्ञान-नय इत्यादि अनन्तधर्म हैं; परन्तु सम्यग्दर्शन का विषय एक नय से त्रिकालीद्रव्य भी है और दूसरे नय से देखने पर पर्याययुक्त द्रव्य भी सम्यग्दर्शन का विषय बने ऐसा कोई धर्म ही नहीं है। सम्यग्दर्शन का विषय तो मात्र भूतार्थ ऐसा त्रिकाली ध्रुव द्रव्य (पर्यायरहित) ही है। उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, अन्यथा सम्यग्दर्शन नहीं होता ॥३०॥

— आत्मधर्म : दिसम्बर १६७६, पृष्ठ २६

(२३८)

प्रश्न :— सम्यग्दर्शन तो राग छोड़ने पर होता है न ?

उत्तर :— राग की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करने से सम्य-ग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन होने पर राग से भिन्नता भासित होती है, राग सर्वथा नहीं छूटता; पर राग को दुखरूप जानकर उसकी रुचि छूटती है ॥३१॥

— आत्मधर्म : जून १६७७, पृष्ठ २५

(२३९)

प्रश्न :— गुण-भेद के विचार से भी मिथ्यात्व न टले तो मिथ्यात्व कैसे टलेगा ?

उत्तर :— जिसमें राग और मिथ्यात्व है ही नहीं — उस शुद्धवस्तु में परिणाम तन्मय होने पर मिथ्यात्व टल जाता है, दूसरा कोई उपाय मिथ्यात्व के दूर करने का नहीं है। भाई ! गुण-भेद का विकल्प भी शुद्ध-वस्तु में नहीं है; शुद्धवस्तु की प्रतीति गुण-भेद के विकल्प की अपेक्षा भी नहं रखती। वस्तु में विकल्प नहीं और विकल्प में वस्तु नहीं। इसप्रकार दोनों की भिन्नता जानकर परिणति विकल्प में से हटकर स्वभाव में आवे

तब मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है – यही मिथ्यात्व टालने की रीति है, अर्थात् उपयोग और रागादिक का भेद-ज्ञान होना ही सम्यक्त्व का मार्ग है। इसलिये विकल्प की अपेक्षा चिदानन्द स्वभाव की अनन्त महिमा भासित होकर उसका अनन्त गुणा रस आना चाहिए ॥३२॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७७, पृष्ठ २६

(२४०)

प्रश्न :– जिसको सम्यग्दर्शन होना ही है, ऐसे जीव की पूर्व भूमिका कैसी होती है ?

उत्तर :– इस जीव को जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा सविकल्प निर्णय होता है; लेकिन सविकल्प से निर्विकल्पता होती ही है, ऐसा नहीं है ॥३३॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २१

(२४१)

प्रश्न :– दृष्टि को स्थिर करने के लिए सामने की वस्तु स्थिर होनी चाहिए; लेकिन दृष्टि तो पलटती रहती है, वह किस तरह स्थिर हो ?

उत्तर : – सामने स्थिर वस्तु हो तो उस पर नजर करने से दृष्टि स्थिर हो जाती है। भले ही जब (दृष्टिरूप पर्याय) स्थिर न रह सकती हो तो भी ध्रुव पर नजर एकाग्र करने से अन्य सारी वस्तु नजर में आ जाती है, सारा आत्मद्रव्य दृष्टि में जाना जाता है। मूल बात यह है कि अन्दर में जो आश्चर्यकारी आत्मवस्तु है, उसकी अन्दर से महिमा नहीं आती। द्रव्यलिंगी साधु हुआ लेकिन अन्दर से महिमा नहीं आती। पर्याय के पीछे समूचा ध्रुव महाप्रभु विद्यमान है – इसकी महिमा, आश्चर्य भासित हो तो कार्य होता ही है। आत्मा अनन्त-अनन्त आनन्द का धाम है, इसको विश्वास में लाना चाहिए। विश्वास से जहाज चलता है और समुद्र पार हो जाता है, ऐसे ही अन्दर में आत्मा की प्रभुता का विश्वास आये तब कार्य होता ही है।

जिसने जीवन्त ज्योति ऐसे चैतन्य का अनादर करके राग को अपना माना है, 'राग मैं हूँ' ऐसा माना है, उसने अपनी आत्मा का घात किया है। जिससे लाभ मानता है उसको स्वयं का माने बगैर उससे लाभ माना नहीं जा सकता। इसलिए राग से लाभ मानने वाला स्वयं का ही घात करने वाला होने से दुरात्मा है, आत्मा का अनादर करने वाला है, अविवेकी मिथ्यादृष्टि है ॥३४॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ २१

(२४२)

प्रश्न :– इस पर से ऐसा होता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पात्र कौन है ?

उत्तर :– यह पात्र ही है, लेकिन पात्र नहीं है – ऐसा मान लेता है। यही शल्य बाधक होती है ॥३५॥

– आत्मधर्म : जुलाई १६७६, पृष्ठ २१

(२४३)

प्रश्न :– क्या सविकल्प द्वारा निर्विकल्प नहीं होता है ?

उत्तर :– सविकल्प द्वारा निर्विकल्प नहीं होता, किन्तु कहा अवश्य जाता है। क्योंकि विकल्प को छोड़कर निर्विकल्प में जाता है, यह बताने के लिए सविकल्प द्वारा हुआ ऐसा कहा जाता है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी में आता है कि 'रोमांच होता है' अर्थात् वीर्य अन्दर जाने के लिए उल्लसित होता है, ऐसा बताना है ॥३६॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १६७६, पृष्ठ २४

(२४४)

प्रश्न :– शास्त्राभ्यास आदि करने पर भी उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता, तो सम्यग्दर्शन के लिए क्या करना ?

उत्तर :– यथार्थ में तो एक आत्मा की ही रुचिपूर्वक सबसे पहिले आत्मा को जानना, वही सम्यग्दर्शन का उपाय है। आत्मा का सत्य निर्णय करने वाले को पहिले सात तत्त्वों का सविकल्प निर्णय होता है, शास्त्राभ्यास होता है, शास्त्राभ्यास ठीक है – ऐसा भी विकल्प होता है, लेकिन उससे यथार्थ निर्णय नहीं होता। जहाँ तक विकल्प सहित है, वहाँ तक परसन्मुखता है, परसन्मुखता से सत्य निर्णय नहीं होता। स्वसन्मुख होते ही सत्य निर्विकल्प निर्णय होता है। सविकल्पता द्वारा निर्विकल्प होना कहा है, तो भी सविकल्पता निर्विकल्प होने का सही कारण नहीं है। तब भी सविकल्पता पहिले होती है, इसीकारण सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होना कहा जाता है ॥३७॥

– आत्मधर्म : जुलाई १६७६, पृष्ठ २०

(२४५)

प्रश्न :– क्या सम्यग्दृष्टि को अशुभभाव के सद्भाव में आयुष्य बंधती है ?

उत्तर :– सम्यग्दृष्टि को चौथे-पाँचवें गुणस्थान में व्यापार-विषयादि का अशुभराग भी होता है; तथापि सम्यग्दर्शन का ऐसा माहात्म्य है कि उसको अशुभभाव के समय आयुष्य नहीं बँधती, शुभभाव में ही बँधती है। सम्यग्दर्शन का ऐसा प्रभाव है कि उसके भव बढ़ते तो हैं ही नहीं; यदि भव होते भी हैं तो नीचा भव नहीं होता, स्वर्गादि का ऊँचा भव ही होता है ॥३८॥ – आत्मधर्म : नवम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(२४६)

प्रश्न :– जिसके प्रताप से जन्म-मरण टले और मुक्ति प्राप्त हो ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन पंचमकाल में शीघ्र हो सकता है क्या ?

उत्तर :– पंचमकाल में भी क्षणभर में सम्यग्दर्शन हो सकता है। पंचमकाल सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करने के लिए प्रतिकूल नहीं है। सम्यग्दर्शन प्रगट करना तो वीरों का काम है, कायरों का नहीं। पंचमकाल में नहीं हो सकता, वर्तमान में नहीं हो सकता – ऐसा मानना कायरता है। बाद में करेंगे, कल करेंगे – इसप्रकार वायदा करने वालों का यह काम नहीं है। आज ही करेंगे, अभी करेंगे – ऐसे वीरों का यह काम है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसके समक्ष देखने वालों को पंचमकाल क्या करेगा ? ॥३९॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(२४७)

प्रश्न :– शुद्धात्मा की रुचिरूप सम्यग्दर्शन को निश्चयसम्यग्दर्शन कहा गया है। उस निश्चयसम्यग्दर्शन के सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व ऐसे दो भेद् क्यों ?

उत्तर :– निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ वर्तते हुए राग को बताने के लिए निश्चय सम्यक्त्व को सराग सम्यक्त्व कहा जाता है। वहाँ सम्यग्दर्शन तो निश्चय ही है, परन्तु साथ में प्रवर्तमान शुभ राग का व्यवहार है, अत: उसका सम्बन्ध बताने के लिए सराग सम्यक्त्व कहने में आता है। गृहस्थाश्रम में स्थित तीर्थंकर, भरत, सगर आदि चक्री तथा राम, पाण्डव आदि को सम्यग्दर्शन तो निश्चय था तथापि उसके साथ वर्तते हुए शुभ राग का सम्बन्ध बताने के लिए उन्हें सराग सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। यहाँ मूल प्रयोजन वीतरागता पर वजन देना है। इसलिए निश्चय सम्यक्त्व होने पर भी उसे सराग सम्यक्त्व कहा गया है और उसे वीतराग सम्यक्त्व का परम्परा साधक कहा है। शुद्धात्मा की रुचिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन में सराग और वीतराग के भेद नहीं है। है तो एक-सा

सम्यग्दर्शन, किन्तु जहाँ स्थिरता की मुख्यता का कथन चलता हो वहाँ सम्यक्त्व के साथ वर्तते हुए राग के सम्बन्ध को देखकर उसे सराग सम्यक्त्व कहा है और रागरहित संयमी के वीतराग सम्यक्त्व कहा है, क्योंकि जैसा वीतराग स्वभाव है वैसा ही वीतरागी परिणमन भी हुआ है, अतः वीतरागता का सम्बन्ध देखकर उसे वीतराग सम्यग्दर्शन कहा गया है ॥४०॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २७

(२४८)

प्रश्न :– ज्ञान प्राप्ति का फल तो राग का अभाव होना है न ?

उत्तर :– राग का अभाव अर्थात् राग से भिन्न आत्मा के अनुभव-पूर्वक भेदज्ञान का होना। इसमें राग के कर्त्तापने का – स्वरामीपने का अभाव हुआ, राग में से आत्मबुद्धि छूट गई; यही राग के प्रथम नम्बर का अभाव हो गया ॥४१॥ – आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ २६

(२४९)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन सहित नरकवास भी भला कहा है तो क्या नरक में सम्यग्दृष्टि को आनन्द की गटागटी है ?

उत्तर :– यह तो सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से कहा है, फिर भी जितना कषाय है उतना दुःख तो है ही। तीन कषाय हैं, उतना दुःख है। मुनि को घानी में पेले, अग्नि में जलावे, तथापि तीन कषाय का अभाव होने से उन्हें आनन्द है ॥४२॥

–आत्मधर्म : जून १९८१, पृष्ठ २७

(२५०)

प्रश्न :– सम्यक् श्रद्धा और अनुभव में क्या अन्तर है ?

उत्तर :– सम्यक्श्रद्धान-प्रतीति तो श्रद्धागुण की पर्याय है और अनुभव मुख्यतः चारित्रगुण की पर्याय है ॥४३॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(२५१)

प्रश्न :– मिथ्यात्व-आस्रवभाव को तोड़ने का वज्रदण्ड क्या है ?

उत्तर :– त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकस्वभाव ही वज्रदण्ड है, क्योंकि उसी का आश्रय लेने से मिथ्यात्व-आस्रवभाव टूटता है। प्रथम में प्रथम कर्तव्य राग से भिन्न होकर ज्ञायकभाव की दृष्टि करना है। इस कार्य के किये विना तप-व्रतादि सभी कुछ थोथा है ॥४४॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७९, पृष्ठ २७

(२५२)

प्रश्न :–किसी जीव का उपशमसम्यक्त्व छूट जाय और वह मिथ्यात्व में आ जाय, तो उसे ख्याल में आता है कि मुझे सम्यक्त्व हुआ था ?

उत्तर :– हाँ, सम्यक्त्व छूट जाने के बाद थोड़े समय तक ख्याल में रहता है, किन्तु लम्बे समय के पश्चात् भूल जाता है ।।४५।।

– आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ २१

(२५३)

प्रश्न :– दर्शनपाहुड़ की गाथा २१ में कहा है कि हे जीव ! तू सम्यग्दर्शन को अन्तरंगभाव से ग्रहण कर। यहाँ बताये हुए अन्तरंगभाव का तथा बहिरंगभाव का भी अर्थ स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर :– अन्तरस्वभाव के आश्रय से परिणति प्रकट करना, वह अन्तरङ्गभाव है; ऐसी परिणति अंशरूप में प्रकट करना, वह सम्यग्दर्शन है। इसके विपरीत नवतत्त्व की श्रद्धा आदि राग भाव अन्तरङ्गभाव नहीं हैं, वे तो बहिरङ्गभाव हैं। बाह्यलक्ष से जो भी भाव हों, वे सब बहिरङ्गभाव हैं। पुण्य-पाप के परिणाम चैतन्य-अंग नहीं हैं, किन्तु कार्माण-अंग हैं। व्यवहारसम्यग्दर्शन भी कार्माण-अंग है। चैतन्य को चूककर कर्म के संबंध से जो भी भाव उत्पन्न हों, वे सब वहिरङ्गभाव हैं, अन्तरंगभाव नहीं। उनसे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति भी नहीं होती। जड़ की क्रियाओं और बहिरङ्गभावों में एकत्वबुद्धि छोड़कर अर्थात् परभावों में आत्मबुद्धि छोड़कर अकेले आत्मस्वभाव का आश्रय करना, वह अन्तरङ्गभाव है; उसी से आत्म कल्याण होता है ।।४६।।

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८२, पृष्ठ २५

(२५४)

प्रश्न :– जिससमय जीव हेय-उपादेय को यथार्थ समझे, उसीसमय हेय को छोड़कर उपादेय को ग्रहण करे अर्थात् सच्ची श्रद्धा के साथ ही साथ पूर्ण चारित्र भी होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता तो है नहीं; इसलिए हम तो ऐसा मानते हैं कि जब यह जीव रागादि को त्यागकर चारित्र अंगीकार करे, तभी उसे सच्ची श्रद्धा होती है। – ऐसा मानने में क्या दोष है ?

उत्तर :– सम्यग्दर्शन का काम तो परिपूर्ण आत्मस्वभाव को ही मानना है; रागादि के ग्रहण-त्याग करने का काम सम्यग्दर्शन का नहीं है,

वह तो चारित्र का अधिकार है। सच्ची श्रद्धा का कार्य यह है कि उपादेय की उपादेयरूप से और हेय की हेयरूप से प्रतीति करे; उपादेय को अंगीकार करना और हेय को छोड़ने का काम चारित्र का है, श्रद्धा का नहीं। राजपाट में होने पर भी और राग विद्यमान होने पर भी भरत चक्रवर्ती, श्रेणिक राजा, रामचन्द्रजी तथा सीताजी इत्यादि सम्यग्दृष्टि थे। सम्यग्दर्शन होने पर व्रतादि होना ही चाहिए और त्याग होना ही चाहिए – ऐसा कोई नियम नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि सम्यग्दर्शन होने पर विपरीत अभिप्राय का – मिथ्या मान्यता का त्याग अवश्य हो जाता है ।।४७।। – आत्मधर्म : जून १९८२, पृष्ठ २४

(२५५)

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि स्वर्ग से आता है तब माता के पेट में नौ महीने में निर्विकल्प उपयोग आता होगा या नहीं ?

उत्तर :– यह बात ख्याल में है, लेकिन शास्त्राधार कोई मिलता नहीं। विचार तो अनेक आते हैं, लेकिन शास्त्राधार तो मिलना चाहिए न ? ।।४८।। – आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २२

(२५६)

प्रश्न :– क्या मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर :– मतिज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन होता है तो भी मतिज्ञान के समय आनन्द का वेदन नहीं है। श्रुतज्ञान में आनन्द का वेदन होता है, अर्थात् श्रुतज्ञान में सम्यग्दर्शन का आनन्द आता है, तो भी मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान में सम्यग्दर्शन होता है ऐसा कहा जाता है ।।४९।।

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ २५

(२५७)

प्रश्न :– द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के विचार में भी मिथ्यात्व किस प्रकार है ?

उत्तर :– भेद का विचारना कहीं मिथ्यात्व नहीं है। ऐसा भेद-विचार तो सम्यग्दृष्टि को भी होता है; किन्तु उस भेद-विचार में जो रागरूप विकल्प है, उसे लाभ का कारण मानाना और उसमें एकत्वबुद्धि करके अटक जाना मिथ्यात्व है। एकत्वबुद्धि किए बिना मात्र भेद-विचार मिथ्यात्व नहीं है, वह तो अस्थिरता का राग है ।।५०।।

– आत्मधर्म : जुलाई १९७७, पृष्ठ २४

(२६२)

प्रश्न :– नयपक्ष से अतिक्रान्त, ज्ञान-स्वभाव का अनुभव करके उसकी प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है – इस प्रकार सम्यग्दर्शन की विधि तो आपने बतलाई; परन्तु उस विधि को अमल में कैसे लावें ? विकल्प में से गुलाँट मार कर निर्विकल्प किस प्रकार हों ? वह समझाइए।

उत्तर :– विधि यथार्थ समझ में आ जाय तो परिणति गुलाँट मारे बिना रहे नहीं। विकल्प की और स्वभाव की जाति भिन्न-भिन्न है, ऐसा भान होते ही परिणति विकल्प में से छूटकर स्वभाव के साथ तन्मय हो जाती है। विधि को सम्यक्‌रूपेण जानने का काल और परिणति के गुलाँट मारने का काल; दोनों एक ही हैं। विधि जानने के बाद उसे सिखाना नहीं पड़ता कि तुम ऐसे करो। जो विधि ज्ञात की है, उसी विधि से ज्ञान अन्तर में ढलता है। सम्यक्त्व की विधि जानने वाला ज्ञान स्वयं कहीं राग में तन्मय नहीं होता, वह तो स्वभाव में तन्मय होता है – और ऐसा ज्ञान ही सच्ची विधि को जानता है। राग में तन्मय रहने वाला ज्ञान सम्यक्त्व की सच्ची विधि को नहीं जानता ॥५१॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७७, पृष्ठ २४

(२६३)

प्रश्न :– बन्धन का नाश निश्चय-सम्यग्दर्शन से होता है या व्यवहार-सम्यग्दर्शन से ?

उत्तर :– जिसको निश्चय-सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ हो, उस जीव को व्यवहार-सम्यग्दर्शन में दोष (अतिचार) होने पर भी वह दोष दर्शनमोह के बन्धका कारण नहीं होता; क्योंकि निश्चय-सम्यग्दर्शन के सद्‌भाव में मिथ्यात्व संबंधी बन्धन नहीं होता। किसी जीव को व्यवहार-सम्यग्दर्शन तो बराबर हो, उसमें किञ्चित् भी अतिचार न लगने देता हो; परन्तु उसे निश्चय-सम्यग्दर्शन नहीं है तो मिथ्यात्व या मोह का बन्ध बराबर होता रहता है। व्यवहार-सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व को टालने में समर्थ नहीं है; अपितु निश्चय सम्यग्दर्शन ही मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होने देता। अतः यह सिद्धान्त निकला कि निश्चय से बन्ध का नाश होता है, व्यवहार से नहीं ॥५२॥

– आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ २८

(२६४)

प्रश्न :– आत्मा में परिणमन के लिए प्रथम क्या करना चाहिए ?

उत्तर :– प्रथम सत्समागम से सत्य वस्तुस्वरूप का श्रवण करना चाहिये। जहाँ सत्य का श्रवण भी नहीं, वहाँ सत्य का ग्रहण तो हो ही कैसे सकता है ? जहाँ ग्रहण नहीं, वहाँ धारणा नहीं; जहाँ धारणा नहीं, वहाँ रुचि नहीं; और जहाँ रुचि नहीं, वहाँ परिणमन भी नहीं होता। जिसे आत्मा की रुचि होती है; उसे प्रथम श्रवण, ग्रहण और धारणा होती ही है। इसके पश्चात् अन्तर में परिणमन करने की वात आती है ॥५३॥

– आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ २८

(२६५)

प्रश्न :– आत्मख्याति को सम्यग्दर्शन कहा – आत्मप्रसिद्धि कहा – आत्मानुभव कहा, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– त्रिकाली आत्मस्वभाव तो प्रसिद्ध ही था, वह कहीं रुका नहीं था; किन्तु अवस्था में पहले उसका भान नहीं था और अब उसका भान होने पर अवस्था में भगवान आत्मा की प्रसिद्धि हुई। निर्मल अवस्था प्रगट होने पर द्रव्य-पर्याय की अभेदता से 'आत्मा ही प्रसिद्ध हुआ' – ऐसा कहा है। अनुभव में कहीं द्रव्य-पर्याय के भेद नहीं हैं। रागमिश्रित विचार छूटकर ज्ञान, ज्ञान में ही एकाग्र हुआ – उसी का नाम आत्मख्याति है। उस आत्मख्याति को ही सम्यग्दर्शन कहा है। यद्यपि आत्मख्याति स्वयं तो ज्ञान की पर्याय है, किन्तु उसके साथ सम्यग्दर्शन अविनभावी होता है; इसलिए उस आत्मख्याति को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है ॥५४॥

– आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ २७

(२६६)

प्रश्न :– जव स्वाश्रय करे, तव सम्यग्दर्शन प्रगट होता है अथवा जव सम्यग्दर्शन हो, तव स्वाश्रय प्रगट होता है ?

उत्तर :– जिस पर्याय ने स्वाश्रय किया, वह स्वयं ही सम्यग्दर्शन है; अतः उसमें पहले-पीछे का भेद ही नहीं है। जो पर्याय स्वाश्रय में ढली वही सम्यग्दर्शन है। स्वाश्रितपर्याय और सम्यग्दर्शन भिन्न-भिन्न नहीं हैं। त्रिकाली स्वभावाश्रित ही मोक्षमार्ग है ।५५॥

– वीतराग-विज्ञान : फरवरी १९८४, पृष्ठ २४

(२६७)

प्रश्न :– आपश्री के द्वारा वताया गया आत्मा का माहात्म्य आने पर भी कार्य क्यों नहीं होता ?

उत्तर :– अन्दर जो अपूर्व माहात्म्य आना चाहिए वह नहीं आता। एकदम उल्लसित होकर अन्दर से जो महिमा आनी चाहिए वह नहीं आती। भले धारणा में माहात्म्य आता हो ॥५६॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७६, पृष्ठ २२

(२६८)

प्रश्न :– वास्तविक माहात्म्य लाने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर :– एक आत्मा की ही यथार्थ में अन्दर से रुचि जगे और भव के भावों की थकान लगे तो आत्मा का अन्दर से माहात्म्य आये बिना रहता ही नहीं। वास्तव में जिसे आत्मा चाहिए ही, उसको आत्मा मिलता ही है। श्रीमद् ने भी कहा है – 'छूटने का इच्छुक बँधता नहीं है ॥५७॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७६, पृष्ठ २१

(२६९)

प्रश्न :– उपयोग में उपयोग है – इसका क्या मतलब ?

उत्तर :– उपयोग में उपयोग अर्थात् सम्यग्दर्शन की निर्विकल्प परिणति में उपयोग अर्थात् त्रैकालिक आत्मा आता है। आत्मा तो आत्मारूप–उदासीनरूप में विद्यमान है, निर्विकल्प होने पर शुद्धोपयोग में त्रैकालिक उपयोगस्वरूप आत्मा जाना जाता है ॥५८॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ २४

(२६६)

प्रश्न :– विकल्पसहित निर्णय करना सामान्य श्रद्धा और निर्विकल्प अनुभव करना विशेष श्रद्धा – क्या यह ठीक है ?

उत्तर :– नहीं, श्रद्धा में सामान्य-विशेष का भेद है ही नहीं। अखण्ड आत्मा की निर्विकल्प अनुभवसहित प्रतीति करना वही सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन करने वाले जीव को प्रथम 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है' – ऐसा विकल्पसहित निर्णय होता है, तत्पश्चात् जब निर्विकल्प अनभव करता है तब पहले के विकल्पसहित किये गए निर्णय को व्यवहार कहा जाता है ॥५९॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २७

(२७१)

प्रश्न :– स्वानुभव करने के लिए छह मास अभ्यास करना बताया – वह अभ्यास क्या करना ?

उत्तर :– 'राग वह मैं नहीं, ज्ञायक वह मैं हूँ' – इसप्रकार ज्ञायक की दृढ़ता जिसमें हो वैसा वारम्बार अभ्यास करना ॥६०॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २७

(२७२)

प्रश्न :– आत्मा की रुचि हो और सम्यग्दर्शन न हो सके तो अग्रिम भव में होगा क्या ?

उत्तर :– आत्मा की सच्ची रुचि हो उसे सम्यग्दर्शन होगा ही – अवश्य होगा। यथार्थ रुचि और लक्ष होने पर सम्यग्दर्शन न हो, यह तीन काल में नहीं हो सकता। वीर्य में हीनता नहीं होनी चाहिए, वीर्य में उत्साह और निःशंकता होनी चाहिए। कार्य होगा ही – इसप्रकार हमारे निर्णय में आना चाहिए ॥६१॥ – आत्मधर्म : सितम्बर १९७९, पृष्ठ २७

(२७३)

प्रश्न – धारणाज्ञान में यथार्थ जाने तो सम्यक्सन्मुखता कही जाय या नहीं ?

उत्तर :– धारणाज्ञान में दृढ़संस्कार अपूर्व रीति से संस्कार डाले, पहले कभी नहीं डाले हों – ऐसे अपूर्व रीति से संस्कार डाले जावें तो सम्यक्सन्मुखता कही जाय ॥६२॥ – आत्मधर्म : अक्टूबर १९८०, पृष्ठ २४

(२७४)

प्रश्न :– अन्तर में उतरने के लिए रुचि की आवश्यकता है या कोई अन्य भूल है जिसके कारण अन्तर में नहीं उतर पाता ?

उत्तर :– अन्तर में उतरने के लिए सच्ची रुचि की आवश्यकता है, किन्तु इस रुचि के सम्बन्ध में अन्य कोई क्या कह सकता है, स्वयं से ही निर्णय होना चाहिए। सच्ची रुचि हो तो आगे बढ़ता जाय और अपना कार्य कर ले ॥६३॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २५

(२७५)

प्रश्न :– क्या नवतत्त्व का विचार पाँच इन्द्रियों का विषय है ? नवतत्त्व के विचारक को किसका अवलम्बन है ?

उत्तर :– नवतत्त्व का विचार पाँच इन्द्रियों का विषय नहीं है, पाँच इन्द्रियों के अवलम्बन से नवतत्त्व का निर्णय नहीं होता अर्थात् नवतत्त्व का विचार करनेवाला जीव पंचेन्द्रिय के विषयों से तो

हट गया है। अभी मन का अवलम्बन है, परन्तु वह जीव मन के अवलम्बन में अटकना नहीं चाहता; वह तो मन का अवलम्बन भी छोड़कर अभेद आत्मा का अनुभव करना चाहता है। स्वलक्ष से राग का नकार और स्वभाव का आदर करनेवाला भाव निमित्त और राग की अपेक्षा से रहित भाव है, उसमें जो भेद के अवलम्बन की रुचि छोड़कर अभेद स्वभाव के अनुभव करने की रुचि का जोर वर्त रहा है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण है ॥६४॥

— वीतराग-विज्ञान : अप्रेल १९८४, पृष्ठ २६

(२७६)

प्रश्न :— नवतत्त्व का विचार तो पहले अनन्तवार कर चुके हैं, फिर भी लाभ क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर :— भाई ! पहले जो नवतत्त्व का विचार कर चुके हो, उससे इसमें कुछ विशेषता है। पहले जो नवतत्त्व का विचार कर चुके हो, वह तो अभेदस्वरूप के लक्ष बिना किया था, जबकि यहाँ अभेद-स्वरूप के लक्ष सहित की बात है। पहले अकेले मन के स्थूल विषय से नवतत्त्व के विचाररूप आँगन तक तो अनन्तबार आया है, परन्तु उससे आगे बढ़कर विकल्प तोड़कर ध्रुव चैतन्यतत्त्व में एकपने की श्रद्धा करने की अपूर्व समझ से वञ्चित रहा; इसलिए भवभ्रमण खड़ा रहा ॥६५॥

— वीतराग-विज्ञान : अप्रेल १९८४, पृष्ठ २५

(२७७)

प्रश्न :— शुभभाव में गर्भित शुद्धता कही गई है; उसीप्रकार मिथ्याश्रद्धान में गर्भित शुद्धता है क्या ?

उत्तर :— नहीं; मिथ्याश्रद्धानयुक्त पर्याय विपरीत ही है, उसमें गर्भित शुद्धता नहीं है। ज्ञान में निर्मलता विशेष है, ज्ञान के अंश को निर्मल कहा है और वह वृद्धिगत होकर केवलज्ञान होता है। तथा शुभ में गर्भित शुद्धता का अंश कहा है, किन्तु ग्रन्थिभेद (सम्यग्दर्शन) होने के बाद ही वह शुद्धता काम करती है ॥६६॥

— आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २७

(२७८)

प्रश्न :— "घटघट अन्तर जिन वसै, घटघट अन्तर जैन" — इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– प्रत्येक आत्मा शक्तिरूप से तो 'जिन' ही है। घटघट अन्तर जैन – अर्थात् गृहस्थाश्रम में रहते हुए चक्रवर्ती के ९६००० रानियाँ होती हैं, इन्द्र के करोड़ों अप्सरायें होती हैं, अनेक प्रकार के वैभव बाह्य में होते हैं; तथापि सम्यग्दृष्टि अन्दर में जैन है, राग से भिन्न पड़ा होने से सच्चा जैन है। और जिसने बाहर से हजारों स्त्रियाँ छोड़ दी हों, त्यागी बन गया हो, किन्तु राग से भिन्न न हुआ हो तो वह वास्तविक जैन नहीं है। उसने राग को मन्द तो किया है, किन्तु राग से भिन्नत्व अनभव नहीं किया, इसलिए जैन नहीं है ॥६७॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २४

(२७९)

प्रश्न :– राग से छुटकारा कैसे मिले ?

उत्तर :– एकान्त दुःख के जोर से राग से छुटकारा मिल जाय – ऐसा बनता नहीं। हाँ, द्रव्यदृष्टि के जोर से राग से छुटकारा मिल सकता है। आत्मा को पहिचाने बिना, जाने बिना जावें कहाँ ? आत्मा को जाना हो, उसका अस्तित्व ग्रहण किया हो, तो राग से छूटकर आत्मा में लीन हो सकता है ॥६८॥ – आत्मधर्म : मई १९७९, पृष्ठ २४

(२८०)

प्रश्न :– आत्मा की रुचिवाला जीव मरकर देव में ही जाता है न ?

उत्तर :– हाँ, तत्त्व की रुचि है, वाचन-श्रवण है, भक्ति, पूजा आदि है' – इनका करनेवाला तो देव ही होता है। कोई साधारण हो तो वह मनुष्य होता है ॥६९॥ – आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २७

(२८१)

प्रश्न :– देव होता है तो कैसा देव होता है ?

उत्तर :– वह तो अपनी योग्यतानुसार भवनत्रिक या वैमानिक में जाय, तथा आत्मानुभवी तो वैमानिक में ही जाय ॥७०॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २७

वहाँ सबसे पहले पूरे प्रयत्न द्वारा सम्यग्दर्शन को भले प्रकार अंगीकार करना चाहिए, क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है ॥२१॥

—आचार्य अमृतचन्द्र : पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

६

सम्यग्ज्ञान

(२८२)

प्रश्न :– सम्यग्ज्ञान प्रकट करने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर :– चैतन्य सामान्य द्रव्य पर दृष्टि करना चाहिए और उसके पहिले सात तत्त्वों का स्वरूप इसके ख्याल में आना चाहिए। विकल्प सहित सात तत्त्वों का निर्णय होना चाहिए ॥१॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २१

(२८३)

प्रश्न :– द्वादशांग का सार क्या है ?

उत्तर :– अनन्त केवली, मुनिराज और सन्त ऐसा कहते हैं कि स्वद्रव्य का आश्रय करो और परद्रव्य का आश्रय छोड़ो। स्वभाव में रत हो और परभाव से विरक्त। यही बारह अंग का सार है ॥२॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७८, पृष्ठ २६

(२८४)

प्रश्न :– एक आत्मा के ही सन्मुख होना है तो इसके लिए इतने अधिक शास्त्रों की रचना आचार्यदेव ने क्यों की ?

उत्तर :– इस जीव की भूलें इतनी अधिक हैं कि उन्हें बतलाने के लिए इतने अधिक शास्त्रों की रचना हुई है, की नहीं गई है, पुद्गल से हुई है ॥३॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ २१

(२८५)

प्रश्न :– पर के लक्ष्य से आत्मा में नहीं जाते – यह तो ठीक है, तो क्या शास्त्र-वाँचन से भी आत्मा में नहीं जाते ?

उत्तर :– हाँ, शास्त्र बाँचने के विकल्प से भी आत्मा में नहीं जाते ॥४॥ – आत्मधर्म : अगस्त १९७८, पृष्ठ २५

(२८६)

प्रश्न :– तो क्या हमें शास्त्र नहीं बाँचना चाहिये ?

उत्तर :– आत्मा के लक्ष्य से शास्त्राभ्यास करना – ऐसा श्री प्रवचनसार में कहा है तथा श्री समयसार की प्रथम गाथा में आचार्यदेव ने कहा है कि तू अपनी पर्याय में सिद्धों की स्थापना करके सुन। इसका अर्थ यह हुआ कि तू सिद्धस्वरूप है – ऐसी श्रद्धा-प्रतीति करके सुन। सिद्धस्वरूप में दृष्टि जोड़ी है अर्थात् सुनते और बाँचते हुए भी स्वरूप में एकाग्रता की वृद्धि होगी ॥५॥ – आत्मधर्म : अगस्त १९७८, पृष्ठ २५

(२८७)

प्रश्न :– एक स्थान पर तो ऐसा कहा कि आत्मा के लक्ष से आगम का अभ्यास करो इससे तुम्हारा कल्याण होगा, और दूसरे स्थान पर ऐसा कहा कि शास्त्र की ओर होनेवाले राग को भी छोड़ दो। ऐसा क्यों ?

उत्तर :– पर की तरफ का लक्ष बन्ध का कारण होने से शास्त्र की तरफ का राग भी छुड़ाया है और जहाँ आगम का अभ्यास करने के लिये कहा, वहाँ उस आगमाभ्यास में आत्मा का लक्ष है, इसलिये व्यवहार से उस आगमाभ्यास को कल्याण का कारण कहा है ॥६॥

– आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ २६

(२८८)

प्रश्न :– शास्त्र द्वारा मन से आत्मा जाना हो, उसमें आत्मज्ञान हुआ कि नहीं ?

उत्तर :– यह तो शब्दज्ञान हुआ, आत्मा जानने में नहीं आया; आत्मा तो आत्मा से जाना जाता है। शुद्ध उपादान से हुए ज्ञान में साथ में आनन्द आता है; किन्तु अशुद्ध उपादान से हुए ज्ञान में साथ में आनन्द नहीं आता और आनन्द आए बिना आत्मा वास्तव में जानने में नहीं आता ॥७॥ – आत्मधर्म : जून १९७८, पृष्ठ २४

(२८९)

प्रश्न :– शास्त्र द्वारा आत्मा को जाना और बाद में परिणाम आत्मा में मग्न हुए – इन दोनों में आत्मा के जानने में क्या अन्तर है ?

उत्तर :– अनन्त गुना अन्तर है। शास्त्र से जानपना किया, यह तो साधारण धारणारूप जानपना है और आत्मा में मग्न होकर अनुभव में आत्मा को प्रत्यक्ष वेदन से जानता है। अतः इन दोनों में भारी अन्तर है ॥८॥ – आत्मधर्म : सितम्बर १९७७, पृष्ठ २७

(२९०)

प्रश्न :– क्या इन्द्रियज्ञान आत्मज्ञान का कारण नहीं है ?

उत्तर :– ग्यारह अंग और नौ पूर्व की लब्धिवाला ज्ञान भी खण्ड-खण्ड ज्ञान है, आत्मा का ज्ञान नहीं। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, इन्द्रियज्ञान वह आत्मा नहीं। आँख से हजारों शास्त्र वाँचे और कान से सुने, वह सब इन्द्रियज्ञान है, आत्मज्ञान नहीं। आत्मा अतीन्द्रियज्ञान से जाननेवाला है; इन्द्रियज्ञान से जाने, वह आत्मा नहीं। आत्मा को जानने पर जो आनन्द का स्वाद आता है, वह स्वाद इन्द्रियज्ञान से नहीं आता; अतः इन्द्रियज्ञान आत्मा नहीं है ॥९॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(२९१)

प्रश्न :– अनुमानज्ञान से आत्मा को जाननेवाले की पर्याय में भूल है या आत्मा जानने में भूल है ?

उत्तर :– अनुमानज्ञान वाले ने आत्मा को यथार्थ जाना ही नहीं, अतः आत्मा के जानने में भूल है। स्वानुभव प्रत्यक्ष से ही आत्मा जैसा है, वैसा जानने में आता है। अनुमान से तो शास्त्र और सर्वज्ञ जैसा कहते हैं, वैसा आत्मा को जानता है, परन्तु यथार्थ तो स्वानुभव में ही ज्ञात होता है। स्वानुभव के बिना आत्मा यथार्थ जानने में नहीं आता ॥१०॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७९, पृष्ठ २८

(२९२)

प्रश्न :– भगवान की वाणी से भी आत्मा जानने में नहीं आता, तो फिर आप ही बतलाइए कि वह आत्मा कैसे जानने में आता है ?

उत्तर :– भगवान की वाणी वह श्रुत है – शास्त्र है और शास्त्र पौद्गलिक है, अतः वह ज्ञान नहीं है – उपाधि है, तथा उस श्रुत से होनेवाला ज्ञान भी उपाधि है; क्योंकि उस श्रुत के लक्षवाला ज्ञान परलक्षी ज्ञान है और परलक्ष से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान स्व को जान सकता नहीं, अतः उसको भी श्रुत के समान उपाधि कहा गया। जिसप्रकार सूत्र –

शास्त्र ज्ञान नहीं है, बाहर की चीज है – उपाधि है; उसीप्रकार उस श्रुत के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान भी बाहर की चीज है – उपाधि है। अहाहा ! कैसी अनोखी है, वीतराग की शैली ? परलक्षी ज्ञान को भी श्रुत के समान उपाधि कहा है। स्वज्ञानरूप ज्ञप्तिक्रिया से आत्मा जानने में आता है, परन्तु भगवान की वाणी से आत्मा जानने में नहीं आता ॥११॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २४

(२९३)

प्रश्न :– ग्यारह अंग और नव पूर्व का ज्ञानी पंच महाव्रत का पालन करे, तथापि आत्मज्ञान करने में अब उसे और क्या शेष रह गया है ?

उत्तर :– ग्यारह अंग का ज्ञान तथा पंच महाव्रत का पालन करने पर भी उसे भगवान आत्मा का अखण्डज्ञान करना शेष रह गया है। ग्यारह अंग का खण्ड-खण्ड इन्द्रियज्ञान किया था, वह खण्ड-खण्ड ज्ञान परवश होने से दुःख का कारण था। अखण्ड आत्मा का ज्ञान किये बिना वह ग्यारह अंग का ज्ञान नाश को प्राप्त होने पर कालक्रम से वह जीव निगोद में भी चला जाता है। अखण्ड आत्मा का ज्ञान करना ही मूलवस्तु है। इसके बिना भव-भ्रमण का अन्त नहीं ॥१२॥

– आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २६

(२९४)

प्रश्न :– आचार्यदेव ने केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में किस अपेक्षा से समानता कही है ?

उत्तर :– जैसे भगवान केवली केवलज्ञान से आत्मा का अनुभव करने से केवली हैं, वैसे ही हम भी श्रुतज्ञान से केवल शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से श्रुतकेवली हैं – ऐसा आचार्यदेव कहते हैं। अतः विशेष जानने की आकांक्षा से बस होओ ! स्वरूप निश्चलता ही बनी रहे। आहाहा ! देखो मुनि अपनी दशा की बात करते हैं कि केवली की तरह हम भी केवल शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से श्रुतकेवली। हैं जिसप्रकार अमृतकुण्ड को कोई सूर्य के प्रकाश से देखे और कोई उसी को दीपक के प्रकाश से देखे तो दृष्टिगोचर वस्तु में कोई अन्तर नहीं है; उसीप्रकार केवली तो केवलज्ञान-सूर्य से अमृतकुम्भ आत्मा को देखते हैं और श्रुत-केवली दीपक समान श्रुतज्ञान से अमृतकुम्भ आत्मा को देखते हैं। यद्यपि

सूर्य और दीपक के प्रकाश में अन्तर है, तथापि उनके द्वारा देखी गई वस्तु में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा कहकर केवली के साथ समानता की है ॥१३॥ — आत्मधर्म : जुलाई १६८०, पृष्ठ २१

(२६५)

प्रश्न :– सूक्ष्म उपयोग का अर्थ क्या है ?

उत्तर :– अन्दर आत्मा ध्रुववस्तु पड़ी है, उसको पकड़नेवाला उपयोग सूक्ष्म है। जो पुण्य-पाप के परिणामों में ही रुक जाय, वह उपयोग स्थूल है ॥१४॥ — आत्मधर्म : अप्रेल १६८१, पृष्ठ २३

(२६६)

प्रश्न :– उपयोग सूक्ष्म कैसे हो ?

उत्तर :– अन्दर में आत्मवस्तु अचिन्त्य सामर्थ्यवाली पड़ी है, उसकी रुचि करे तो उपयोग सूक्ष्म होकर अन्दर में झुकता है ॥१५॥

— आत्मधर्म : अप्रेल १६८१, पृष्ठ २३

(२६७)

प्रश्न :– धारणा का विषय आत्मा है या नहीं ?

उत्तर :– बाहर के उघाड़ से होनेवाली धारणा का विषय आत्मा नहीं है। किन्तु सम्यक्-मतिज्ञान में आत्मा को जानकर जो धारणा हुई है, उसका विषय आत्मा है; इस धारणा से ज्ञानी पुनः पुनः आत्मा का स्मरण करता है ॥१६॥ — आत्मधर्म : नवम्बर १६७७, पृष्ठ २४

(२६८)

प्रश्न :– स्मरण होता है अर्थात् निर्विकल्प दशा हो जाती है ?

उत्तर :– स्मरण ही निर्विकल्पता है। निर्विकल्प स्मरण में अतीन्द्रिय आनन्द की माला फिरती है। इस निर्विकल्प स्मरण से मोह छूटता है; विकल्प से तो मोह नहीं छूट सकता ॥१७॥

— आत्मधर्म : नवम्बर १६७७, पृष्ठ २४

(२६६)

प्रश्न :– सामान्यज्ञान और विशेषज्ञान में भेद और उनका फल बतलाते हुए स्पष्ट कीजिए कि सम्यग्दृष्टि इनमें से अपना ज्ञान किसे मानता है ?

उत्तर :– विषयों में एकाकार हुए ज्ञान को विशेषज्ञान अर्थात्

मिथ्याज्ञान कहते हैं और उनका लक्ष छोड़कर अकेले सामान्यज्ञान-स्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न हुए ज्ञान को सामान्यज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ज्ञानस्वभाव में एकाकार होकर प्रगट हुये ज्ञान को सामान्यज्ञान-वीतरागीज्ञान कहते हैं, उसी को जैनशासन अथवा आत्मानुभूति कहते हैं। सामान्यज्ञान में आत्मा के आनन्द का स्वाद आता है। विशेषज्ञान अर्थात् इन्द्रियज्ञान में आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं आता; अपितु आकुलता और दुःख का स्वाद आता है।

परद्रव्य का अवलम्वन लेकर जो ज्ञान होता है, वह विशेषज्ञान है। भगवान की वाणी सुनकर जो ज्ञान हुआ वह इन्द्रियज्ञान है – विशेषज्ञान है; वह आत्मा का ज्ञान – अतीन्द्रियज्ञान – सामान्यज्ञान नहीं। ज्ञानी को आत्मा का ज्ञान हुआ है, उस सामान्यज्ञान को ज्ञानी अपना ज्ञान जानता है और पर को जानता हुआ इन्द्रियज्ञान जो अनेकाकाररूप परसत्तावलम्बी ज्ञान होता है, उसको अपना ज्ञान मानता नहीं। जैसे परज्ञेय को अपना मानता नहीं, वैसे ही पर के ज्ञान को भी अपना ज्ञान मानता नहीं। जिसमें आनन्द का स्वाद आता है, ऐसे आत्मज्ञान को ही अपना ज्ञान मानता है ॥१८॥ – आत्मधर्म : मई १९७९, पृष्ठ २५

(३००)

प्रश्न :– आत्मज्ञान हो जाने पर तो यह व्रतादि राग है, ऐसा भासित हो जाता है; परन्तु प्रथम तो आत्मज्ञान जल्दी होता नहीं है न ?

उत्तर :– जल्दी का क्या अर्थ ? इसका अभ्यास करना चाहिए कि राग क्या है ? आत्मा क्या है ? मैं त्रिकाल टिकनेवाली चीज कैसी हूँ ? इत्यादि अभ्यास करके, ज्ञान करके, राग से भिन्न आत्मा का अनुभव करना – यह पहली वस्तु है। आत्मा को जाने विना समस्त क्रियाकाण्ड व्यर्थ हैं। आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप भगवान चैतन्य का पुंज प्रभु है। उसका ज्ञान न हो, अन्तर-दशा का वेदन न हो, तव तक उसका क्रिया-काण्ड सव झूठा है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करना दुर्लभ है। अतः सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए ॥१९॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २४

(३०१)

प्रश्न :– अपने ही सत् का ज्ञान करना क्यों महत्त्वपूर्ण है; पर-सत् का क्यों नहीं ?

उत्तर :– अपनी अपेक्षा से अन्य सभी परद्रव्य असत् हैं, स्वयं ही सत् है। स्वयं ही अपना ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूप सत् है; अतः अपने ही सत् का ज्ञान करना। अपने सत् का ज्ञान करने से अतीन्द्रिय आनन्द की झलक आये विना नहीं, रहेगी यदि आनन्द न आवे तो समझ लो कि हमने अपने सत् का सच्चा ज्ञान किया ही नहीं। मूल में तो अन्तर में झुकना – रमणता करना ही सर्व सिद्धान्त का सार है ॥२०॥

– आत्मधर्म : मार्च १९७९, पृष्ठ २५

(३०२)

प्रश्न :– क्या खण्ड-खण्ड ज्ञान – इन्द्रियज्ञान भी संयोगरूप है ?

उत्तर :– हाँ, वास्तव में तो खण्ड-खण्ड ज्ञान भी त्रिकालीस्वभाव की अपेक्षा से संयोगरूप है। जैसे इन्द्रियाँ संयोगरूप हैं, वैसे वह भी संयोगरूप है। जिसप्रकार शरीर, ज्ञायक से अत्यन्त भिन्न है; उसीप्रकार खण्ड-खण्ड ज्ञान – इन्द्रियज्ञान भी ज्ञायक से भिन्न है, संयोगरूप है; स्वभावरूप नहीं ॥२१॥ – आत्मधर्म : अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २४

(३०३)

प्रश्न :– क्या ज्ञानी की प्ररूपणा में असत् की प्ररूपणा भी आती है ?

उत्तर :– नहीं, ज्ञानी की वाणी में असत् की प्ररूपणा नहीं आती। ज्ञानी के अस्थिरता तो होती है, किन्तु उसकी प्ररूपणा में असत् कथन नहीं आता। व्यवहार से निश्चय होता है, राग से लाभ होता है अथवा राग से धर्म होता है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य कर सकता है – ऐसी प्ररूपणा को असत् प्ररूपणा कहते हैं ॥२२॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७८, पृष्ठ २५

(३०४)

प्रश्न :–पंचास्तिकाय को अर्थी होकर सुने – इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– अर्थी होकर अर्थात् सेवक होकर, दास होकर सुनना। जैसे किसी बड़े आदमी के पास याचक होकर मांगा जाता है; उसीप्रकार गुरु के पास पात्र शिष्य याचक होकर सुनता है। मैं भी कुछ जानता हूँ – इसप्रकार अभिमानपूर्वक नहीं सुनता, किन्तु गरजमन्द होकर अपना हित करने के लिए सुनता है। अपने ज्ञान में पंचास्तिकाय को जानता है – निर्णय करता है ॥२३॥ – आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २४

(३०५)

प्रश्न :– परसत्तावलम्बी ज्ञान शुद्धात्मा का निर्णय करता है, क्या वह ज्ञान भी व्यर्थ है ?

उत्तर :– परोन्मुख ज्ञान से सविकल्प निर्णय होता है, वह वास्तव में शुद्धात्मा का निर्णय नहीं कहा जाता। स्वसन्मुख होकर निर्विकल्पता में जो निर्णय होता है, वही शुद्धात्मा का सच्चा निर्णय है ॥२४॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २१

(३०६)

प्रश्न :– जो सविकल्प ज्ञान किनारे तक ले जाता है, उसको व्यर्थ क्यों कहा जाता है ?

उत्तर :– सविकल्प ज्ञान से शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता। स्व-सन्मुख ज्ञान से शुद्धात्मा का स्वानुभवपूर्वक निर्णय होता है ॥२५॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २१

(३०७)

प्रश्न :– व्यवस्थित जानना ज्ञान का स्वभाव है क्या ?

उत्तर :– आत्मा ज्ञानस्वरूप है और उसकी केवलज्ञानादि पाँच पर्यायें हैं। केवलज्ञान अपने गुण के व्यवस्थित कार्य को जानता है। उसी प्रकार मतिज्ञान भी अपने गुण के व्यवस्थित कार्य को जानता है, पर के कार्य को भी व्यवस्थित जानता है। श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान भी अपने-अपने गुण के व्यवस्थित कार्य को तथा पर के कार्य को भी व्यवस्थित जानते हैं। व्यवस्थित जानना उनका स्वभाव है।

आत्मा अकेला ज्ञानस्वरूप है अर्थात् उसकी पर्याय, गुण और द्रव्य – बस, मात्र ज्ञाता ही हैं, फेरफार करनेवाले नहीं। अपने में भी कोई फेर-फार करता नहीं है। जैसा व्यवस्थित कार्य होता है, वैसा जानता है। अहाहा ! देखो तो सही ! वस्तु ही ऐसी है। अन्दर में तो खूब गम्भीरता से चलता है, परन्तु कथन में तो ………॥२६॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७९, पृष्ठ २६

(३०८)

प्रश्न :– वर्तमान पर्याय में अधूरा ज्ञान है, उस अधूरे ज्ञान में पूरे ज्ञानस्वभाव का ज्ञान कैसे हो ?

उत्तर :— जैसे आँख छोटी होने पर भी सारे शरीर को जान लेती है, उसीप्रकार पर्याय में ज्ञान का विकास अल्प होने पर भी यदि वह ज्ञान स्व-सन्मुख हो तो पूर्णज्ञानस्वरूपी शुद्धात्मा को स्वसंवेदन से जान लेता है। केवलज्ञान होने से पहले अपूर्णज्ञान में भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से पूर्ण-ज्ञानस्वरूपी आत्मा का निःसंदेह निर्णय होता है।

जैसे शक्कर की अल्पमात्रा से सम्पूर्ण शक्कर के स्वाद का निर्णय हो जाता है, वैसे ही ज्ञान की अल्पपर्याय को अन्तर्मुख करने पर उसमें पूर्णज्ञानस्वभाव का निर्णय हो जाता है। पूर्णज्ञान होने पर ही पूर्ण आत्मा को जाना जाय — ऐसी बात नहीं है। यदि अपूर्णज्ञान पूर्ण आत्मा को न जान सके, तो कभी भी सम्यग्ज्ञान ही नहीं हो सके; इसलिए अपूर्णज्ञान भी स्वसन्मुख होकर पूर्ण आत्मा को जान लेता है ॥२७॥

— वीतराग-विज्ञान : सितम्बर १९८३, पृष्ठ २२

(३०९)

प्रश्न :— उपयोग का पर से हनन नहीं होता — इसका क्या अर्थ ?

उत्तर :— प्रवचनसार गाथा १७२ में अलिंगग्रहण के नौवें बोल में उपयोग का पर से हनन नहीं होता — ऐसी बात आई है हनन अर्थात् नाश। मुनि को चारित्रदशा होती है और वे स्वर्ग में जाते हैं, वहाँ चारित्रदशा तो नाश को प्राप्त हो जाती है तो भी स्व के लक्ष से जो उपयोग हुआ है, वह नाश नहीं होता। स्व के लक्ष से उपयोग हुआ है। वह तो अप्रतिहत हुआ है — नाश नहीं होता ॥२८॥

— आत्मधर्म : सितम्बर १९७८, पृष्ठ २६

—०—

सम्यग्ज्ञान बिना तेरा जनम अकारथ जाय ॥टेक॥
अपने सुख में मगन रहंत नहिं, पर की लेत वलाय।
सीख सुगुरु की एक न मानै, भव-भव में दुःख पाय ॥१॥
ज्यों कपि आप काठ लीला करि, प्रान तजै बिललाय।
ज्यों निज मुख करि जाल मकरिया, आप मरै उलझाय ॥२॥
कठिन कमायो सब धन ज्वारी, छिन में देत गमाय।
जैसे रतन पायकै भोंदू, बिलखे आप गमाय ॥३॥
देव-शास्त्र-गुरु को निहचै करि, मिथ्यामत मति ध्याय।
सुरपति वाँछा राखत याकी, ऐसी नर परजाय ॥४॥

(७)

सम्यक्चारित्र

(३१०)

प्रश्न :– धर्म क्या है ? अर्थात् साक्षात् मोक्षमार्ग क्या है ?

उत्तर :– 'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात् चारित्र वास्तव में धर्म है, वही साक्षात् मोक्षमार्ग है ॥१॥ – आत्मधर्म : अक्टूबर १९७६, पृष्ठ २३

(३११)

प्रश्न :– चारित्र का अर्थ क्या है ?

उत्तर :–शुद्ध-ज्ञानस्वरूप आत्मा में चरना – प्रवर्तन करना सो चारित्र है ॥२॥ – आत्मधर्म : अक्टूबर १९७६, पृष्ठ २३

(३१२)

प्रश्न :– ऐसे चारित्र के लिए प्रथम क्या करना चाहिए ?

उत्तर :– चारित्र के लिए प्रथम तो स्व-पर के यथार्थ स्वरूप का निश्चय करना चाहिए, क्योंकि उसमें एकाग्र होना है। वस्तु के स्वरूप का निश्चय किए विना उसमें स्थिर कैसे होगा ? इसलिए प्रथम जिसमें स्थिर होना है ,उस वस्तु के स्वरूप का निश्चय करना चाहिए ॥३॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७६, पृष्ठ २३

(३१३)

प्रश्न :– 'चारित्तं खलु धम्मो' चारित्र वास्तव में धर्म है – ऐसा कहा, उस चारित्र का स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्ति के लिए प्रथम क्या करना चाहिए ?

उत्तर :– शुद्धज्ञानस्वरूप आत्मा में चरना-प्रवर्तना, वह चारित्र है। चारित्र के लिए प्रथम तो स्व-पर के यथार्थस्वरूप का निश्चय करना चाहिए; क्योंकि जिसमें एकाग्र होना है, उस वस्तु के स्वरूप का निश्चय किये विना उसमें स्थिर कैसे होगा ? अतः जिसमें स्थिर होना हो, उस वस्तु के स्वरूप का प्रथम ही निश्चय करना चाहिए ॥४॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९८२, पृष्ठ २४

(३१४)

प्रश्न :– वस्तु के स्वरूप का निश्चय किसप्रकार करना चाहिए ?

उत्तर :– इस जगत में मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ। मेरे से भिन्न जगत के समस्त जड़-चेतन पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं। विश्व के पदार्थों के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्वन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई सम्वन्ध मेरा नहीं है। कोई भी पदार्थ मेरा नहीं और मैं किसी के कार्य का कर्त्ता नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावसामर्थ्य से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप से परिणमित हो रहा है, उसके साथ मेरा कोई भी सम्वन्ध नहीं है। जो जीव ऐसा निर्णय करता है, वही पर के साथ का सम्वन्ध तोड़कर निजस्वरूप में उपयोग को जोड़ता है और उसे ही स्वरूप में चरणरूप चारित्र होता है। इसप्रकार चारित्र के लिए प्रथम वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए ॥५॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९८२, पृष्ठ २४

(३१५)

प्रश्न :– ऐसा समझने पर तो कोई जीव व्रत और त्याग करेगा ही नहीं ?

उत्तर :– कौन त्याग करता है और किसका त्याग करता है ? परवस्तु का तो ग्रहण-त्याग कोई जीव कर ही नहीं सकता, मात्र अपने विकार का ही त्याग किया जा सकता है ॥६॥

– आत्मधर्म : जून १९८२, पृष्ठ २४

(३१६)

प्रश्न :– विकार का त्याग कौन कर सकता है ?

उत्तर :– जिसको विकार से भिन्न स्वभाव की प्रतीति हुई हो, वही जीव विकार का त्याग कर सकता है। राग से भिन्न आत्मस्वभाव को जाने बिना राग का त्याग कैसे करेगा ? सम्यग्दर्शन द्वारा राग से भिन्न स्वभाव की श्रद्धा करने के पश्चात् ही राग का यथार्थरूप से त्याग हो सकता है। जो जीव अपने शुद्धस्वभाव को तो जानता नहीं है और राग के साथ एकत्व मानता है, वह जीव राग का त्याग नहीं कर सकता; इसलिए इसे समझने के वाद ही सच्चा त्याग हो सकता है। सच्चा त्याग तो सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है। मिथ्यादृष्टि को तो किसका त्याग करें और किसको ग्रहण करें – इसका भान ही नहीं है, अतः उसका त्याग सच्चा नहीं होता ॥७॥ – आत्मधर्म : जून १९८२, पृष्ठ २४

(३१७)

प्रश्न :– पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करनेवाला जीव कैसा होता है ?

उत्तर :– वह जीव अपने आत्मा को कृतनिश्चय, निष्क्रिय तथा निर्भोग देखता है। उसे स्व-पर के स्वरूप सम्बन्धी सन्देह दूर हो गया है। परद्रव्य की किसी भी क्रिया को वह आत्मा की नहीं मानता तथा अपने आत्मा को परद्रव्य में प्रवृत्तिरूप क्रिया से रहित –निष्क्रिय देखता है; परद्रव्य के उपभोग रहित निर्भोग देखता है। ऐसे अपने स्वरूप को देखता हुआ वह जीव संदेह तथा व्यग्रता रहित होता हुआ निजस्वरूप में एकाग्र होता है। निजस्वरूप की धुन का धुनी होकर उसमें स्थिर होता है। इसप्रकार वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाले को ही चारित्र होता है ॥८॥

– आत्मधर्म : अक्तूबर १९७६, पृष्ठ २४

(३१८)

प्रश्न :– मोक्षमार्ग की साधक मुनिदशा किसे होती है ?

उत्तर :– उपरोक्तानुसार वस्तुस्वरूप का निश्चय करके उसमें जो एकाग्र होता है, उसीको श्रामण्य होता है ॥९॥

– आत्मधर्म : अक्तूबर १९७६, पृष्ठ २४

(३१९)

प्रश्न :– श्रामण्य का दूसरा नाम क्या है ?

उत्तर :– श्रामण्य का दूसरा नाम है मोक्षमार्ग। जहाँ मोक्षमार्ग है वहीं श्रामण्य है। जिसे मोक्षमार्ग नहीं है, उसे श्रामण्य भी नहीं है ॥१०॥

– आत्मधर्म : अक्तूबर १९७६, पृष्ठ २४

(३२०)

प्रश्न :– मुनिराज तो महाव्रतादि पालते हैं, उन्हें आस्रवभाव क्यों कहा है ? वे तो चारित्र हैं ?

उत्तर :– धवला भाग १ और १२ में आता है कि मुनि पंच महाव्रत को 'भुक्ति' अर्थात् भोगते हैं, परन्तु पंच महाव्रत को करते हैं अथवा पालते हैं – ऐसा नहीं कहा। जैसे जगत् के जीव अशुभराग को भोगते हैं, वैसे ही मुनि भी शुभराग को भोगते हैं। समयसारादि अध्यात्मशास्त्रों में तो ऐसा लेख आता ही है, परन्तु व्यवहार के ग्रन्थ धवला में भी मुनि पंच महाव्रत के शुभराग को भोगते हैं – ऐसा कहा है।

कम्बल या गलीचा आदि पर छपा हुआ सिंह किसी को मार नहीं सकता, वह तो कथनमात्र ही सिंह है। उसीप्रकार अन्तर्जल्प-वाह्यजल्प वाह्यक्रियारूप चारित्र हैं, वह कथनमात्र चारित्र है, सच्चा चारित्र नहीं है; कारण कि वह आत्मद्रव्य के स्वभावरूप नहीं है, पुद्गलद्रव्य के स्वभावरूप होने से वह कर्म के उदय का कार्य है। भले ही अशुभ से वचने के लिए शुभ होता है; परन्तु हैं तो वह वन्ध का ही कारण, मोक्ष का कारण तो है नहीं ॥११॥ — आत्मधर्म : जून १९७८, पृष्ठ २६

(३२१)

प्रश्न :— अभेदस्वरूप आत्मा की अनुभूति हो जाने के वाद व्रतादि करने से क्या लाभ ?

उत्तर :— शुद्धात्मा का अनुभव होने के बाद पंचम्-षष्ठम् गुणस्थानों में उस-उस प्रकार का राग भूमिकानुसार आये विना रहता नहीं। वह शुभराग वन्ध का ही कारण है और हेय है — ऐसा ज्ञानी जानता है। शुद्धता की वृद्धि अनुसार कषाय घटती जाती होने के कारण व्रतादि का शुभराग आए बिना रहता ही नहीं — ऐसा ही स्वभाव है ॥१२॥

— आत्मधर्म : अगस्त १९७८, पृष्ठ २६

(३२२)

प्रश्न :— व्रत-तप आदि सब विकल्प हैं तो इन्हें करना या नहीं ?

उत्तर :— करने न करने की बात नहीं। सम्यग्दर्शन के बाद पाँचवें गुणस्थान में वे विकल्प आते हैं, वे शुभ राग हैं, धर्म नहीं; ऐसा ज्ञानी जानते हैं। मिथ्यादृष्टि को ऐसे विकल्प आने पर शुभराग से पुण्य वँधता है — पर वह उस राग से धर्म मानता है, उसे अपना स्वरूप मानता है, अतः मिथ्यात्व भी वँधता हैं। शुभ छोड़कर अशुभ में जाने की बात नहीं है, परन्तु शुभराग अपना स्वरूप नहीं — ऐसा जानकर शुद्धता प्रगट करने की बात है ॥१३॥ — आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २५

(३२३)

प्रश्न :— सच्चा समताभाव किसे होता है ?

उत्तर :— स्व-पर तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं — ऐसा स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप समझे नहीं और वस्तु को पराधीन माने, उसे सच्चा समताभाव नहीं हो सकता। वस्तुस्वरूप को पराधीन मानने की मान्यता में ही अनन्त विषमभाव पड़ा है। भले वाहर से क्रोधी न दिखाई पड़े और मन्दकषाय रखता

हो, तथापि जहाँ वस्तुस्वरूप का भान नहीं है, वहाँ समता का अंश भी नहीं होता। आत्मा के ज्ञानस्वभाव का अनादर ही महान विषमभाव है। प्रत्येक तत्त्व स्वतन्त्र है, कोई किसी के आधीन नहीं। मेरा स्वभाव तो मात्र सबको जानने का है – इसप्रकार वस्तु-स्वातन्त्र्य को जानकर अपने ज्ञानस्वभाव का आदर करना ही सच्चा समभाव है ॥१४॥

– वीतराग-विज्ञान : नवम्बर १९८३, पृष्ठ २५-२६

(३२४)

प्रश्न :– इस धर्म में कहीं त्याग या ग्रहण करने की बात तो आई ही नहीं ?

उत्तर :– इसमें ही यथार्थ ग्रहण-त्याग की बात आ जाती है। ग्रहण या त्याग किसी बाह्यवस्तु का तो हो नहीं सकता, वह तो अन्तर में ही होता है। बाह्यवस्तु को ग्रहण-त्याग कर सकने की मान्यता तो अधर्म है। भले ही ऐसी मान्यतावाला जीव हरितकाय का त्यागी हो और भगवान के नाम का जप करता हो, तथापि वह अधर्मी है। मैं परवस्तु का ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ अथवा राग व मंदकषाय से मुझे धर्म होगा – ऐसी विपरीत मान्यता का त्याग और जड़ एवं विकार से भिन्न अन्तर में अपना स्वभाव पूर्ण ज्ञायकमूर्ति है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता का ग्रहण ही धर्म है। श्रद्धा में पूर्णस्वभाव का ग्रहण और अपूर्णता का त्याग धर्म है ॥१५॥ – वीतराग-विज्ञान : फरवरी १९८४, पृष्ठ २४-२५

(३२५)

प्रश्न :– क्या त्याग धर्म नहीं है ?

उत्तर :– सम्यग्दर्शनपूर्वक जितने अंश में वीतरागभाव प्रगट हुआ, उतने अंश में कषाय का त्याग हुआ। सम्यग्दर्शनादि अस्तिरूप धर्म हैं और मिथ्यात्व व कषाय का त्याग नास्तिरूप धर्म है। सम्यग्दर्शन रहित त्याग धर्म नहीं है, यदि मन्दकषाय हो तो पुण्यबन्ध है ॥१६॥

– वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ २८

(३२६)

प्रश्न :– धर्म और अधर्म का आधार किस पर है ?

उत्तर :– एक तरफ संयोग और दूसरी तरफ स्वभाव – दोनों एक ही समय हैं। वहाँ दृष्टि किस पर पड़ी है – इस पर धर्म-अधर्म का आधार है। संयोग पर दृष्टि है तो अधर्म होता है और स्वभाव पर दृष्टि है तो धर्म होता है ॥१७॥ – वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ २८

(३२७)

प्रश्न :– धर्म का आचरण क्या है ?

उत्तर :— स्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़ना और पर के साथ सम्बन्ध तोड़ना अर्थात् जैसा अपना स्वभाव है, वैसा जानकर श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार करना दर्शन व ज्ञान का आचरण है, तत्पश्चात् उसी स्वभाव में उपयोग की एक ग्रता करना चारित्र का आचरण है। इसी आचरण से धर्म होता है, अन्य कोई धर्म का आचरण नहीं है ॥१८॥

– वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ २९

(३२८)

प्रश्न :– सामायिक कितने प्रकार की है ? उनमें से चतुर्थ गुणस्थान में कौन-कौन सी है ?

उत्तर :– सामायिक चार प्रकार की है। ज्ञान सामायिक, दर्शन सामायिक, देशविरत सामायिक और सर्वविरत सामायिक। अपने पूर्ण ज्ञानस्वभाव का आदर करना और विकार का आदर नहीं करना ज्ञान-दर्शनरूप सामायिक है। पहले मिथ्यात्व के कारण ऐसा मानता था कि 'पुण्य भला और पाप बुरा', 'अमुक से लाभ और अमुक से हानि,' तब श्रद्धा और ज्ञान में विषमभाव था। अब कोई भी परपदार्थ मुझे लाभ-हानिकारक नहीं, पुण्य-पाप दोनों ही मेरे स्वरूप नहीं – ऐसी स्वभावाश्रित सम्यक् श्रद्धा होने पर ज्ञान-दर्शन में समभाव प्रकट होना श्रद्धा-ज्ञानरूप सामायिक है। यह सामायिक आरम्भ-परिग्रह में रहनेवाले सम्यग्दृष्टि के भी होती है और सदा विद्यमान है, मात्र दो घड़ी की ही नहीं। स्वभाव की अधिक लीनता होने पर देशविरतिरूप सामायिक श्रावक को और विशेष अधिक लीनता होने पर सर्वविरतिरूप सामायिक मुनिदशा में होती है ॥१९॥ – वीतराग-विज्ञान : दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २७

(३२९)

प्रश्न :– क्या अकेला चारित्र ही ध्यान है अथवा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान भी ध्यान के प्रकार हैं ?

उत्तर :– शुद्धात्मस्वभाव की श्रद्धा करना भी परमात्मस्वभाव का ही ध्यान है। सम्यग्दर्शन भी स्वरूप की ही एकाग्रता है और सम्यग्ज्ञान भी ध्यान ही है तथा सम्यक्चारित्र भी ध्यान है। यह तीनों स्वाश्रय की एकाग्रतारूप ध्यान के ही प्रकार हैं और ध्यान से ही प्रगट होते हैं। राग

की एकाग्रता छोड़कर स्वरूप की एकाग्रता करना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। अकेले ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता करते ही रागादि की चिन्ता छूट जाती है, वही एकाग्रता चिन्ता-निरोधरूप ध्यान है और वही मोक्षमार्ग ॥२०॥ – वीतराग-विज्ञान : फरवरी १९८४, पृष्ठ २४

(३३०)

प्रश्न :– ध्यान पर्याय को कथंचित् भिन्न क्यों कहा है ?

उत्तर :– समयसार गाथा ३२० में जयसेनाचार्य ने ध्यान को कथंचित् भिन्न कहा है। उसका अर्थ 'पर' की अपेक्षा से ध्यान पर्याय वह स्वयं की है, इसलिए अभिन्न है और शाश्वत् ध्रुव द्रव्य की अपेक्षा से ध्यान पर्याय विनाशीक होने से भिन्न है।

वास्तव में तो द्रव्य और पर्याय दोनों भिन्न हैं ॥२१॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २३

(३३१)

प्रश्न :– पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत – ऐसे धर्मध्यान के चार प्रकार हैं, उनमें कितने सविकल्प हैं और कितने निर्विकल्प हैं ?

उत्तर :– परमार्थ से तो चारों ही प्रकार के धर्मध्यान निर्विकल्प हैं, क्योंकि जब विकल्प छूटकर उपयोग स्व में स्थिर हो तभी वास्तविक धर्मध्यान कहा जाय। प्रथम पिण्डस्थ अर्थात् देह में स्थित शुद्ध आत्मा; पदस्थ अर्थात् शब्द के वाच्यरूप शुद्ध आत्मा; रूपस्थ अर्थात् अरिहन्त सर्वज्ञदेव; तथा रूपातीत अर्थात् देहातीत सिद्ध परमात्मा – इन चार प्रकार के स्वरूप का अनेक विधि चिन्तवन – अन्य स्थूल विकल्पों में से छूटकर, मन के एकाग्र करने के समय आवे, उसे व्यवहार धर्मध्यान कहते हैं। पश्चात् वह विकल्प भी छूटकर निजस्वरूप में उपयोग जमे तब वास्तविक धर्मध्यान कहा जाय।

इस भाँति चार प्रकार के सविकल्प चिन्तवन को व्यवहार से धर्मध्यान कहा, परमार्थ धर्मध्यान तो निर्विकल्प है। परमार्थ धर्मध्यान वीतराग है और वही मोक्ष का साधक है ॥२२॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(३३२)

प्रश्न :– 'परमात्मप्रकाश' में परमात्मा के ध्यान करने को धर्मध्यान कहा है – वह कैसे ?

उत्तर :— परमात्मा का ध्यान करने को कहकर अपने ही आत्मा का ध्यान करने को कहा है, अपने से भिन्न परमात्मा का नहीं। परमात्मा के समान ही अपना स्वभाव परिपूर्ण रागादि रहित है, उसको पहिचानकर उसका ही ध्यान करना — यही परमार्थ से परमात्मा का ध्यान है। इसके अतिरिक्त अरहन्त व सिद्ध का लक्ष करना सच्चा धर्मध्यान नहीं है, किन्तु राग है और परमार्थ से राग तो आर्त्तध्यान है; अतः उससे कभी भी धर्मध्यान नहीं हो सकता ॥२३॥ —आत्मधर्म : मार्च १९८३, पृष्ठ २५

(३३३)

प्रश्न :— स्थिरता (चारित्र) को निकट का उपाय क्यों कहा ?

उत्तर :— क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान भी मोक्ष का उपाय है, परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्थिरता मोक्ष का साक्षात् उपाय है। इसीकारण स्थिरता को मोक्ष का निकट का उपाय कहा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान के पश्चात् भी स्वरूप में स्थिरता के विना मोक्ष प्राप्त नहीं होता ॥२४॥

— वीतराग-विज्ञान : अप्रेल १९८४, पृष्ठ २७

(३३४)

प्रश्न :— स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि जिनवचन की भावना के लिए इन भावनाओं की रचना की है — इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :— पहले 'जिनवचन क्या है' — यह निर्णय करना पड़ेगा। जिनवचन में कहे गए द्रव्य-गुण-पर्याय — इन तीनों का स्वरूप जैसा है, वैसा समझकर और प्रतीति करके धर्मी जीव इन भावनाओं को भाता है; उसमें उसको वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी आनन्द का अंश प्रगट होता है। जिनवचन की भावना के अर्थ ये भावनाएँ रची हैं अर्थात् जिनवचनानुसार वस्तुस्वरूप का भान जिसे हुआ हो, उसे ही ये भावनाएँ होती हैं। जिनवचन से विरुद्ध कहनेवाले कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को जो मानता हो; उसको बारह भावनाओं का चिन्तवन सच्चा नहीं होता। सम्यग्दर्शन विना भावनाएँ यथार्थ नहीं होती ॥२५॥

— वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ २८

(३३५)

प्रश्न :— संसारभावना का अर्थ क्या संसार की भावना करना है ?

उत्तर :— नहीं; संसारभावना में संसार की भावना या रुचि नहीं हैं; रुचि और भावना तो स्वभाव की ही है। धर्मी जीव अपने स्वभाव

की दृष्टि रखकर संसार का स्वरूप चिन्तवन करके वैराग्य की वृद्धि करता है, इसका नाम संसारभावना है। अन्तर्तत्त्व के भान बिना द्वादश-भावना यथार्थ नहीं होती ॥२६॥

– वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ २८

(३३६)

प्रश्न :– मोक्ष का कारण समभाव है। वह समभाव करें तो मोक्ष होगा न ?

उत्तर :– समभाव अर्थात् वीतरागता। यह वीतरागता द्रव्य को पकड़े तब हो। द्रव्य के आश्रय बिना वीतरागता नहीं होती। समभाव का कारण वीतरागस्वभावी भगवान आत्मा है, उसका आश्रय करने और पर का आश्रय छोड़ने से मोक्ष होता है। यह अति संक्षिप्त कथन है ॥२७॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ २०

(३३७)

प्रश्न :– त्याग जैनधर्म है कि नहीं ?

उत्तर :–सम्यग्दर्शनपूर्वक जितने अंश में वीतराग भाव प्रकट हो, उतने अंश में कषाय का जो त्याग होता है, उसे धर्म कहते हैं। सम्यग्दर्शनादि अस्तिरूप धर्म है और उसीसमय मिथ्यात्व और कषाय का त्याग, वह नास्तिरूप धर्म है। किसी भी दशा में सम्यक्त्व रहित त्याग से धर्म नहीं होता, यदि मन्दकषाय हो तो पुण्य होता है ॥२८॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८२, पृष्ठ २५

(३३८)

प्रश्न :– आत्मा की क्षमा कैसे होती है ?

उत्तर :– अनन्तगुणमय-ज्ञानानन्दमय आत्मा का स्वरूप पहचानने से आत्मा की क्षमा होती है। आत्मा में कोई विभाव नहीं – वह तो क्षमा का सागर, शान्ति का सागर है। यद्यपि अनन्तकाल में अनन्तभाव हुए, निकृष्ट से निकृष्ट भाव भी हुए, तथापि आत्मा तो क्षमा का भण्डार – है – उसे पहचानने से ही सच्ची क्षमा होती है ॥२९॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९८१, पृष्ठ २०

(३३९)

प्रश्न :– अहिंसा को परमधर्म कहा है, उसका अर्थ क्या ?

उत्तर :– परजीवों की दया का भाव तो राग है और राग से स्व की हिंसा होती है तथा राग से लाभ मानने में चैतन्य प्रभु का अनादर है। जिस अहिंसा को परम धर्म कहा है; वह तो आत्मा की पर्याय में रागादि की उत्पत्ति ही न होवे – वह है, वही वीतरागी अहिंसा धर्म है। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गाथा ४४ में कहा कि आत्मा में रागादि की अनुत्पत्ति ही अहिंसा और उनकी उत्पत्ति होना ही हिंसा है। ऐसी बात पात्र जीव के बिना किसे रुचे? ॥३०॥

–आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २२-२३

—०—

धन-धन जैनी साधु अबाधित............

धन-धन जैनी साधु अबाधित, तत्त्वज्ञान विलासी हो ॥टेक॥

दर्शन-बोधमयी निजमूरति, जिनको अपनी भासी हो।
त्यागी अन्य समस्त वस्तु में, अहंबुद्धि दुःखदासी हो ॥१॥

जिन अशुभोपयोग की परिणति, सत्ता सहित विनाशी हो।
हेय कदाच शुभोपयोग तो, तहँ भी रहत उदासी हो ॥२॥

छेदत जे अनादि दुःखदायक, दुविधि बन्ध की फाँसी हो।
मोह-क्षोभ-रहित जिन परिणति, विमल मयंककला-सी हो ॥३॥

विषय-चाह-दव दाह खुजावन, साम्यसुधारस रासी हो।
'भागचन्द' ज्ञानानन्दी पद, साधत सदा हुलासी हो ॥४॥

– कविवर पण्डित श्री भागचन्दजी छाजेड़

(८)

मोक्षमार्ग

(३४०)

प्रश्न :– मोक्षमार्ग तो दो प्रकार का है न ?

उत्तर :– मोक्षमार्ग दो प्रकार का है – एक व्यवहार और दूसरा निश्चय। निश्चय तो साक्षात् मोक्षमार्ग है, व्यवहार परम्परा है। अथवा सविकल्प-निर्विकल्प के भेद से निश्चय मोक्षमार्ग भी दो प्रकार का है। मैं अनन्तज्ञान स्वरूप हूँ, शुद्ध हूँ, एक हूँ, अखण्ड हूँ, ध्रुव हूँ – ऐसा चिन्तवन सविकल्प निश्चय मोक्षमार्ग है और उसे साधक कहा है तथा सविकल्प चिन्तवन छूटकर निर्विकल्प आत्म अनुभव होना निश्चय मोक्षमार्ग है और वह साध्य है।

'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में कहा है कि प्रथम 'मैं शुद्ध हूँ' आदि चिन्तवन से आत्मा में अहंपना धारण करता है, तत्पश्चात् वह विकल्प भी छूटकर निर्विकल्प होता है। इस रीति से सविकल्प चिन्तवन को – सविकल्प निश्चय मोक्षमार्ग को साधक कहा और निर्विकल्प ध्यान को – निर्विकल्प निश्चय मोक्षमार्ग को साध्य कहा है।

जैसे देव-गुरु-शास्त्र की रागमिश्रित श्रद्धा को व्यवहार सम्यक्त्व कहा है। किन्तु वह सम्यक्त्व है नहीं – है तो वह राग, परन्तु सम्यक्त्व का आरोप करके उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कह दिया है। वैसे ही यहाँ निश्चय मोक्षमार्ग का आरोप करके सविकल्प चिन्तवन को सविकल्प मोक्षमार्ग कहा है। स्व के आश्रय का विकल्प है; इसलिए उसे साधक कहा है। यहाँ विकल्प है तो बन्ध का ही कारण, तथापि निश्चय का आरोप करके उसे साधक कहा है। 'मैं शुद्ध हूँ' आदि निश्चय के सविकल्प

चिन्तवन को निश्चयनय का पक्ष कहा है न! उसीप्रकार यहाँ भी आरोपित कथन किया गया है ॥१॥

— आत्मधर्म : अप्रेल १९७७, पृष्ठ २६

(३४१)

प्रश्न :— क्या द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण नहीं है ?

उत्तर :— शास्त्रज्ञान द्रव्यलिंग है, — नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा तथा छह जीवनिकाय का चारित्र भी द्रव्यलिंग है, शास्त्र का विकल्प और पंच महाव्रतादि का विकल्प भी द्रव्यलिंग है, तदुपरान्त शरीर का नग्नत्व भी द्रव्यलिंग है। इस द्रव्यलिंग में सन्त रुके नहीं और भावलिंगरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करके मोक्षमार्ग और मोक्ष को प्राप्त किया। यदि द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण होता तो उसे छोड़कर सन्तजन अन्दर आत्मा के आश्रय में क्यों जाते ? जिस श्रद्धा-ज्ञान को चैतन्यप्रभु का आश्रय नहीं है — वह श्रद्धा-ज्ञान द्रव्यलिंग है, शरीर-आश्रित है; परद्रव्य है, स्वद्रव्य नहीं ॥२॥ — आत्मधर्म : जून १९७८, पृष्ठ २५

(३४२)

प्रश्न :— बन्ध का कारण परद्रव्य और मोक्ष का कारण स्वद्रव्य है न ?

उत्तर :— बन्ध का कारण परद्रव्य नहीं है, क्योंकि परद्रव्य तो सदा विद्यमान है। यदि वह बन्ध का कारण हो तो निर्बंध दशा कभी प्राप्त नहीं हो सकती। वास्तव में परद्रव्य के प्रति स्वामित्व भाव ही बन्ध का कारण है। स्वद्रव्य भी अनादि से ही है, तथापि मोक्ष आजतक नहीं हुआ, अतः स्वद्रव्य में स्वामित्व भाव होना मोक्ष का कारण है। स्वद्रव्य में स्वामित्व हो जाने पर यद्यपि परद्रव्य विद्यमान है, तथापि वह बन्ध का कारण है नहीं, उससे बन्ध नहीं होता। अतः सिद्ध हुआ कि स्वद्रव्य में स्वामित्व मोक्ष का और परद्रव्य में स्वामित्व बन्ध का कारण है ॥३॥

— आत्मधर्म : सितम्बर १९७८, पृष्ठ २५

(३४३)

प्रश्न :— मोक्ष का कारण परमपारिणामिक भाव है या क्षायिकभाव ?

उत्तर :— वास्तव में तो परमपारिणामिकभाव ही मोक्ष का कारण

है, किन्तु पर्याय से कथन करना हो तो क्षायिक, उपशम, क्षयोपशम को भी मोक्ष का कारण कहा जाता है ।।४।।

– आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २४

(३४४)

प्रश्न :– मार्ग की यथार्थ विधि का क्रम क्या है ?

उत्तर – आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्यवाला है, उसमें अनन्त गुणस्वभाव हैं, उसकी रुचि हुए बिना उपयोग पर में से पलटकर स्व में आ सकता नहीं । पाप भावों की रुचि में जो जीव पड़ा है, उसकी तो यहाँ चर्चा ही नहीं है; यहाँ तो पुण्य की रुचिवाला बाह्य त्याग करे, तप-शील-संयम पालन करे, द्रव्यलिंग यथाविधि धारण करे; तथापि जहाँ तक पर की रुचि अन्तर में पड़ी है, वहाँ तक उपयोग पर की ओर से पलटकर स्व-स्वभाव की ओर नहीं आ सकता । इसलिए पर की रुचि की दिशा बदलने पर ही उपयोग पर से हटकर स्व में आ सकता है । मार्ग की यथार्थ विधि का यही क्रम है ।।५।।   – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७९, पृष्ठ २३

(३४५)

प्रश्न :– प्रथम अशुभराग टाले और शुभराग करे, पश्चात् शुद्धभाव हो – ऐसा क्रम है न ?

उत्तर :– नहीं भाई ! यह क्रम ही नहीं है । प्रथम सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, पश्चात् एकदम शुभराग टल नहीं सकता, इसलिए पहले अशुभराग टलकर शुभराग आता है – यह साधक के क्रम की बात है ।।६।।

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९७९, पृष्ठ २३

(३४६)

प्रश्न :– मध्यस्थता का क्या अर्थ है ? क्या परद्रव्य के समक्ष देखने से मध्यस्थता हो सकती है ?

उत्तर :– परद्रव्य के सामने देखते रहने से मध्यस्थता नहीं होती । स्वद्रव्य में लीनता करने पर समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थता हो जाती है । स्वद्रव्य में लीन रहना, वह अस्ति और परद्रव्य से मध्यस्थता होना वह नास्ति है ।

'मैं समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होता हूँ' – ऐसा कहा है । इसमें देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, नवतत्त्व का ज्ञान, पंच महाव्रतरूप व्यवहार-रत्नत्रय का आश्रय – सभी निकाल दिया है । व्यवहार-रत्नत्रय भी परद्रव्य के अवलम्बन से है, इसलिए उसके प्रति भी मैं मध्यस्थ हूँ

अर्थात् उस व्यवहार-रत्नत्रय का अवलम्बन छोड़कर अभेद आत्मा का ही आश्रय करता हूँ। शास्त्र में जहाँ व्यवहार-रत्नत्रय को निश्चय का कारण कहा हो, उसे उपचार का कथन जानना चाहिए। यहाँ व्यवहार-रत्नत्रय को हेय कहकर उसका आश्रय छुड़ाया है, क्योंकि वास्तव में व्यवहार-रत्नत्रय, निश्चय-रत्नत्रय का कारण नहीं है। निश्चय-रत्नत्रय का (शुद्धोपयोग का) कारण तो द्रव्यानुसारी परिणति ही है। व्यवहार-रत्नत्रय तो शुभोपयोगरूप है, जबकि निश्चय-रत्नत्रय शुद्धोपयोगरूप है ।।७।।

– आत्मधर्म : अगस्त १९८३, पृष्ठ २५

(३४७)

प्रश्न :– 'राग-द्वेष तो धर्म नहीं – अधर्म हैं' – ऐसा आप कहते हो; अतः जहाँ राग-द्वेष हो, वहाँ धर्म का अंश भी नहीं होना चाहिए ?

उत्तर :– राग-द्वेष स्वयं धर्म नहीं है – यह बात बराबर है, किन्तु अल्प राग-द्वेष होने पर भी सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म हो सकता है। निचली दशा में सम्यग्ज्ञान के साथ अल्प राग-द्वेष भी होता है; किन्तु ज्ञानी जानता है कि वह अधर्म है, जितना राग-द्वेष रहित स्वसंवेदन हुआ उतना ही धर्म है। राग को धर्म माने, तब तो श्रद्धा-ज्ञान भी मिथ्या ही हैं; परन्तु राग-रहित ज्ञान स्वभाव को जानकर उसकी श्रद्धा हुई हो और राग सर्वथा टला न हो तो इससे कहीं श्रद्धा और ज्ञान मिथ्या नहीं हो जाते। उसीप्रकार वहाँ राग-द्वेषरूप अधर्म है, इसलिए सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान में कोई कमी हो जाती हो – ऐसा भी नहीं है। राग-द्वेष विद्यमान होने पर भी क्षायिक श्रद्धा हो सकती है; कारण यह है कि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि अनन्त गुण हैं, वे सर्वथा अभेद नहीं हैं। पूर्ण की श्रद्धा होने के बाद पूर्णदशा प्रकट होने में समय लगता है, एक साथ नहीं हो जाते; परन्तु पूर्णता प्रगट होने का अपना स्वभाव है – यह बात जब प्रतीति में आ जावे, तब अल्पकाल में पूर्णता प्रगट हुए बिना रहेगी नहीं ।।८।।

– वीतराग-विज्ञान : नवम्बर १९८३, पृष्ठ २४

(३४८)

प्रश्न :– धर्म प्राप्त करने के लिए प्रथम क्या निर्णय करे ?

उत्तर :– त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से ही धर्म होता है – ऐसा प्रथम निर्णय करना चाहिए, जिससे परलक्षीभाव की अनुमोदना न हो। प्रथम श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् होते हैं और बाद में सम्यक्चारित्र होता है; तथापि

क्या करें ? लोग बाह्य क्रियाकाण्ड में चढ़ गए हैं, इसलिए उन्हें कठिन लगता है । आत्मा स्वभाव से तो प्रभु है, क्षण में पलट जायेगा, एक क्षण की भूल है, वह एक क्षण में टल भी सकती है ।।९।।

— आत्मधर्म : सितम्बर १९८१, पृष्ठ २५

(३४९)

प्रश्न :— परवस्तु से आत्मा को लाभ-हानि नहीं है। आत्मा के अकल्याण का कारण राग है — ऐसा आप कहते हैं। क्या उस राग से भी अधिक अकल्याण का कारण कोई अन्य भी है ?

उत्तर :— कोई भी परवस्तु अथवा देव-गुरु-शास्त्र आदि इस जीव को कल्याण-अकल्याण का कारण नहीं है। मात्र अपनी पर्याय में सच्ची समझ और स्थिरता ही कल्याण का कारण है तथा विपरीत समझ और रागादि ही अकल्याण का कारण है। यद्यपि राग इस जीव को अकल्याण का ही कारण है; तथापि रागभाव से जितना अकल्याण होता है, उसकी अपेक्षा अनन्तगुना अकल्याण 'राग से आत्मा को लाभ होता है' अथवा 'राग में धर्म है' — इस विपरीत मान्यता से होता है। ऐसी विपरीत मान्यतावाला जीव त्यागी और पण्डित होने पर भी महासंसार में भटकता है ।।१०।। — आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ २८

(३५०)

प्रश्न :— धर्म का प्रारम्भ किसके आश्रय से होता है ?

उत्तर :— एक स्वद्रव्य का आश्रय करने से ही धर्म का प्रारम्भ होता है, इसके विपरीत लाख परद्रव्य का आश्रय करे तथापि धर्म का प्रारम्भ हो सकता नहीं। पर्याय द्रव्य की तरफ ढले, द्रव्य का आश्रय ले, — इसी प्रयोजन से समस्त वाँचन, विचार, मनन, श्रवण करना चाहिए; क्योंकि मूल अभिप्राय तो द्रव्य का आश्रय लेना ही है ।।११।।

— आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २४

(३५१)

प्रश्न :— जीव का मूल प्रयोजन क्या है और उसके कितने प्रकार हैं ?

उत्तर :— जीव का मूल प्रयोजन वीतरागभाव है। उस वीतरागभाव के दो प्रकार हैं :—(१) दृष्टि में वीतरागता और (२) चारित्र में वीतरागता। प्रथम दृष्टि में वीतरागता होती है, जो कि सम्यक्त्व का कारण है। मेरे

अभेद चैतन्यस्वभाव में राग नहीं; पर्याय में राग होता है, वह सम्यग्दर्शन का – वीतरागी दृष्टि का कारण नहीं। यदि उस राग के साथ एकता की जाए तो मिथ्यात्व का कारण है और उस राग का आश्रय छोड़कर स्वभाव की एकता की जाए तो सम्यक्त्व का कारण है। इसप्रकार स्वभाव की मुख्यता करने पर वीतरागी दृष्टि प्रगट होती है और तब राग का निषेध स्वयं हो जाता है। इसके पश्चात् ही वीतरागी चारित्र प्रगट होता है ॥१२॥ – वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ १९

(३५२)

प्रश्न :– 'द्रव्यानुसारि चरणं, चरणानुसारि द्रव्यं' अर्थात् द्रव्यानुसारी चरण और चरणानुसारी द्रव्य – इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर :– छठे गुणस्थान में जो शुद्धता होती है, वह द्रव्य के ही आश्रय से होती है; परन्तु यहाँ राग की मन्दता कितने अंशों में है, उसके ज्ञान से शुद्धता कितनी है – यह देखा जाता है। आश्रय का अर्थ यह नहीं है कि राग के आश्रय से धर्म होता है। शुद्धता जितने प्रमाण में होती है, उतने ही प्रमाण में राग की मन्दता होती है और राग की मन्दता जितनी होती है, उसी प्रमाण में शुद्धता भी अपने अर्थात् शुद्धता के कारण से होती है। इसी को 'द्रव्य अनुसारी चरण तथा चरण अनुसारी द्रव्य होता है' – ऐसा कहा जाता है। ऐसा प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन के अन्त में श्लोक १२ में कहा गया है ॥१३॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २७

(३५३)

प्रश्न :– परद्रव्य के जानने की तरफ परणति जाए अर्थात् उपयोग बाह्य में भटके, उस समय वीतरागता बनी रहती है अथवा नहीं ?

उत्तर :– स्वाश्रय से जितनी वीतराग परणति हुई है उतनी वीतरागता तो परज्ञेय की तरफ लक्ष जाने के समय भी टिकी रहती है। परन्तु साधक को परज्ञेय की तरफ उपयोग के समय पूर्ण वीतरागता नहीं है अर्थात् राग और विकल्प है, क्योंकि परज्ञेय की ओर उपयोग हो और उस समय सम्पूर्ण वीतरागता हो – ऐसा नहीं बन सकता, वहाँ राग का अवश्य सद्भाव है; परन्तु उस भूमिका में जितनी वीतरागता हो चुकी है, उतनी तो हर समय टिकी ही रहती है। जैसे चतुर्थ गुणस्थान में परलक्षी

उपयोग के समय भी अनन्तानुवन्धी राग-द्वेष का तो अभाव ही है; उसी प्रकार छठे गुणस्थान में परलक्ष के समय भी तीन कषायों का अभाव होने से तत्सम्वन्धी राग-द्वेष भी नहीं है अर्थात् इतनी वीतरागता तो हर समय विद्यमान ही रहती है। केवली भगवान पर को भी जानते हैं, परन्तु उन्हें अपना उपयोग पर में लगाना नहीं पड़ता। उनका उपयोग तो स्व में ही लीन है ॥१४॥ — आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ २६

(३५४)

प्रश्न :— श्रद्धान के दोष और चारित्र के दोष में क्या अन्तर है ?

उत्तर :— श्रद्धान के दोष और चारित्र के दोष में महान् अन्तर है। सम्यग्दृष्टि दो भाई युद्ध करें, जीवों की हिंसा हो, तथापि इस शरीर की क्रिया का और राग का कर्त्ता उनमें से एक भी नहीं, दोनों ज्ञाता ही हैं और मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी एकेन्द्रियजीव का भी घात करे नहीं, तथापि वह काया और कषाय में एकत्वबुद्धिवाला होने से कर्त्ता है, षट्काय का घातक है। अहाहा! चारित्र के दोष की अल्पता कितनी कि दो भाई लड़ें तो भी मोक्ष जावें और श्रद्धान के दोष की महानता इतनी कि विपरीत परिणमन के फल में नर्क-निगोद जावें। मूल आत्मदर्शन विना चाहे जितनी साधुपने की क्रिया करे, किन्तु सभी व्यर्थ है। छह माह के उपवास करे, त्याग करे, फिर भी आत्मज्ञान विना वह सब शून्य है, रण में पोक समान है। भाई ! प्रभु का मार्ग अत्यन्त निराला अन्तर का है, इसके समझने में वहुत प्रयत्न चाहिए ॥१५॥ — आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २९

(३५५)

प्रश्न :— श्रद्धा के दोष और चारित्र के दोष के फलों में क्या अन्तर है ?

उत्तर :— जिनेन्द्रकथित वस्तुस्वरूप की श्रद्धा से जो भ्रष्ट है, उसकी मुक्ति नहीं होती। चारित्र से जो भ्रष्ट हो गया है, उसकी मुक्ति हो जाती है। इसका कारण यह है कि उसे जो चारित्र सम्वन्धी दोष है, उसका उसे वरावर ध्यान है, अतः वह उसका अभाव करके मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जो जीव भगवान के द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप की श्रद्धा से भ्रष्ट है, उसकी मुक्ति नहीं होती। चारित्रदोष के सद्भाव में भी किसी सम्यग्दृष्टि को तीर्थंकरगोत्र का बन्ध प्रतिसमय हो रहा है, यह सम्यग्दृष्टि निकट भविष्य में ही चारित्र का दोष टालकर मोक्षलक्ष्मी का स्वामी होगा ॥१६॥ — आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(३५६)

प्रश्न :– जिनशासन और जैनधर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :– जिस श्रुतज्ञान की वीतरागी पर्याय में आत्मा अबद्धस्पृष्ट स्वरूप अनुभव में आवे, उस पर्याय को जिनशासन कहते हैं। जिसमें विकार, अपूर्णता या भेद आवे; उस पर्याय को जिनशासन नहीं कहते। पाँचभावस्वरूप होने पर भी एकरूप आत्मा है, वह जिसके अनुभव में आवे, उसको वीतरागी जैनधर्म कहते हैं। वीतरागी पर्याय प्रकट होती है, वीतरागी द्रव्य का आश्रय है, तथापि कर्त्तापना उस वीतरागी द्रव्य का नहीं है। वीतरागी पर्याय को वीतरागी द्रव्य का आश्रय आया – इसलिए उस पर्याय को पराधीन मत मान लेना। वह वीतरागी पर्याय षट्कारक से स्वतन्त्र कर्त्तारूप में होकर प्रकट हुई है। अपनी धर्म पर्याय है, उसका कर्त्ता भी द्रव्य – ध्रुववस्तु उपचार से है। अहा हा ! ऐसी बातें वीतराग की हैं। ये तो अन्दर से आती हैं, भगवान के पास से आती हैं, अनन्त केवलियों की पुकार है ॥१७॥ – आत्मधर्म : मार्च १९८१, पृष्ठ २४

—–—०—–—

रत्नत्रय मोक्ष का ही कारण—

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥
रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥

शङ्का :– यदि रत्नत्रय बन्ध का कारण नहीं है तो रत्नत्रयधारी मुनिवरों के देवायु और सत्प्रकृतियों का बन्ध कैसे होता है ?

समाधान :– रत्नत्रयधर्म मोक्ष का ही कारण है, अन्य स्वर्गादिक का नहीं। मुनिवरों को जो स्वर्गादिक के कारण पुण्य का आस्रव होता है, उसमें शुभोपयोग का ही अपराध है।

– आचार्य अमृतचन्द्र : पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१९-२२०

---

(१)

ज्ञानी श्रावक की अन्तर्बाह्य दशा

(३५७)

प्रश्न :– साधक की अन्तरंग दशा कैसी होती है ?

उत्तर :– साधक जीव को एक विकल्प से जो पुण्य बँधता है, वह पुण्य भी जगत को विस्मय उत्पन्न करता है, तो फिर उसकी निर्विकल्प साधक भावना की तो बात ही क्या ? अहा ! साधक भाव के एक अंश की ही ऐसी अचिन्त्य महिमा है कि तीर्थंकर प्रकृति का पुण्य भी उसको नहीं पहुँच सकता। तीर्थंकर प्रकृति तो विभाव का फल है और साधक भाव है स्वभाव का फल – दोनों की जाति ही भिन्न है। साधक को चैतन्य की साधना के लिये जगत में सब कुछ अनुकूल है – उसको कहीं प्रतिकूलता है ही नहीं; क्योंकि उसकी साधना निजात्मा के आधार से है, बाहर के आधार से नहीं; साधक तो प्रतिकूलता के प्रसंग को भी धर्मभावना की तीव्रता का तथा जिनभक्ति – आत्म-साधना आदि की उत्कृष्टता का कारण बना लेता है।।१।। – आत्मधर्म : अगस्त १९७७, पृष्ठ २४

(३५८)

प्रश्न :–ज्ञानी को राग तो होता है, फिर भी उसे वैरागी क्यों कहते हैं ?

उत्तर :– प्रथम तो ज्ञानी को परमार्थ से राग होता ही नहीं; क्योंकि राग के समय ज्ञानी जानता है कि मैं "तो ज्ञान हूँ", मेरा आत्मा ज्ञानमय है—रागमय नहीं है, राग मेरे ज्ञान से भिन्न है। इसके अतिरिक्त ज्ञानी को उस राग की रुचि नहीं है। राग मुझे हितकर है – ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। स्वभावसन्मुख-दृष्टि उस समय भी छूटी नहीं है और राग में एकत्वबुद्धि ई नहीं है, इसलिए ज्ञानी वास्तव में वैरागी ही हैं। अज्ञानी तो

अकेले राग को ही देखता है; परन्तु उसी समय ज्ञानी का ज्ञान उस राग से भिन्न पड़कर अन्तरस्वभाव में एकाकारपने परिणम रहा है, उसे अज्ञानी नहीं पहचानता ॥२॥ — आत्मधर्म : मार्च १९८२, पृष्ठ २६

(३५९)

प्रश्न :– क्या आत्मा की पहचान होते ही वीतराग हो जाता है ?

उत्तर :– श्रद्धा अपेक्षा तो वीतराग है। ज्ञानी को अस्थिरता के कारण राग-द्वेष होता है, वह यद्यपि उसके ही पुरुषार्थ का दोष है; तथापि वह उसे और पुरुषार्थ के दोष को अपने स्वभाव में नहीं मानता। ज्ञानी को तो रागरहित ज्ञानस्वभाव में ही एकत्वबुद्धि है, राग में नहीं। स्वभाव में एकत्वबुद्धि के कारण वास्तव में राग टूटता ही जाता है और स्वभाव की एकता बढ़ती जाती है; इसलिए ज्ञानी को परमार्थ से राग होता ही नहीं, अपने स्वभाव की एकता ही होती है। इसप्रकार जो राग होता है, वह स्वभाव की एकता में न आकर मात्र ज्ञेयरूप ही रह जाता है। राग के समय भी स्वभाव की ही अधिकता के कारण ज्ञानी को एक स्वभाव ही होता है, राग नहीं होता – ऐसी धर्मी जीव की दशा है ॥३॥

— वीतराग-विज्ञान : फरवरी १९८४, पृष्ठ २४

(३६०)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञानी जीव तुरन्त ही मुनि क्यों नहीं बन जाते ?

उत्तर :– आत्मार्थी हठ नहीं करते अर्थात् तुरन्त ही कार्य हो जाने की आकुलता नहीं करते। स्वभाव में हठ काम नहीं आती। मार्ग तो सहज है; हठ से, उतावली से, अधैर्य से मार्ग उपलब्ध नहीं होता। सहज मार्ग पर पहुँचने के लिए धैर्य और विवेक अपेक्षित है। ऋषभदेव भगवान जैसे महान पुरुष को ८३ लाख पूर्व तक चारित्रदशा – मुनिदशा नहीं हुई और भरत चक्रवर्ती जैसे को भी ७७ लाख पूर्व राज्यपद और ६ लाख पूर्व चक्रीपद रहा। यह जानते थे कि अन्तरंग में डुबकी लगानेरूप एकाग्रता के चारित्र का पुरुषार्थ अभी नहीं है, इसलिए हठ नहीं करते थे। कुछ जीवों को ऐसा लगता है कि सम्यग्दर्शन होने पर चारित्र नहीं लिया तो किस काम का ? किन्तु भाई ! अन्दर स्वभाव में हठ काम नहीं आता, सहज पुरुषार्थ से अन्तर-रमणता होती है। यह बात विवेक विचारसहित वस्तुस्वभाव ध्यान में रखकर समझने जैसी है ॥४॥ — आत्मधर्म : मई १९७९, पृष्ठ २४

(३६१)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन होने के बाद तो साधु-संन्यासी बनना पड़ता है न ?

उत्तर :– सम्यग्दर्शन प्रथम करे, पश्चात् साधु कैसे होते हैं – इसकी खबर पड़े। सम्यग्दर्शन के बाद अन्तरंग में आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगती है, अतीन्द्रिय आनन्द आने लगता है। जैसे समुद्र में पानी की भरती आती है, उसीप्रकार मुनि दशा में अन्दर आनन्द की भरती आती है। उसी का नाम मुनिदशा है ॥५॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(३६२)

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि सप्तभय रहित होता है, किन्तु मुनि तो कहते हैं कि हम भव से डरते हैं – इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर : – यह तो चतुर्गति के भव का भय लगा है अर्थात् भव के कारणरूप भाव से डर कर भवरहित भगवान की ओर अन्तर्मुख जाना चाहते हैं – इसलिए ऐसा कहते हैं। वास्तव में उन्हें बाह्य सामग्री का भय नहीं है ॥६॥

– आत्मधर्म : मई १९७८, पृष्ठ २३

(३६३)

प्रश्न :– चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि के तो भय होता दिखाई पड़ता है और वह उसका उपाय भी करता है, फिर वह निर्भय कैसे ?

उत्तर :– सम्यग्दृष्टि अन्तर में तो निर्भय ही है, बाह्य में भयप्रकृति में जुड़ान होने से अस्थिरता का किंचित् भय दृष्टिगोचर होता है, तथापि वह अन्तरस्वरूप में तो निर्भय ही है, अतः सप्तभय से रहित निर्भय है ॥७॥

– आत्मधर्म : मई १९७८, पृष्ठ २३

(३६४)

प्रश्न : – सीताजी और अंजनाजी वन में छोड़ते समय भयभीत तो थीं ही ?

उत्तर :– यह तो पति का आधार छूटने पर अस्थिरता के कारण किंचित् बाह्य में रुदन दिखाई दिया था, तो भी अन्दर में अपना आधार निजचैतन्यस्वभाव ही – है ऐसा जानकर रुदन आदि भय के भाव की कर्त्ता नहीं थीं; अपितु निर्भय और ज्ञाता ही थीं। प्लेग आदि किसी भयानक

रोग का गाँव में प्रसंग हो तो किंचित् अस्थिरता व भय के कारण सम्यग्दृष्टि गाँव छोड़कर ग्रामेतर जानें आदि का उपाय भी करता है; परन्तु वह अन्दर में स्वभावदृष्टि के जोर की मुख्यता से निर्भय है तथा साथ ही ज्ञान है, वह पर्याय के राग के कण-कण को जैसा है; वैसा जानता है। इसी को अनेकान्त का सच्चा ज्ञान कहते हैं ॥८॥

— आत्मधर्म : मई १९७८, पृष्ठ २३

(३६५)

प्रश्न :— ज्ञानी भी तो युद्ध में शत्रु आदि मारते देखा जाता है?

उत्तर :— राम बलभद्र हैं, लक्ष्मण नारायण हैं और रावण प्रतिनायण है। रावण को लक्ष्मण मारते हैं। तत्पश्चात रावण का दाह-संस्कार करने साथ जाते हैं। वहाँ रावण की पट्टरानी मन्दोदरी से कहते हैं कि हे माता! हम लोग वलभद्र-नारायण हैं, क्या करें? दूसरा कोई उपाय नहीं था, होनहार हुए बिना रहती नहीं। माता! हमें क्षमा करना। राग-द्वेष की प्रवृत्ति तो हुई, किन्तु अन्दरमें उसका खेद है। यह हमारा काम नहीं, हम तो अन्दर में रमनेवाले राम हैं ॥९॥

— आत्मधर्म : मई १९७८, पृष्ठ २३

(३६६)

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टि युद्ध में लड़ने के लिये क्यों जाता है?

उत्तर :— सम्यग्दृष्टि युद्ध के प्रसंग को और तत्सम्वन्धी द्वेष के अंश को परज्ञेयरूप से जानता है, परन्तु उसका कर्त्ता नहीं है; अतः निर्भय है ॥१०॥ — आत्मधर्म : मई १९७८, पृष्ठ २४

(३६७)

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टि को भोग भोगते हुए भी कर्मवन्ध क्यों नहीं होता?

उत्तर :— सम्यग्दृष्टि को साता-असातारूप जितनी विषय-सामग्री है, वह सव अनिष्टरूप लगती है। जैसे किसी को अशुभकर्म के उदय से रोग, शोक, दरिद्रता आदि होवे तो वह उनसे छुटकारा पाने का अथक प्रयत्न करता है; तथापि अशुभोदय के कारण छुटकारा मिलता नहीं — भोगना ही पड़ता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि ने पूर्व में साता-असातारूप कर्म बाँधा है और उसके उदय में अनेक प्रकार की विषय-सामग्री होती

है; उन सबको सम्यग्दृष्टि दुःखरूप अनुभव करता है, उन्हें छोड़ने का विशेष प्रयत्न भी करता है; किन्तु जवतक क्षपक श्रेणी चढ़े नहीं, तवतक उनका छूटना अशक्य होने से परवश होकर भोगता है, तथापि अन्तरंग में अत्यन्त विरक्ति होती है। यही कारण है कि भोगसामग्री को भोगते हुए भी सम्यग्दृष्टि को कर्मवन्ध नहीं होता ॥११॥

— आत्मधर्म : मई १९७८, पृष्ठ २४

(३६८)

प्रश्न :– ज्ञानी के भोग को भी निर्जरा का कारण वतलाने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :– वहाँ भी वीतरागी दृष्टि कराने का ही प्रयोजन है, भोग के राग का पोषण कराने का नहीं। भोग के समय भी ज्ञानी की वीतरागी दृष्टि कैसी अवन्ध होती है, उस समय भी स्वभाव की श्रद्धा कैसी होती है – यह पहिचान कराने का प्रयोजन है ॥१२॥

— वीतराग-विज्ञान : मार्च १९८४, पृष्ठ २६

(३६९)

प्रश्न :– भगवान तो परद्रव्य हैं, क्या सम्यक्त्वी भी पर की स्तुति करता है ?

उत्तर :– भाई ! आपने अभी वीतराग परमात्मा के गुणों की महिमा जान नहीं पाई, इसी कारण ऐसा प्रश्न आपको उठा है। सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति स्तुति का जैसा भाव ज्ञानी को उल्लसित होता है, वैसा अज्ञानी को कदापि नहीं होता। भले ही भगवान हैं तो परद्रव्य; परन्तु अपनी इष्ट-साध्य ऐसी जो वीतरागता और सर्वज्ञता जहाँ भगवान में देखता है, वहाँ उन गुणों के प्रति वहुमान से धर्मी का हृदय उल्लसित हुए बिना नहीं रहता। वीतरागता का जिसे प्रेम है, वह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा को देखते ही भक्ति में निमग्न हो जाता है। भले ही भक्ति के समय शुभराग है, परन्तु उसमें वहुमान तो वीतराग स्वभाव का ही प्रवाहित हो रहा है। इसी का नाम वीतराग की भक्ति है ॥१३॥

— आत्मधर्म : अगस्त १९७५, पृष्ठ २४

(३७०)

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि परद्रव्य से भिन्न अपने राग को दुःखरूप

जानता है; तथापि उसको लड़ाई, व्यापार, विवाहादि का तीव्रराग क्यों होता है ?

उत्तर :— सम्यग्दर्शन होने पर भी अभी अस्थिरता का राग है। परद्रव्य की क्रिया तो परद्रव्य के कारण होती है। अशुभराग आता है, किन्तु अनन्तानुबन्धी का राग नहीं होता, अन्दर तो शुभाशुभ राग से विरक्त है ॥१४॥ — आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ १९

(३७१)

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टि को अशुभराग में अगले भवसम्बन्धी आयु बँधती है क्या ?

उत्तर :—सम्यग्दृष्टि को अशुभराग आता तो है, परन्तु अशुभ के काल में आयु का बन्ध नहीं होता, क्योंकि सम्यग्दृष्टि को वैमानिकदेव में जाना है, इसलिए शुभराग के काल में ही आयुष्य बँधती है ॥१५॥

— आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ १९

(३७२)

प्रश्न :— भरतजी ने बाहुबलीजी के ऊपर क्रोध से चक्र छोड़ा तब भी क्या उनके अन्दर उत्तमक्षमा थी ?

उत्तर :— हाँ, भरतजी ने यद्यपि क्रोधावेश में बाहुबलीजी के ऊपर चक्रप्रहार किया था, तथापि उससमय भी भरतजी के अन्दर उत्तमक्षमा विद्यमान थी; क्योंकि उनके अन्दर अनन्तानुबन्ध करनेवाले मिथ्यात्व का अभाव था। इसके विपरीत बाह्य से द्रव्यलिंगधारी मुनि हो और कोई वैरी आदि आकर शरीर के खण्ड-खण्ड करे, तथापि बाह्य से क्रोध न करे, तो भी उसके अन्दर में अनन्तानुबन्ध करनेवाले मिथ्यात्व का सद्भाव होने से बाह्य में क्षमा धारण करते हुए भी उत्तमक्षमा नहीं कही जा सकती ॥१६॥ — आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २३

(३७३)

प्रश्न :— राजा-महाराजा सरीखे के एक ही रानी और धर्मी सम्यग्दृष्टि के ९६ हजार रानियाँ ? फिर भी उसको बन्धन नहीं ?

उत्तर :— भाई ! बाहर के पदार्थ बहुत हों तो अधिक बन्ध के कारण और अल्प हों तो अल्प बन्ध के कारण — ऐसा है नहीं। किसी का अधिक परमाणुओं से निर्मित स्थूल शरीर हो तो बन्धन विशेष और कृश शरीर

हो तो वन्धन अल्प होता हो – ऐसा नहीं है। परद्रव्यों की अधिकता और अल्पता होना कहीं वन्ध और अवन्ध का कारण नहीं है। वन्ध का कारण तो परद्रव्यों में एकत्वबुद्धि-स्वामित्वबुद्धि का होना ही है, संयोगों की अल्प-वहुत्वता वन्ध का कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि के ९६ हजार रानियाँ, नवनिधान, चौदह रत्नादि वैभव होने पर भी वह चक्रवर्ती राजा धर्मी होने के कारण उन सवको अपना नहीं मानता; अतः वे परद्रव्य उसको वन्ध का कारण नहीं होते। इसके विपरीत एक रानीवाला राजा हो अथवा रानियों का त्यागी द्रव्यलिंगी मुनि हो, तथापि परद्रव्यों में स्वामित्व स्थापित करनेवाला सदैव मिथ्यात्वरूपी महापाप का वन्धक होता ही है। अन्दर में राग में एकत्वबुद्धि पड़ी है, वही वन्ध का कारण है, संयोगों का अल्पाधिक आगमन तो उनके अपने कारण से है – आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है। पूर्व पुण्य के कारण अनुकूल बहुल संयोगों की प्राप्ति होना वन्ध का कारण नहीं है। परद्रव्यों का संयोग विशेप होने पर भी उनसे वन्ध होता नहीं है – ऐसा कहकर परद्रव्यों से वन्ध होने की शंका छुड़ाई है, कहीं स्वच्छन्दी होने के लिए ऐसा कथन नहीं किया गया है – यह विशेष ध्यान रखने की वात है। स्वच्छन्दता का पोपण तो जिनागम में कहीं है ही नहीं। यहाँ तो दृष्टि के विषय की विशेपता वतलाई है। अधिक संयोग हो तो हानि और संयोग छूट जायें तो धर्मलाभ हो जाय – ऐसा है ही नहीं ॥१७॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(३७४)

प्रश्न :– क्या सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री और माता को समान मानता है ?

उत्तर :– स्वभावदृष्टि से देखने पर सभी जीव समान हैं। स्त्री का जीव मात्र स्त्रीपर्याय जितना ही नहीं है; किन्तु पूर्ण चैतन्य भगवान है और माता का जीव भी उसीप्रकार परिपूर्ण है। एकरूप स्वभावदृष्टि में कोई माता या स्त्री है ही नहीं। सिद्ध या निगोद, एकावतारी या अनन्तसंसारी, स्त्री या माता – सभी जीव परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप एक समान हैं – ऐसी स्वभावदृष्टि में अनन्त वीतरागभाव आ जाता है ॥१८॥

– वीतराग-विज्ञान : दिसम्वर १९८३, पृष्ठ २७

(३७५)

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि जीव जव स्त्री को भी चैतन्यपरमेश्वर मानता है, तो राग छोड़कर एकतरफ क्यों नहीं वैठ जाता ?

उत्तर :– स्वभावदृष्टि से तो सम्यग्दृष्टि एकतरफ ही बैठा है। एकतरफ बैठने की व्याख्या क्या ? परद्रव्य में तो कोई आत्मा बैठता नहीं, अज्ञानी जीव विकार में ही अपनापन मानकर स्थित हुआ है; जबकि ज्ञानी जीव संयोग और विकार से अपने स्वभाव को भिन्न जानकर स्वभाव की एकता में स्थित है। ज्ञानी को जो स्त्री आदि सम्बन्धी राग होता है, उस राग से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव करता है और राग का आदर नहीं करता; इसलिये ज्ञानी जीव वास्तव में अपने स्वभाव में ही बैठा है ॥१९॥ – वीतराग-विज्ञान : दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २७

(३७६)

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान में शुभाशुभ दोनों भाव हेय हैं, तो क्या उसे अशुभ को छोड़कर शुभ करने का विकल्प नहीं आता ?

उत्तर :– सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि शुद्धनिश्चयनय से मैं मोह-राग-द्वेष रहित शुद्ध हूँ। उसे ऐसा विकल्प कभी नहीं आता कि जब शास्त्र में शुभ और अशुभ दोनों को एक समान कहा है तो भले ही अशुभ आ जावे – क्या हानि है ? सम्यग्दृष्टि अशुभ से बचने के लिए वाँचन, श्रवण, मनन, भक्ति आदि बराबर करता है। प्रयत्नपूर्वक भी अशुभ छोड़कर शुभ करो – ऐसा शास्त्र में उपदेश वाक्य भी आता है। यद्यपि शुभ और अशुभ परमार्थ से समान ही हैं; तथापि अपनी भूमिका प्रमाण अशुभ की अपेक्षा शुभ में रहने का विवेक होता है और उसप्रकार का विकल्प भी आता है। अरे भाई ! सम्यग्दृष्टि को पाप भाव में स्वच्छन्दता नहीं होती ॥२०॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९७९, पृष्ठ २६

(३७७)

प्रश्न :– ज्ञानी को अशुभभाव से बचने के लिए शुभभाव आता है – इसका तात्पर्य क्या है ?

उत्तर :– ज्ञानी को जो शुभभाव आता है, वह अशुभ से बचने के लिए आता है – ऐसा जो कहने में आता है, वह तो लोगों को जरा सन्तोष हो जाय – इसलिए कहने में आता है। वास्तव में देखा जाय तो वह शुभराग उसके अपने आने के काल में ही आता है ॥२१॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७९, पृष्ठ २६

(३७८)

प्रश्न :– तो फिर प्रायश्चित क्यों करने में आता है ?

उत्तर :– यह सब कथनमात्र की बात है, कथन की पद्धति है। वास्तव में तो ऐसे विकल्प आने का काल था, अतः वही आया और वाणी भी ऐसी ही निकलने वाली थी, अतः वही निकली। अधिक सूक्ष्म में जावें तो वास्तव में शुभविकल्प तथा प्रायश्चित की वाणी निकलना अथवा गुरुवाणी निकलना, यह सब पुद्गल का स्वाभाविक कार्य है – आत्मा का कार्य नहीं, आत्मा तो मात्र ज्ञानस्वभावी है ।।२२।।

– आत्मधर्म : अगस्त १६७६, पृष्ठ २६

(३७६)

प्रश्न:– स्वानुभव में से विकल्प में आने के पश्चात् ज्ञाता-दृष्टा में कुछ फेर पड़ता है क्या ?

उत्तर :– स्वानुभव में से जब विकल्प में आता है तब भी केवली की भाँति ज्ञाता-दृष्टा ही है। अनुभव में केवली के समान ज्ञाता-दृष्टा है और विकल्प में आ जाने पर भी ज्ञाता-दृष्टा ही है। विकल्प आता है, वह भी छूटा हुआ ही है। केवली पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा हैं और यह नीचेवाला अल्प ज्ञाता-दृष्टा है, परन्तु हैं तो दोनों ज्ञाता-दृष्टा ही ।।२३।।

– आत्मधर्म : अगस्त १६७६, पृष्ठ २६

(३८०)

प्रश्न : – सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की दृष्टि शुभाशुभ के काल में भी ध्रुव पर ही रहती है या भटक जाती है ?

उत्तर :– जिसको द्रव्यदृष्टि प्रकट हुई है – ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि सदा ध्रुवतल पर ही रहती है। स्वानुभूति के काल में – ध्यान में आनन्द के काल में, विकल्प छोड़कर अनुभव के काल में और शुभ-अशुभ में उपयोग हो तब भी, दृष्टि तो ध्रुवतल के ऊपर ही होती है। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती ६६ हजार स्त्रीवृन्द में खड़ा हो, तथापि उसकी दृष्टि तो अन्दर ध्रुवतल में ही रहती है, विकल्प पर नहीं। बाहुबली के साथ भरत का युद्ध हुआ, दोनों सम्यग्दृष्टि थे, दोनों का उपयोग उस समय युद्ध में था; तथापि उनकी दृष्टि उस समय ध्रुवतल से खिसकी नहीं थी, दृष्टि तो सहजपने ध्रुवतल के ऊपर ही थी। शुभाशुभ के उपयोगकाल में भी दृष्टि ध्रुव पर से हटती नहीं है। श्रेणिकराजा क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, कारागार में माथा फोड़कर मरे थे, तथापि उस काल में भी ध्रुवतल के ऊपर से उन की दृष्टि छूटी नहीं थी। द्रव्यदृष्टि की महिमा अपार है ।।२४।।

– आत्मधर्म : अप्रेल १६८१, पृष्ठ २३-२४

(३८१)

प्रश्न :– ज्ञानी को भी शुभराग आता है, तो क्या वह शुद्धात्मा को भूल जाता है ?

उत्तर :– मुमुक्षु जीव शुभराग में जुड़ान करता है, परन्तु शुद्धात्मा की शोधकवृत्ति का अभाव नहीं होता। मुमुक्षु जीव को दया-दान-पूजा-भक्ति आदि के शुभभाव आते अवश्य हैं, परन्तु उसकी वृत्ति और झुकाव शुद्धात्मा की तरफ ही रहता है, शुभभाव में तल्लीनता नहीं होती। ज्ञानी के जिनस्वरूपी भगवान आत्मा की शोधकवृत्ति नहीं जाती, तथा शुद्धात्मा का ध्येय छोड़कर शुभराग का आग्रह नहीं रहता। शुभराग से लाभ होगा – ऐसा मानता नहीं, और पर्याय की अशुद्धता भी भूलता नहीं, स्वच्छन्द बनता नहीं ॥२४॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २३

(३८२)

प्रश्न :– शुभराग को ज्ञानी हेय मानता है। तो फिर षोड़शकारण भावनाओं को क्यों भाता हैं ?

उत्तर :– ज्ञानी षोड़शकारणभावनाओं को भाता नहीं है, परन्तु उसे उसप्रकार का राग आ जाता है। वास्तव में ज्ञानी को भावना तो स्वरूप में स्थिर होने की ही होती है; किन्तु जब पुरुषार्थहीनता से स्वरूप में ठहर नहीं पाता, तब हेयबुद्धि से शुभराग आ जाता है। विचारपूर्वक देखा जाए तो ज्ञानी उन भावनाओं का जाननेवाला ही है – कर्त्ता नहीं ॥२६॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २२

(३८३)

प्रश्न :– ज्ञानी परवस्तु अथवा राग में फेरफार करने की बुद्धि नहीं रखता – यह तो ठीक; किन्तु अपनी निर्मल पर्याय तो करना चाहता है ?

उत्तर :– ज्ञानी को अपनी निर्मल पर्याय के फेरने के ऊपर भी लक्ष्य नहीं है। द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होने पर पर्याय स्वयं निर्मलपने फिर जाती है। धर्मी पर को – शरीर की क्रिया को फेरता नहीं, विकल्प को फेरता नहीं और जिससमय जो पर्याय होती है, उसे भी फेरने की बुद्धि नहीं अर्थात् उसके तो पर्याय के ऊपर की दृष्टि ही छूट गई है। मात्र वस्तुस्वभाव के सन्मुख बुद्धि होने पर राग टलकर वीतरागरूप में पर्याय पलट जाती है। कुछ भी फेरफार नहीं करना है। वस्तुस्वभाव को जैसा का तैसा रखकर स्वयं स्वभावदृष्टि से निर्मलरूप में पलट जाता है। इसके अतिरिक्त

पदार्थों में अथवा अपनी अवस्था में कुछ भी फेरफार करने की बुद्धिवाला मिथ्यादृष्टि है ॥२७॥ — वीतराग-विज्ञान : मार्च १९८४, पृष्ठ २७

(३८४)

प्रश्न :– धर्मी साधकजीव राग का वेदक है या ज्ञाता है ?

उत्तर :– साधकजीव का ज्ञान राग में जाता है, उस दुःख को वेदता है तथा ज्ञान ज्ञान में रहता है, उस सुख को भी वेदता है ॥२८॥

— आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २६

(३८५)

प्रश्न :– ज्ञानी दुःख का ज्ञायक है या वेदक है ?

उत्तर :– ज्ञानी को दुःख जानने में भी आता है और वेदन भी होता है। जैसे आनन्द का वेदन है; उसी प्रकार जितना दुःख है, उतना दुःख का भी वेदन है ॥२९॥ — आत्मधर्म : फरवरी १९७५, पृष्ठ २७

(३८६)

प्रश्न :– क्या सम्यग्दृष्टि भी सर्वज्ञ की तरह राग को मात्र जानता ही है ?

उत्तर :– जिसप्रकार सर्वज्ञ को लोकालोक ज्ञेय है,लोकालोक को सर्वज्ञ जानता है; उसीप्रकार जिसने सर्वज्ञस्वभावी को दृष्टि में लिया है – ऐसा सम्यग्दृष्टि सर्वज्ञ के समान राग को जानता ही है। सर्वज्ञ को जानने में लोकालोक निमित्त है; उसीतरह सम्यग्दृष्टि को जानने में राग निमित्त है। सम्यग्दृष्टि राग को करता नहीं है, किन्तु लोकालोक के ज्ञाता सर्वज्ञ की तरह वह राग को जानता ही है। ऐसी वस्तुस्थिति है और ऐसे ही अन्दर से आती है और बैठती है। यह बात तीनकाल तीनलोक में बदल जाय – ऐसी नहीं है। अन्य किसीप्रकार से भी वस्तु की सिद्धि हो सकती नहीं। यह तो अन्दर से ही आई हुई वस्तुस्थिति है ॥३०॥

— आत्मधर्म : अगस्त १९७६, पृष्ठ २५

(३८७)

प्रश्न : – ज्ञानी को तो दुःख का वेदन होता ही नहीं है न ?

उत्तर :– ज्ञानी को भी जितना राग है, उतना दुःख है। ज्ञानी को जितना कषाय है उतना दुःख का वेदन भी है। शास्त्र में जो यह कहा है कि ज्ञानी को दुःख का वेदन नहीं हैं, वह तो श्रद्धा के जोर की – बल की

अपेक्षा से कहा है। एक तरफ तो ऐसा कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में बन्धन है ही नहीं और फिर ऐसा भी कहते हैं कि चौदहवें गुणस्थान तक संसारी हैं। भाई! जहाँ जिस अपेक्षा से कथन शास्त्र में किया गया हो, उसे उसी अपेक्षा से समझना चाहिए ॥३१॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २६

(३८८)

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि के तीन कषाय विद्यमान हैं, उसे नर्क में दुःख विशेष है कि स्वर्ग में?

उत्तर :– वास्तव में तो स्वर्ग-नर्क के संयोग का दुःख नहीं है, किन्तु अपने परिणाम कषाय में जब जुड़ते हैं, तब उससे दुःख होता है। नर्क विशेष दुःख का कारण हो – ऐसा नहीं है; किन्तु प्रतिकूलता में तीव्र जुड़ान होता है, उसका विशेष दुःख है। जितना पर में लक्ष जाता है, उतना दुःख है। वह दुःख का परिणाम संयोग के कारण नहीं हुआ है, किन्तु अपने से ही हुआ है ॥३२॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २३

(३८९)

प्रश्न :– चौथे गुणस्थान में तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक् कहा है, चारित्र को नहीं कहा?

उत्तर :– चारित्र की पर्याय : पाँचवें-छठे गुणस्थान से मुख्यतया मानी जाती है, चौथेवाले को स्वरूपाचरणचारित्र प्रकट हुआ है ॥३३॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(३९०)

प्रश्न :– चौथे गुणस्थान में अनुभव भी होता है या अकेली श्रद्धा ही होती है?

उत्तर :– चौथे गुणस्थान में आनन्द के अनुभव सहित श्रद्धान होता है ॥३४॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(३९१)

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प होता है, तभी आनन्द का अनुभव करता होगा, शेष काल तो प्रमाद में ही जाता होगा?

उत्तर :– सम्यग्दृष्टि सदाकाल शुद्धता में ही वर्तता है। भले निर्विकल्प उपयोग न हो और राग में प्रवृत्ति करता हो, खाना-पीना-

सोना अथवा पूजा-भक्ति-श्रवण आदि बाह्य उपयोग में – राग में वर्तता हो, तो भी उस समय शुद्धता में ही वर्त रहा है। अन्तर्दृष्टि तो स्वभाव में ही पड़ी है, इसलिए रागरूप प्रवृत्ति होने पर भी उस राग को दृष्टि के जोर में परिगणित नहीं किया जाता; इसलिए सम्यग्दृष्टि सदाकाल अनुभूति में ही वर्तता है, शुद्धपनारूप ही वर्तता है – ऐसा कहने में आता है। सम्यग्दृष्टि स्वरूप में जागृत हुआ है, वह तो निरन्तर जागृत ही है। श्रेणिक आदि नरक में हैं, वे भी शुद्धपने में ही वर्त रहे हैं, राग में नहीं। राग आता है, उसे जानते हैं; किन्तु उसमें वर्तते नहीं ॥३५॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ २५

(३९२)

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि का उपयोग पर में हो, तब स्व-प्रकाशक है क्या ?

उत्तर :– सम्यग्दृष्टि का उपयोग पर में हो, तब भी स्व-प्रकाशक है; परन्तु उपयोगरूप पर-प्रकाशक के काल में उपयोगरूप स्व-प्रकाशक नहीं होता और जब उपयोगरूप स्व-प्रकाशक हो, तब उपयोगरूप पर-प्रकाशक नहीं होता; किन्तु ज्ञान का स्वभाव तो स्व-पर प्रकाशक ही है ॥३६॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ २५

(३९३)

प्रश्न :– यदि राग से परद्रव्य में कोई फेरफार नहीं कर सकते तो ज्ञानी जीव परद्रव्य में फेरफार करने का राग क्यों करता है ?

उत्तर :–राग से तो परद्रव्य में परिवर्तन – फेरफार हो सकता ही नहीं, फिर भी ज्ञानी को निर्बलता से राग आता है; तथापि उस राग का वह कर्त्ता नहीं होता, उसको ज्ञेय बनाकर ज्ञाता रहता है ॥३७॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७७, पृष्ठ २५

(३९४)

प्रश्न :– ज्ञानी सारे दिन शास्त्र-वाँचन, उपदेशादि करता हुआ दिखाई देता है; तो भी आप कहते हो कि ज्ञानी राग को नहीं करता – इससे क्या समझना चाहिये ?

उत्तर :– राग आता है अवश्य, किन्तु ज्ञानी तो उस राग का मात्र जाननेवाला है। आत्मा को जानता होने से स्व-पर प्रकाशक ज्ञान समय-

समय पर होता है और उसीसमय जो राग होता है, उसको भी जानता है, फिर भी उस राग का स्वामी नहीं होता। ज्ञानी राग को परज्ञेयरूप से जानता है, वास्तव में तो उस राग सम्बन्धी जो अपना ज्ञान है, उस ज्ञान को वह जानता है। ज्ञान में राग निमित्त है, किन्तु राग का ज्ञान अपने में अपने से हुआ है और वह अपना कार्य है तथा उस समय होनेवाला राग वह अपना कार्य नहीं है – ऐसा ज्ञानी जानता है ॥३८॥ – आत्मधर्म : नवम्बर १९७७, पृष्ठ २५

(३९५)

प्रश्न :– ज्ञानी को राग होता दिखाई देता है, तथापि 'ज्ञानी को राग नहीं होता' – ऐसा कथन किस अपेक्षा से है ?

उत्तर :– ज्ञानी को अल्प राग-द्वेष होता है। उसमें एकत्व-बुद्धि नहीं होती, इसलिए वह गिनती में नहीं है। ज्ञानी जीव पर के कारण राग मानता नहीं; स्वभाव में से राग आता नहीं; जो राग होता है, उसमें एकता मानता नहीं; अपने स्वभाव को राग से भिन्न ही मानता है, अनुभवता है; इसलिए ज्ञानी के वास्तव में राग होता ही नहीं, उसके तो स्वभाव की एकता ही बढ़ती है ॥३९॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २६

(३९६)

प्रश्न :–ज्ञानी का ज्ञान स्व तथा पर दोनों को जानता है, तो भी उसका ज्ञानोपयोग स्व में स्थिर न रहकर पर की तरफ जाता है। यह दोष वास्तव में ज्ञान का है या नहीं ?

उत्तर :– पर में उपयोग के जाते समय ज्ञानी के ज्ञान की सम्यक्ता का अभाव होकर मिथ्यापना तो होता नहीं – इस अपेक्षा से ज्ञानी के ज्ञान में दोष नहीं है, परन्तु अभी ज्ञान ने केवलज्ञानरूप परिणमन नहीं किया है, वह दोष तो ज्ञान का ही है; क्योंकि ज्ञान का स्वभाव तो केवलज्ञानरूप होने का है; अतः जबतक ज्ञान केवलज्ञानरूप परिणमन न करे तबतक वह सदोष है, सावरण है, मिथ्या न होने पर भी दोषी तो है। उपयोग भले स्व में हो, फिर भी पूर्ण केवलज्ञानरूप से परिणमन नहीं किया, वह दोष तो ज्ञान का ही है। ऐसा होने पर भी उस समय जो राग है, वह कहीं ज्ञानकृत नहीं है – राग तो चारित्र का दोष है ॥४०॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७७, पृष्ठ २६

(३९७)

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि राग का कर्त्ता नहीं, सर्वज्ञ की तरह मात्र राग का ज्ञाता ही है, फिर भी सम्यग्दृष्टि की पर्याय में राग होता तो है न ?

उत्तर :– राग वह सम्यग्दृष्टि की पर्याय ही नहीं। समयसार गाथा १२ में कहा है न ? – उससमय जाना हुआ प्रयोजनवान है। सर्वज्ञ एक समय में एक साथ त्रिकाल को जानते हैं और नीचे साधक जीव उस-उस काल के राग को जानता है। जैसा-जैसा ज्ञान होता है, वैसा ही राग निमित्त होता है। आगे-पीछे ज्ञान हो यह बात ही नहीं है – एक काल में ही है।

धर्मी जीव जानता है कि द्रव्यों में पर्यायें हो रही हैं, उन्हें सर्वज्ञ जान रहा है। उन्हें करे क्या ? तथा सम्यग्दर्शनादि में धर्म की पर्याय भी हो रही है, उसे करे क्या ? जो पर्याय स्वकाल में हो ही रही है, उसे करे क्या ? और उसे करने का विकल्प भी क्यों ? सर्वज्ञ तो प्रत्यक्ष देख रहा है और नीचे धर्मी जीव परोक्ष देख रहा है। मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही अन्तर है। केवल दिशा बदलनी है, अन्य कुछ भी करने का नहीं है।

जो पर्याय होनेवाली है, उसे करना क्या और जो नहीं होनेवाली है, उसे भी करना क्या ? ऐसा निश्चय करते ही कर्त्तृत्वबुद्धि छूटकर स्वभाव-सन्मुखता हो जाती है। सर्वज्ञदेव त्रिकाली को देखने-जाननेवाले हैं और मैं भी त्रिकाली का ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ – इसप्रकार त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का निश्चय करना वही सम्यग्दर्शन है ॥४१॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७९, पृष्ठ २५

(३९८)

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि को शुद्ध आत्मा का विचार उपयोग में चल रहा हो, उसे ही शुद्धोपयोग कहते हैं न ?

उत्तर :–नहीं; शुद्धात्मा का विचार चलना शुद्धोपयोग नहीं है, यह तो रागमिश्रित विचार है। शुद्धात्मा में एकाग्र होकर निर्विकल्प उपयोगरूप परिणाम हो, वह शुद्धोपयोग है। जिसमें ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता का भेद छूटकर मात्र अभेदरूप चैतन्यपिण्ड ही अनुभव में आवे, वह शुद्धोपयोग है ॥४२॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७९, पृष्ठ २५

(३९९)

प्रश्न :– ज्ञानी को विभाव परदेश लगता है, तो उसका खेद होता है कि ज्ञान होता है ?

उत्तर :– खेद भी होता है और ज्ञान भी होता है ॥४३॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९८१, पृष्ठ २५

(४००)

प्रश्न :– क्या शुद्धि और अशुद्धि एक पर्याय में साथ ही साथ है ?

उत्तर :– हाँ ! साधक को शुद्धि और अशुद्धि एक ही पर्याय में साथ होने पर भी अशुद्धता का जो ज्ञान होता हैं; वह अपना है, अशुद्धता अपनी नहीं ॥४४॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २७

(४०१)

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि को गृहस्थाश्रम में रहकर राजपाट करते हुए भी समभाव कैसे रहता होगा ?

उत्तर :– त्रिकाली जीवतत्त्व की दृष्टि होने से ज्ञानी को पर्याय-दृष्टि नहीं है अर्थात् वह पर्याय जितना ही जीव को नहीं मानता, इसलिए उसे पर्यायबुद्धि का राग-द्वेष नहीं होता। स्वभावदृष्टि होने के कारण वह सिद्धपर्याय अथवा निगोदपर्याय में समभाव ही रखता है। कदाचित् अल्प राग-द्वेष होने पर भी स्वभाव की एकता नहीं छूटने से वास्तव में उसे राग-द्वेष होता ही नहीं, उसे तो स्वभाव की एकता ही वर्तती है। भाई ! स्वभावबुद्धि का हकार और पर्यायबुद्धि का नकार – यही स्वभाव है। आत्मा वर्तमानभाव जितना नहीं, अपितु त्रिकाल अखण्ड ज्ञानमूर्ति है – ऐसी श्रद्धा ही द्रव्यबुद्धि का स्वीकार है और पर्यायबुद्धि का अस्वीकार है। राजपाट में रहने पर भी ज्ञानी के स्वभावदृष्टि की अधिकता के कारण समभाव ही वर्तता है ॥४५।

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २६-२७

(४०२)

प्रश्न :– यदि परपदार्थ को ज्ञानी अपना नहीं मानते तो 'मेरी पुस्तक, मेरी वस्तु' – ऐसा क्यों बोलते हैं ? यह तो कपट है।

उत्तर :– भाई ! भाषा में ऐसा ही बोला जाता है, तथापि अन्तर में पर को अपना नहीं मानते; यह कपट नहीं है। बोलने की क्रिया ही

आत्मा की नहीं, वह तो जड़ है; उस समय ज्ञानी का अभिप्राय क्या है, वह समझना चाहिए ।।४६।।

– वीतराग-विज्ञान : फरवरी १९८४, पृष्ठ २५

(४०३)

प्रश्न :– भूतकाल के दुःखों का स्मरण करना किस काम का ?

उत्तर :– वैसे दुख पुनः न आवें – इसलिए उन्हें याद करके ज्ञानी अपने हृदय में वैराग्य करता है। मुनिराज भी भूतकाल के दुःखों को याद करके कहते हैं कि 'मैं भूतकाल के दुःखों को याद करता हूँ तब कलेजे में घाव लग जाता है।' देखो ! सम्यग्दृष्टि मुनि है,आनन्द का प्रचुर वेदन है, तथापि भूतकाल के दुःखों को याद करते हैं। किसलिए ? कि वैसे दुःख फिर से प्राप्त न हों; इसलिए उन्हें याद कर वैराग्य बढ़ाते हैं ।।४७।।

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८१; पृष्ठ २६

(४०४)

प्रश्न :– यदि पूजा-भक्ति आदि शुभराग में धर्म नहीं है, तो श्रावक के लिए धर्म क्या है ?

उत्तर :– देह-मन-वाणी-राग से भिन्न आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करना तथा आत्मा का अनुभव करना यही श्रावक का धर्म है ।।४८।।

– आत्मधर्म : अगस्त १९७८, पृष्ठ २५

(४०५)

प्रश्न :– तब क्या श्रावक पूजा-भक्ति आदि कार्य न करे ?

उत्तर :– श्रावक को पूजा-भक्ति आदि का शुभराग आता है, आये बिना रहता नहीं; परन्तु वह धर्म नहीं है, शुभराग है और इससे भिन्न आत्मा का अनुभव करना धर्म है ।।४९।।

– आत्मधर्म : अगस्त १९७८, पृष्ठ २५

(४०६)

प्रश्न :– निश्चय के साथ होनेवाले उचित राग को क्रोध कहते हैं क्या ?

उत्तर :– नहीं; यहाँ समयसार गाथा ६९-७०-७१ में जिसको आत्मस्वभाव की रुचि नहीं है – अनादर है, उसके रागभाव को क्रोध

कहा है अर्थात् मिथ्यात्व सहित होनेवाले रागादिभाव को क्रोध कहा है। ज्ञानी में होनेवाले अस्थिरता के राग का तो ज्ञानी को ज्ञान होता है। ज्ञानरूप परिणमनेवाले ज्ञानी को आनन्दरूप आत्मा रुचता है -- अनुभव में आता है, इसलिए उसे राग की रुचिरूप क्रोध होता ही नहीं; अतः क्रोध मालूम नहीं पड़ता। अज्ञानी को दुःखरूपभाव – रागभाव रुचता है और आनन्दरूपभाव रुचता नहीं, इसलिए उसको क्रोधादि का ही अनुभव होता है, आत्मा मालूम नहीं पड़ता। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उसकी तो रुचि नहीं और पुण्य-परिणाम की रुचि है – यह आत्मा का अनादर है; अतः ऐसे अज्ञानी को अपने स्वरूप के प्रति क्रोध है --ऐसा समझना ॥५०॥

– आत्मधर्म : जून १६८०, पृष्ठ २६

(४०७)

प्रश्न :– ज्ञानी की परीक्षा अज्ञानी जीव किस विधि से करते हैं ? वे अज्ञानी कितने प्रकार के हैं ? तथा ज्ञानी की परीक्षा की सही विधि क्या है ?

उत्तर :– ज्ञानी की गलत विधि से परीक्षा करनेवाले अज्ञानी तीन प्रकार के हैं और वे तीन प्रकार से परीक्षा करते हैं।

प्रथम नम्बर के अज्ञानी वे हैं, जो मात्र बाहर के वेष से परीक्षा करते हैं अर्थात् मात्र बाह्य वेष देखकर ही उनमें ज्ञानी होने की कल्पना कर लेते हैं। द्वितीय नम्बर के अज्ञानी वे हैं, जो बाहर की क्रिया देखकर परीक्षा करते हैं अर्थात् बाहर में चलना, फिरना, उठना, बैठना, आहार, शयन आदि में सावधानी, शुद्धता आदि देखकर ही ज्ञानी मान लेते हैं। तृतीय नम्बर के अज्ञानी वे हैं, जो कषाय की मन्दता देखकर परीक्षा करते हैं अर्थात् प्रतिकूल संयोगों के मिलने पर जो क्रोधादिक नहीं करते, परिणामों में सरलता रखते हैं, बाह्यपरिग्रह का विशेष लोभ नहीं रखते, शरीर व भोजनादि के प्रति अधिक आसक्ति नहीं रखते, उन्हें ज्ञानी होना स्वीकार कर लेते हैं; परन्तु यह ज्ञानी के पहचानने की वास्तविक रीति नहीं है।

जो सच्चा जिज्ञासु है, वह तो अन्तर की तत्त्वदृष्टि से परीक्षा करता है कि सामनेवाले जीव का श्रद्धा-ज्ञान कैसा है ? उसे चैतन्यभगवान की श्रद्धा है या नहीं ? राग से भिन्न चैतन्यस्वभाव की प्रतीति है या नहीं ? राग होता है, उससे लाभ मानता है या उससे भिन्न रहता है ? उसकी

रुचि का जोर किसतरफ काम करता है ? उसके वेदन में किसकी मुख्यता है ? इसप्रकार अन्दर की श्रद्धा और ज्ञान से ही ज्ञानी की पहचान सुपात्र जीव करता है ।।५१।।   – आत्मधर्म : सितम्बर १९८२, पृष्ठ २४

(४०८)

प्रश्न :– तत्त्वचर्चा-स्वाध्याय में रहनेवाले सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा पाँचवें गुणस्थानवर्त्ती पशु के शान्ति विशेष होती है क्या ?

उत्तर :– पाँचवें गुणस्थानवाले पशु के दो कषाय चौकड़ी का अभाव होने से देवों की अपेक्षा शान्ति अधिक होती है। चौथे गुणस्थान-वाला देव शुभ में हो तो भी शान्ति कम और पाँचवें वाला पशु या मनुष्य अशुभ में हो तो भी उसे शान्ति अधिक होती है ।।५२।।

– आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २३

—o—

चिन्मूरत दृग्धारी की........

चिन्मूरत दृग्धारी की मोहि, रीति लगत है अटापटी ।।टेक।।
बाहिर नारकिकृत दुख भोगैं, अन्तर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि संग पै तिस, परणतितैं नित हटाहटी ।।१।।

ज्ञानविरागशक्तितैं विधिफल, भोगत पै विधि घटाघटी।
सदननिवासी तदपि उदासी, तातैं आस्रव छटाछटी ।।२।।

जे भवहेत अबुध के ते तस, करत बन्ध की झटाझटी।
नारक पशुतिय षट् विकलत्रय, प्रकृतिन की ह्वै कटाकटी ।।३।।

सयम धर न सके पै सयम, धारन की उर चटा-चटी।
तासु सुयत गुन की 'दौलत' के, लगी रहे नित रटा-रटी ।।४।।

– कविवर पण्डित श्री दौलतराम

(१०)

द्रव्य-गुण-पर्याय

(४०९)

प्रश्न :– धर्म करने में द्रव्य-गुण-पर्याय को समझने की क्या आवश्यकता है ? दान-व्रत-तप करने से धर्म तो होता ही है न ?

उत्तर :– दान-व्रत-तप करे और शुभराग से लाभ माने – धर्म माने तो मिथ्यात्व का महान् पाप बँधता है। व्रतादि के परिणाम तो रागरूप हैं, बन्धरूप हैं और धर्म तो वीतराग परिणाम है। आत्मा आनन्दस्वरूप महाप्रभु है; उसे द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप से पहिचाने तो राग से भिन्न पड़कर चैतन्यस्वरूप आत्मा में एकाग्रता हो और धर्म हो ॥१॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २७

(४१०)

प्रश्न :– द्रव्य और गुण में तथा एक गुण का दूसरे गुण में भी क्या कोई अभाव है ? यदि है तो कौन-सा और उसके समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर :– द्रव्य है, वह गुण नहीं और गुण है, वह द्रव्य नहीं। गुण और द्रव्य के बीच में तथा एक गुण और दूसरे गुण के बीच में अतद्भाव है। अपने द्रव्य में भी गुण में और द्रव्य में अतद्भाव है। आ हा हा ! यहाँ तक गम्भीरता को स्पर्श किया है तो फिर दूसरे बाहर के पदार्थ कि जिनके प्रदेश भी पृथक् ही हैं, वे तो सर्वथा भिन्न हैं ही – ऐसी दशा में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का क्या कर सकता है ? प्रभु ! तू तो अकेला ही है। अकेले में भी सत्ता को और द्रव्य को तद् अभाव है। ज्ञान है वह आत्मा नहीं, आनन्द है वह आत्मा नहीं और आत्मा है वह आनन्द नहीं, ज्ञान नहीं; इसप्रकार दो के बीच तद् अभाव है। प्रवचनसारजी में द्रव्य की स्वतन्त्रता के अनेक बोल आये हैं। जिस प्रकार सत्य है – उसीप्रकार ज्ञान में आवे

तभी पर्याय अन्दर झुक सकती है, अन्यथा पर्याय अन्दर में नहीं झुक सकती और अन्दर त्रिकालीस्वभाव पर लक्ष गए विना आनन्दानुभूति नहीं हो सकती ॥२॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २३

(४११)

प्रश्न :– द्रव्य को गुण स्पर्श नहीं करता और गुण को द्रव्य स्पर्श नहीं करता – ऐसा कहने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर :– गुणभेद की दृष्टि छुड़ाकर अभेद वस्तु की दृष्टि कराना ही इस कथन का प्रयोजन है ॥३॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २३

(४१२)

प्रश्न :– द्रव्य और गुणों में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद किस प्रकार से है ?

उत्तर :– निश्चयस्वरूप के ज्ञाता जैनाचार्य, जिसप्रकार हिमालय और विन्ध्याचल में भिन्नपना है अथवा एक ही क्षेत्र में स्थित जल और दूध में जिसप्रकार भिन्न प्रदेशपना है, वैसा भिन्नपना द्रव्य और गुणों में नहीं मानते, साथ ही साथ एकान्त से द्रव्य और गुणों का एकपना भी नहीं मानते। अभिप्राय यह हुआ कि जिसप्रकार द्रव्य और गुणों में प्रदेशों की अपेक्षा से अभिन्नत्व है, उसीप्रकार संज्ञा, संख्या, लक्षणादि की अपेक्षा से भी अभिन्नत्व है, एकत्व है – ऐसा नहीं मानते; अर्थात् एकान्त से द्रव्य और गुणों का न तो सर्वथा एकत्व मानते हैं और न सर्वथा भिन्नत्व ही। अपेक्षा के बिना एकत्व और अन्यत्व में से एक भी नहीं मानते; हाँ; भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से दोनों स्वभावों को मानते हैं। प्रदेशों की एकता से एकत्व है और संख्या, संज्ञादि की अपेक्षा से द्रव्य और गुणों में अन्यत्व है – ऐसा आचार्य मानते हैं। यही श्री जयसेनाचार्य-पंचास्तिकाय टीका गाथा ४५ में है ॥४॥ – आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २७

(४१३)

प्रश्न :– कोई द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है तो जीव संसारी कैसे ?

उत्तर :– कोई द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ता – इसका अर्थ है में कोई भी द्रव्य अपने त्रिकाली स्वभाव को नहीं छोड़ता। वर्तमान दशा कि विकारी दशा होती है, बन्ध अवस्था होती है, तो भी द्रव्य अपने त्रिकाली स्वभाव को छोड़ता नहीं है। बन्ध की अवस्था हो, मोक्षमार्ग

की अवस्था हो, अथवा मोक्ष हो; परन्तु फिर भी वस्तु तो जैसी की तैसी पर्याय के पीछे तीनों काल मौजूद पड़ी है ॥५॥

—आत्मधर्म : नवम्बर १९७७, पृष्ठ २६

(४१४)

प्रश्न :— द्रव्य में से पर्याय उत्पन्न होती है, पर्याय व्यय होकर द्रव्य में मिलती है; तव द्रव्य ध्रुव टंकोत्कीर्ण तो नहीं रहा ?

उत्तर :— पर्याय द्रव्य में से उत्पन्न होती है और पर्याय व्यय होकर द्रव्य में मिलती है, यह पर्यायार्थिक नय से कहा है। द्रव्यार्थिक नय का द्रव्य तो ध्रुव टंकोत्कीर्ण कूटस्थ है ॥६॥

— आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २३

(४१५)

प्रश्न :— द्रव्य से पर्याय भिन्न है तो पर्याय कहाँ से आती है ?

उत्तर :— पर्याय आती तो द्रव्य में से है, कहीं अधर से नहीं आती; लेकिन जब पर्याय को सत् रूप से स्वतन्त्र सिद्ध करना हो तव पर्याय, पर्याय से ही है। द्रव्य से पर्याय हो तो द्रव्य एक रूप रहता है और पर्याय अनेक रूप होती है। उसे द्रव्य जैसी एक रूप ही होना चाहिए, लेकिन वैसी होती नहीं। द्रव्य सत् है; वैसे पर्याय भी सत् है, स्वतन्त्र है — इस अपेक्षा से द्रव्य से पर्याय को भिन्न कहा जाता है ॥७॥

— आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २४

(४१६)

प्रश्न :— द्रव्य और पर्याय दो धर्म को पृथक बताने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :— दो धर्म भिन्न हैं, उनकी प्रसिद्धि करने का प्रयोजन है। पर्याय एक समय की है और उसके पीछे ध्रुवदल तो त्रिकाल ज्यों का त्यों रहता है, इसको ज्ञेय बनाना चाहिए ॥८॥

— आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २४

(४१७)

प्रश्न :— आत्मा के पर्यायधर्म को स्वीकार न किया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर :— आत्मा के पर्यायधर्म को माने-जाने, तो 'पर के आश्रय से अपनी पर्याय होती है' — ऐसी मिथ्या मान्यता छूट जाय और अपने द्रव्य

के आश्रय से ही अपनी पर्याय होती है – ऐसी सच्ची मान्यता हो जाय; ऐसा हो जाने पर परद्रव्य से मुझे लाभ-हानि होती है – ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं रहे। जिसने पर से अपनी पर्याय में लाभ-हानि होना माना, उसने आत्मा के पर्यायधर्म को वास्तव में जाना ही नहीं है। पर्यायधर्म अपना है, किसी अन्यवस्तु के कारण अपना पर्यायधर्म नहीं होता। यदि दूसरा पदार्थ आत्मा की पर्याय को करे, तो आत्मा के पर्यायधर्म ने क्या किया ? यदि निमित्त से पर्याय का होना माना जाय, तो आत्मा का पर्यायधर्म ही नहीं रहता। अपनी अनादि-अनन्त पर्यायें अपने से ही होती हैं – इसप्रकार यदि अपने पर्यायधर्म को न जाने तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता ॥९॥

– वीतरागविज्ञान : अक्टूबर १९८३, पृष्ठ २२

(४१८)

प्रश्न :– किसी अपेक्षा से द्रव्य भी परिणामी है या नहीं ?

उत्तर :– द्रव्य तो अपरिणामी है, बन्ध मोक्ष के परिणाम को द्रव्य नहीं करता है; परन्तु पर्यायदृष्टि से कथन करना हो तो पर्याय ध्रुव में से आती है और ध्रुव में ही जाती है, इसलिए पर्याय अपेक्षा से द्रव्य परिणमन करता है। द्रव्य द्रव्यदृष्टि से निष्क्रिय है, पर्यायदृष्टि अपेक्षा से सक्रिय है ॥१०॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(४१९)

प्रश्न :– द्रव्य और पर्याय को भिन्न-भिन्न सिद्ध करने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर :– त्रिकाली द्रव्य और प्रकट पर्याय दोनों भिन्न-भिन्न धर्म अस्तिरूप हैं। उन दोनों धर्मों का परस्पर भिन्न अस्तित्व सिद्ध करना ही प्रयोजन है ॥११॥

– आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २४

(४२०)

प्रश्न :– ज्ञानगुण में जितने अविभाग-प्रतिच्छेद हैं, उतने अविभाग-प्रतिच्छेद सभी गुणों में हैं क्या ?

उत्तर :– हाँ; जितने अविभाग-प्रतिच्छेद एक ज्ञानगुण में हैं, उतने ही श्रद्धा-चारित्र-वीर्यादि सभी गुणों में हैं। जिसका भाग करने पर दूसरा भाग न हो सके – ऐसे अविभाग-प्रतिच्छेद एक गुण में अनन्त हैं; यह अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद केवलज्ञान होने पर पूर्ण प्रगट होने पर भी ज्ञानगुण में से घटते नहीं – ऐसा ही स्वभाव है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। ज्ञान के

अतिरिक्त अन्य गुण कुछ जानते नहीं हैं, इसलिये उन गुणों के अविभाग-प्रतिच्छेद कुछ कम होते होंगे – ऐसा नहीं है ॥१२॥

– आत्मधर्म : मार्च १९७८, पृष्ठ २६

(४२१)

प्रश्न :– परिणामी निश्चय से अपने परिणाम का कर्त्ता है तथापि पूर्व पर्याय का व्यय-कर्त्ता है – यह कथन किस प्रकार है ?

उत्तर :– वास्तव में तो उत्पाद की पर्याय का कर्त्ता उत्पाद ही है, किन्तु अभेद करके उपचार से परिणामी को कर्त्ता कहा गया है। परन्तु द्रव्य तो परिणमता ही नहीं, वह तो निष्क्रिय है; पलटने वाली तो पर्याय है। व्यय को उत्पाद का कर्त्ता कहना भी व्यवहार ही है। षट्कारक का परिणाम ध्रुव और व्यय की अपेक्षा रहित स्वयंसिद्ध उत्पाद होता है ॥१३॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(४२२)

प्रश्न :– शास्त्र में पर्याय को अभूतार्थ क्यों कहा है ? क्या उसकी सत्ता नहीं हैं ?

उत्तर :– त्रिकालीस्वभाव को मुख्य करके भूतार्थ कहा और पर्याय को अभूतार्थ कहा अर्थात् पर्याय है नहीं – ऐसा कहा। वहाँ पर्याय को गौण करके ही 'नहीं है' ऐसा कहा; परन्तु इससे ऐसा मत समझना कि पर्याय सर्वथा हैं ही नहीं। इसी भाँति सम्यग्दृष्टि को राग नहीं, दुःख नहीं – ऐसा कहा; परन्तु इससे ऐसा मत समझना कि वर्त्तमान पर्याय में राग-दुःख सर्वथा है ही नहीं। पर्याय में जितना राग है, उतना दुःख भी अवश्य है जहाँ शास्त्र में ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि के राग या दुःख नहीं है सो वह तो दृष्टि की प्रधानता से कहा; किन्तु पर्याय में जितना आनन्द है, उतना भी ज्ञान जानता हैं और जितना राग हैं, उतना दुःख भी साधक को है; ऐसा ज्ञान जानता है। यदि वर्त्तमान पर्याय में होनेवाले राग व दुःख को ज्ञान न जाने तब तो धारणाज्ञान में भी भूल है। सम्यग्दृष्टि के दृष्टि का जोर बताने के लिए ऐसा भी कहा कि वह निरास्रव हैं, किन्तु यदि आस्रव सर्वथा न हो तब तो मुक्ति हो जानी चाहिए।

कर्त्ता-कर्म अधिकार में ऐसा कहा कि सम्यग्दृष्टि के जो राग होता है उसका कर्त्ता पुद्गलकर्म है, आत्मा उसका कर्त्ता नहीं है; तथा प्रवचनसार में ऐसा कहा कि ज्ञानी के जो राग होता है, उसका कर्त्ता

आत्मा है, राग का अधिष्ठाता आत्मा है। फिर भी एकान्त माने कि ज्ञानी राग का – दुःख का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है तो वह जीव नयविवक्षा को नहीं समझने के कारण मिथ्यादृष्टि है।

एक पर्याय जितना अपने को मानना भी मिथ्यात्व है। तो फिर राग को अपना मानना, शरीर को अपना मानना, माता-पिता धनादि को अपना मानना तो महान मिथ्यात्व है। अहा हा ! अपने को बहुत बदलना पड़ेगा। अनेक प्रकार की मिथ्या मान्यताओं को छोड़कर ही आत्मसन्मुख जा सकोगे ॥१४॥ – आत्मधर्म : जून १९७८, पृष्ठ २५

(४२३)

प्रश्न :– शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों के पिण्ड को द्रव्य कहा है न ?

उत्तर :– वह तो निश्चयाभासी जीव पर्याय को सर्वथा मानता ही नहीं है, उस अपेक्षा से उसे समझाने के लिए शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का पिण्ड सो द्रव्य है – ऐसा कहा है, परन्तु उससे द्रव्य में शुद्ध-अशुद्ध पर्यायें वर्तमानरूप से विद्यमान हैं – ऐसा कहने का तात्पर्य नहीं है। द्रव्य तो शक्तिरूप से अकेला पारिणामिक भावरूप ही है; जो पर्याय को सर्वथा नहीं मानता, उससे कहते हैं कि भविष्य की पर्यायें द्रव्य में शक्तिरूप हैं और भूत की पर्यायें योग्यतारूप हैं। पर्यायें सर्वथा हैं ही नहीं – ऐसा नहीं है; इतना जानने के लिये कहा है ॥१५॥

–आत्मधर्म : नवम्बर १९७९, पृष्ठ २८

(४२४)

प्रश्न :– दो नयों को जानना कहा है न ?

उत्तर :– जानना तो ज्ञान का स्वभाव है; जानने के लिये तो सभी नय कहे हैं, परन्तु धर्मरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये तो एकरूप त्रिकाली ध्रुव शुद्ध चैतन्य सामान्यद्रव्य है, वही आश्रय करने योग्य है। जानने के विषय में आदरणीयपना मान लेने से दृष्टि की विपरीतता होती है ॥१६॥ – आत्मधर्म : नवम्बर १९७९, पृष्ठ २८

(४२५)

प्रश्न :– पर्याय को नहीं मानने से तो एकान्त हो जाता है ?

उत्तर :– 'पर्याय है ही नहीं' – ऐसा नहीं है। श्रद्धा करती है, जानती है, स्थिरता करती है, वह पर्याय ही है; परन्तु पर्याय का आश्रय करना वह विपरीतता है। चैतन्यसामान्य का आश्रय करने के लिए

पर्याय को गौण करके निषेध किया जाता है, परन्तु उससे पर्याय पर्यायरूप में सर्वथा है ही नहीं – ऐसा नहीं है।

एकरूप ध्रुव सामान्यद्रव्य वह परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है, उसमें निर्मल पर्याय को मिलाकर देखना वह मेचकपना होने से अशुद्धनय का विषय हैं, मलिनता है, सोपाधिक हैं, सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है।

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और ॥

एकरूप ध्रुवचैतन्य ही एक सम्यग्दर्शन का विषय है। शरीरादि नोकर्म को तथा द्रव्यकर्म को बाह्यतत्त्व कहना हो, तब राग को स्वतत्त्व कहा जाता है; राग को बाह्यतत्त्व कहना हो, तब निर्मल पर्याय को स्वतत्त्व कहा जाता है; निर्मल पर्याय को बाह्यतत्त्व कहना हो, तब त्रिकाली द्रव्य को स्वतत्त्व कहा जाता है; राग या निर्मल पर्याय की अपेक्षा से बाह्यतत्त्व तथा स्वतत्त्व दोनों कहे जाते हैं, परन्तु त्रिकाली ध्रुवद्रव्य को तो सर्वथा प्रकार से स्वतत्त्व ही कहा जाता है और वह एक ही दृष्टि का विषय होने से उपादेय है ॥१७॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७६, पृष्ठ २८

(४२६)

प्रश्न :– पर्याय द्रव्य से भिन्न है कि अभिन्न ? और किस प्रकार ?

उत्तर :– द्रव्य पर्याय से भिन्न है। क्योंकि ध्रुव में तो पर्याय नहीं और पर्याय में ध्रुव आता नहीं अर्थात् ध्रुव पर्याय को स्पर्श करता नहीं, परन्तु पर से भिन्न करने के लिए ऐसा कहते हैं कि द्रव्य की पर्याय है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सामान्य द्रव्य और विशेष पर्याय यह दो धर्म एकरूप हो जाते हैं। यह दोनों धर्म अर्थात् सामान्यधर्म और विशेषधर्म एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते ॥१८॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २४

(४२७)

प्रश्न :– समयसार गाथा ११ में पर्याय को अभूतार्थ कहा। क्या वह सर्वथा है ही नहीं ? तथा गाथा १५ में पर्याय को मुख्य कहकर उसे जैनशासन कहा। कृपया इसका रहस्य समझाइएगा ?

उत्तर :– समयसार गाथा ११ में पर्याय को गौण करके अभूतार्थ कहा है, वहाँ तो पर्याय का आश्रय छुड़ाने के लिए पर्याय को गौण करके

अभूतार्थ कहा है – असत्यार्थ कहा है, किन्तु पर्याय सर्वथा है ही नहीं – ऐसा मत समझना। गौण करने में पर्याय के अस्तित्व का अस्वीकार नहीं है। तथा गाथा १५ में तो जिसमें अवद्धस्वरूप आत्मा अनुभव में आया, वह पर्याय मुख्य ही है – वह पर्याय जैनशासन है। आहाहा ! मेरा जो द्रव्य विकाररहित वीतरागी तत्त्व है, उसका लक्ष करने पर पर्याय में वीतरागता आती है। यह वेदन की पर्याय मुख्य ही है। द्रव्य तो वेदन में आता नहीं, पर्याय ही वेदन में आती है और वह वेदन की पर्याय मुझे मुख्य है; उसे गौण कर देगा तो नहीं चलेगा नाथ ! पूर्णानन्द का नाथ जहाँ जाना और अनुभव में आया, वह गौण नहीं हो सकता।

भाई ! वह तो तुझे द्रव्य का लक्ष – आश्रय कराने के लिए पर्याय को गौण किया था, परन्तु वेदन तो पर्याय में मुख्य है ही। भले ही द्रव्य का आश्रय कराने के लिए परिणाम को गौण किया था, किन्तु क्या वह परिणाम कहीं चला जावेगा ? नहीं, नहीं; जो परिणाम अस्तिरूप वेदन में आवे, वह कहाँ जावेगा ? आहा हा ! यह आत्मा तो पुकार करता है कि वीतरागस्वरूप जो मेरा द्रव्य है, उसका लक्ष करने पर मुझे वीतरागता वेदन में आती है और यह वेदन मुझे मुख्य है ॥१६॥

– आत्मधर्म : मार्च १६८१, पृष्ठ २४-२५

(४२८)

प्रश्न :– वस्तु के द्रव्यस्वभाव में अशुद्धता नहीं है तो पर्याय में अशुद्धता कहाँ से आती है ?

उत्तर :– वस्तु 'द्रव्य' और 'पर्याय' ऐसे दो स्वभाव वाली है। उनमें से द्रव्यस्वभाव में अशुद्धता नहीं है, किन्तु पर्याय का स्वभाव 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' ऐसे दो प्रकार का है – अर्थात् पर्याय की अशुद्धता द्रव्य-स्वभाव में से आई हुई नहीं है; वह तो तत्समय की पर्याय का ही भाव है, द्वितीय समय में उस पर्याय का व्यय होने पर वह अशुद्धता भी मिट जाती है।

पर्याय की शुद्धता और अशुद्धता के सम्बन्ध में नियम यह है कि जब पर्याय द्रव्याश्रय से परिणमन करती है, तब शुद्ध और, जब पराश्रय से परिणमन करती है तब अशुद्ध होती है; परन्तु वह अशुद्धता न तो पर में से ही आई है और न द्रव्यस्वभाव में से ही आई है ॥२०॥

– आत्मधर्म : अगस्त १६७७, पृष्ठ २५

(४२६)

प्रश्न :– पर्याय स्वयं षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमती है और पर्याय को पर्याय का अपना ही वेदन है तो ध्रुव का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :– ध्रुवद्रव्य वह तो मूल वस्तु है। ध्रुव का लक्ष करने पर ही पर्याय में आनन्द का वेदन आता है, इसीलिए ध्रुव मूल वस्तु है ।।२१।।
— आत्मधर्म : मई १९८०, पृष्ठ २५

(४३०)

प्रश्न :– पर्याय को दूसरे द्रव्य का सहारा नहीं है, तो क्या अपने द्रव्य का भी सहारा नहीं है ?

उत्तर :– पर्याय अपने षट्कारक से स्वतन्त्र है ।।२२।।

— आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २७

(४३१)

प्रश्न :– पर्याय तो पामर है न ?

उत्तर : – पर्याय पामर नहीं है, वह तो सम्पूर्ण द्रव्य को स्वीकारती है, उसे पामर कैसे कहें ? पर्याय में महासामर्थ्य है। सम्पूर्ण द्रव्य को स्पर्श किये बिना उसे स्वीकारती है। ज्ञान की एक पर्याय में इतनी शक्ति है कि छहों द्रव्यों को जान ले। इसकी शक्ति की अलौकिक बात है ।।२३।।

— आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २७

(४३२)

प्रश्न :– द्रव्य और पर्याय में से बल किसका अधिक है ?

उत्तर :– द्रव्य का बल अधिक है। पर्याय तो एकसमय जितनी ही है और द्रव्य तो त्रिकाली सामर्थ्य का पिण्ड है ।।२४।।

— आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २४

(४३३)

प्रश्न :– पर्याय स्वयं सम्पूर्ण वस्तु नहीं है फिर भी वह सम्पूर्ण वस्तु को कैसे जान लेती है ?

उत्तर :– एक मतिज्ञान की पर्याय में भी इतनी शक्ति है कि वह सम्पूर्ण आत्मा को जान ले। पर्याय स्वयं परिपूर्ण वस्तु नहीं है – यह बात तो ठीक है, फिर भी सम्पूर्ण वस्तु को जान लेने की शक्ति उसमें है। केवलज्ञान पर्याय भले ही एक समय की है, परन्तु समस्त स्व-पर को जान लेने

की अपार शक्ति उसमें है। पर्याय स्वयं परिपूर्ण वस्तु हो तभी वह परिपूर्ण वस्तु को जान सके – ऐसा नहीं है। जैसे आत्मा छह द्रव्य रूप न होने पर भी छह द्रव्यों को जान लेता है, ऐसी उसकी शक्ति है; उसीप्रकार एक पर्याय यद्यपि सम्पूर्ण वस्तु नहीं है फिर भी सम्पूर्ण वस्तु को जान लेने की उसकी शक्ति है। जान लेने का कार्य तो केवल पर्याय में ही होता है, कहीं द्रव्य-गुण में नहीं होता ॥२५॥ – आत्मधर्म : सितम्बर १९७७, पृष्ठ २७

(४३४)

प्रश्न :– केवलज्ञानादिक क्षायिकभावों को नियमसार में परद्रव्य कहा है, सो समझ में नहीं आया कि आत्मा में ही होनेवाली पूर्णशुद्धपर्याय को परद्रव्य कैसे कहा ?

उत्तर :– केवलज्ञानादि क्षायिकभाव हैं और निजस्वभावभाव भी हैं – यह तो सत्य ही है, परन्तु किसी अपेक्षावश उन क्षायिकभावों को भी परद्रव्य कहा गया है। बात यह है कि जिसप्रकार परद्रव्य में से अपनी पर्याय नहीं आती; उसीप्रकार क्षायिकभावरूप पर्याय में से भी नवीन पर्याय नहीं आती; अपने द्रव्य में से ही शुद्धपर्याय आती हैं। इसलिए पर्याय के ऊपर का लक्ष छुड़ाकर द्रव्यस्वभाव का लक्ष कराने के प्रयोजन से केवलज्ञानादि क्षायिकभावों को भी परद्रव्य कहा है।

पर्याय के ऊपर लक्ष करने से विकल्पोत्पत्ति होती है; इसलिए पर्याय पर से लक्ष हटाने के लिए उसे परद्रव्य कहा है। केवलज्ञानादि पर्यायें क्षणिक होने से उन्हें अभूतार्थ भी कहा गया है और त्रिकाली ध्रुवस्वभाव को भूतार्थ कहा गया है। केवलज्ञानादि को पर्याय होने से व्यवहारजीव कहा है तथा त्रिकालीस्वभाव निश्चयजीव है। यह बात बराबर ध्यान में रखने की है कि क्षायिकभाव को अपेक्षावश परद्रव्य कहा गया है ॥२६॥

– आत्मधर्म : मार्च १९७९, पृष्ठ २५

(४३५)

प्रश्न :– क्या प्रत्येक पर्याय निरपेक्ष और स्वतन्त्र है ?

उत्तर :– प्रत्येक पर्याय सत् है – स्वतन्त्र है; उसे पर की अपेक्षा नहीं। राग का कर्त्ता तो आत्मा नहीं, किन्तु राग का ज्ञान कहना यह भी व्यवहार है तथा ज्ञानपरिणाम को आत्मा करता है – ऐसा कहना भी व्यवहार है। वास्तव में तो उस समय की ज्ञान-पर्याय षट्कारक से स्वतन्त्र हुई है ॥२७॥ – आत्मधर्म : मई १९७९, पृष्ठ २५

(४३६)

प्रश्न :– कृपया थोड़ा और विस्तार से समझाइए, हम तो विस्तार-रुचि वाले हैं।

उत्तर :– सुनो ! आत्मा कर्त्ता होकर पर्याय को करता है – ऐसा कहने में आता है; किन्तु वास्तव में तो पर्याय स्वयं षट्कारक की क्रियारूप से स्वतन्त्र परिणमन करती है। जहाँ भूतार्थ स्वभाव का आश्रय करने की बात आवे; वहाँ आश्रय करनेवाली पर्याय स्वयं षट्कारक से स्वतन्त्र कर्त्ता होकर लक्ष करती है। वीतरागी पर्याय का, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय का लक्ष – आश्रय त्रिकालीद्रव्य है; परन्तु वह लक्षरूप पर्याय स्वयं षट्कारक से स्वतन्त्ररूपेण कर्त्ता होकर करती है – परिणमती है। पर्याय अहेतुक सत् है न ! विकारीपर्याय भी पर की अपेक्षा बिना – परनिरपेक्ष अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्रतया परिणमन करती है – ऐसा पंचास्तिकाय गाथा ६२ में कहा है।

विशेष क्या कहें – पर्याय विकारी हो अथवा अविकारी, वह तो प्रतिसमय स्वयं षट्कारक की क्रिया से स्वतन्त्र ही परिणमन करती है – उत्पन्न होती है। आ हा हा ! स्वतन्त्रता की ऐसी बात जिसके श्रद्धान में बैठ जाय – जम जाय, उसके कर्मों का भुक्का उड़ जाता है। परन्तु जिसकी योग्यता हो, संसार का किनारा निकट आ गया हो, उसी को यह बात हृदयस्थ होती है। विरले ही ऐसी बात सुनने और समझने वाले होते हैं – उनकी बहुलता नहीं होती ।।२८।।

– आत्मधर्म : मई १९७९, पृष्ठ २५

(४३७)

प्रश्न :– विकारी पर्याय को द्रव्य से भिन्न और शुद्धपर्याय को द्रव्य से अभिन्न क्यों कहा जाता है ?

उत्तर : विकारी पर्याय परद्रव्य की सन्मुखता करती है, इसलिए विकार को द्रव्य से भिन्न कहा और शुद्धपर्याय स्वद्रव्य के सन्मुख होती है, अतः शुद्धपर्याय द्रव्य से अभिन्न कहा जाता है। उस अभिन्नता का अर्थ यह है कि द्रव्य की जितनी भी सामर्थ्य है – शक्ति है वह ज्ञानपर्याय में आ जाती है, प्रतीति में आ जाती है। इसलिए शुद्धपर्याय को द्रव्य से अभिन्न कहा गया है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अनित्यपर्याय नित्यद्रव्य के साथ एकमेक हो जाती है। द्रव्य और पर्याय दोनों का स्वरूप ही भिन्न होने से दोनों

भिन्न हैं। पर्याय द्रव्य का आश्रय करती है, लक्ष करती है, इसलिए पर्याय शुद्ध होती है; किन्तु इससे द्रव्य-पर्याय का एकत्व हो जाता हो – ऐसा नहीं है। दोनों का स्वरूप भिन्न होने से पर्याय द्रव्यरूप और द्रव्य पर्यायरूप कभी भी होना अशक्य है।

पर्यायार्थिकनय से अशुद्धपर्याय द्रव्य से अभिन्न हैं; इसलिए द्रव्य भी अशुद्ध है – ऐसा कोई कहे तो यह बात सत्य नहीं है। पर्याय अशुद्ध होने पर भी त्रिकाली द्रव्य कभी भी अशुद्ध होता ही नहीं, त्रिकाली द्रव्य तो शुद्ध ही है। विकार तो पर के लक्ष से होने वाला द्रव्य की एक समय की अवस्था का भेष है और मोक्षमार्ग की पर्याय भी द्रव्य की एक समय अवस्था का भेष है। अरे! सिद्धदशा भी एक समय की अवस्था का भेष है, वह भी त्रिकाली ध्रुव वस्तु नहीं है। यदि त्रिकाली द्रव्य से पर्याय अभिन्न ही हो तो विकारी और अविकारी पर्याय का अभाव होने पर द्रव्य का भी अभाव (नाश) हो जाय। किन्तु द्रव्य तो पर्याय से कथंचित् भिन्न होने से त्रिकाल स्थायी है। समयसार के संवर अधिकार में तो विकार के प्रदेश को भी द्रव्य से भिन्न कहा है, क्रोधादि कषाय और ज्ञान के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं – ऐसा कहा है ॥२९॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७७, पृष्ठ २७

(४३८)

प्रश्न :– सुखानुभव तो पर्याय में होता है तो फिर आत्मद्रव्य की महिमा क्यों गाई जाती है ?

उत्तर :– अनुभव की शोभा वास्तव में आत्मद्रव्य के कारण ही है। आत्मद्रव्य कूटस्थ होने से यद्यपि अनुभव में नहीं आता, तथा अनुभव तो पर्याय का ही होता है, तथापि जबतक पर्याय द्रव्य को स्वीकार नहीं करती तबतक अनुभव होता नहीं। जहाँपर्याय ने द्रव्य को स्वीकार किया, वहीं उसकी शोभा है और वह आत्मद्रव्य के कारण ही है ॥३०॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २४

(४३९)

प्रश्न :– दुःख का वेदन तो पुद्गल की पर्याय है न ?

उत्तर :– किसने कहा कि पुद्गल की पर्याय है ? वह तो जीव की ही पर्याय है, दुःख का वेदन जीव की पर्याय में होता है। यह तो जीव में से निकल जाता है और जीव का स्वभाव नहीं है तथा पुद्गल के लक्ष से

होता है; इसलिए द्रव्यदृष्टि कराने के प्रयोजन से उसको पुद्गल की पर्याय कहा गया है। किन्तु दुःख का वेदन तो जीव की पर्याय में ही होता है, पुद्गल में नहीं ॥३१॥

— आत्मधर्म : जून १९७८, पृष्ठ २५

(४४०)

प्रश्न :— पर्याय द्रव्य को तन्मय होकर जानती है अथवा अतन्मय रह कर जानती है ?

उत्तर :— पर्याय अतन्मय रह कर द्रव्य को जानती है। पर्याय द्रव्य में तन्मय होती है, यह तो जब पर्याय द्रव्य के सन्मुख होती है, तब तन्मय हुई — ऐसा कहने में आता है। अज्ञान दशा में राग के सन्मुख पर्याय थी, इसलिए उससमय उसे राग से तन्मय कहा जाता है। और जब पर्याय द्रव्य के सन्मुख हुई तो उसे द्रव्य में तन्मय कहा जाता है। किन्तु तन्मय का अर्थ पर्याय द्रव्य में मिलकर एकरूप हो जाती है, ऐसा नहीं है, पर्याय तो पर्याय में रहकर द्रव्य को जानती है। पर्याय, पर्याय से है और द्रव्य, द्रव्य से है। परद्रव्य से भिन्नता सिद्ध करनी हो तब ऐसा कहते हैं कि पर्याय से द्रव्य जुदा नहीं है, किन्तु जब एक वस्तु के दो धर्म सिद्ध करने हों तो पर्याय से द्रव्य भिन्न है — ऐसा समझना। जब जिस अपेक्षा से कहने का जो आशय हो उसे यथायोग्य समझना चाहिए ॥३२॥

— आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २८

(४४१)

प्रश्न :— पर्याय को परद्रव्य की अपेक्षा नहीं है, यह तो ठीक है। क्या पर्याय को स्वद्रव्य की अपेक्षा भी नहीं ?

उत्तर :— छहों द्रव्य की पर्यायें जिससमय होनी हैं, वे पर्यायें षट्-कारक की क्रिया से स्वतन्त्रतया अपने जन्म-क्षण में होती हैं। उन्हें अन्य द्रव्य की तो अपेक्षा बिल्कुल है ही नहीं, और वास्तव में देखा जाय तो उन्हें स्वद्रव्य की भी अपेक्षा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य में पर्याय का जो जन्म-क्षण है, उसी जन्म-क्षण में क्रमवद्धपर्याय होती है। ऐसी स्वतन्त्रता की वात जगत की प्रतीति में आना कठिन है ॥३३॥

— आत्मधर्म : नवम्बर १९७९, पृष्ठ २४

(४४२)

प्रश्न :— द्रव्य में पर्याय नहीं है तो फिर पर्याय को गौण क्यों कराया

उत्तर :— द्रव्य में पर्याय नहीं है; जो वर्त्तमान प्रकट पर्याय है – वह पर्याय, पर्याय में है। सर्वथा पर्याय है ही नहीं – ऐसा नहीं है। पर्याय हैं उसकी उपेक्षा करके, गौण करके, है नहीं – ऐसा कहकर, पर्याय का लक्ष छुड़ाकर; द्रव्य का लक्ष और दृष्टि कराने का प्रयोजन है। इसलिए द्रव्य को मुख्य करके, भूतार्थ कहकर उसकी दृष्टि कराई है और पर्याय की उपेक्षा करके, गौण करके, पर्याय नहीं है, असत्यार्थ हैं — ऐसा कहकर उसका लक्ष छुड़ाया है। यदि पर्याय सर्वथा ही न होवे तो उसके गौण करने का प्रश्न ही कहाँ से हो ?

पहले वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करके ही उसकी गौणता बन सकती है। इसप्रकार द्रव्य और पर्याय दोनों मिलकर ही पूर्णद्रव्य कहलाता है और वह प्रमाणज्ञान का विषय है ॥३४॥

— आत्मधर्म : नवम्बर १६७६, पृष्ठ २५

(४४३)

प्रश्न :— शास्त्र में कहीं तो कथन आता है कि पर्याय का उत्पादक द्रव्य है और कहीं आता है कि पर्याय स्वयं सत् है उसे द्रव्य की अपेक्षा नहीं – सो किस प्रकार है – समझाइए।

उत्तर :— वास्तव में पर्याय पर्याय से ही अर्थात् अपने से ही है। उसे पर की अपेक्षा तो है ही नहीं, और वास्तव में अपने द्रव्य की भी अपेक्षा पर्याय को नहीं है। जब पर्याय की उत्पत्ति सिद्ध करनी हो तो 'द्रव्य से पर्याय उत्पन्न हुई' ऐसा कहा जाता है, किन्तु जब पर्याय 'है' इसप्रकार उसकी अस्ति सिद्ध करनी हो तब पर्याय है वह अपने से सत्रूप है – है – और है, उसको द्रव्य की भी अपेक्षा नहीं। अतः जहाँ जो अपेक्षा सिद्ध करनी हो, वहाँ वही अर्थ निकालना चाहिए ॥३५॥

— आत्मधर्म : अगस्त १६७६, पृष्ठ २६

(४४४)

प्रश्न :— पर्याय द्रव्य से भिन्न है तो अनुभूति है, वही आत्मा है – ऐसा क्यों कहा जाता है ?

उत्तर :— अनुभूति की पर्याय में आत्मद्रव्य का ज्ञान आ जाता है, द्रव्य का सामर्थ्य पर्याय में आ जाता है। जितना द्रव्य का सामर्थ्य है, वह पर्याय में जानने में आ जाता है – इस अपेक्षा से अनुभूति की पर्याय है, वही आत्मा है – ऐसा कहा है। यदि ध्रुवद्रव्य क्षणिक पर्याय में आ जावे

तो द्रव्य का नाश हो जाय, अतः द्रव्य पर्याय में आता नहीं, अपितु द्रव्य का ज्ञान पर्याय में आ जाता है – इसलिए अनुभूति को आत्मा कहा है ॥३६॥ – आत्मधर्म : मार्च १६८१, पृष्ठ २४

(४४५)

प्रश्न :– प्रवचनसार में उत्पाद-व्यय-ध्रुव इन तीनों अंशों को पर्याय का भेद कहा है, उसमें ध्रुव अंश और त्रिकाली ध्रुव में क्या अन्तर है ?

उत्तर :– ध्रुव अंश और त्रिकाली ध्रुव दोनों एक ही हैं। भेद की अपेक्षा त्रिकाली को अंश कहा है; पर वह अंश त्रिकाली ध्रुव ही है। ॥३७॥ – आत्मधर्म : मई १६७७, पृष्ठ २३

(४४६)

प्रश्न :– पर्याय के षट्कारक स्वतन्त्र हैं, पर्याय द्रव्य को नहीं स्पर्शती तो भी उस पर्याय को द्रव्य सन्मुख होना चाहिए – ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर :– पर्याय के षट्कारक स्वतन्त्र हैं, पर्याय द्रव्य को नहीं स्पर्शती, तो भी पर्याय की स्वतन्त्रता देखने वाले का लक्ष द्रव्य पर ही होता है ॥३८॥ – आत्मधर्म : मई १६७७, पृष्ठ २३

(४४७)

प्रश्न :– पर्याय स्वतन्त्र होते हुए भी उसका लक्ष द्रव्य पर क्यों होता है ?

उत्तर :– द्रव्य पर लक्ष हो तभी पर्याय की स्वतन्त्रता की यथार्थ श्रद्धा हो सकती है, पर की ओर लक्ष होने से नहीं। और पर्याय की स्वतन्त्रता के निर्णय का प्रयोजन भी द्रव्य सन्मुख होने से ही सिद्ध होता है। द्रव्य सन्मुख होने के प्रयोजन से ही पर्याय की स्वतन्त्रता दिखती है ॥३९॥ – आत्मधर्म : मई १६७७, पृष्ठ २३

(४४८)

प्रश्न :– व्यय होनेवाली पर्याय के संस्कार अगली उत्पाद होनेवाली पर्याय में आते हैं या नहीं ?

उत्तर :– पर्याय तो व्यय होकर ध्रुव में मिल जाती है, अतः व्यय होनेवाली पर्याय उत्पाद होनेवाली पर्याय में कोई संस्कार नहीं डालती।

पूर्व का संस्कार उत्तरपर्याय में आता है – यह तो बौद्ध का मत है, यह खोटी मान्यता है। उत्पाद की पर्याय को व्यय की अपेक्षा नहीं है, वह स्वतन्त्र है ॥४०॥ – आत्मधर्म : अगस्त १६८१, पृष्ठ २

(४४६)

प्रश्न :– तो फिर नई पर्याय में (उत्पाद की पर्याय में) पूर्व का स्मरण आता है – वह कहाँ से आता है ?

उत्तर :– उत्पाद की पर्याय में स्मरण आता है – वह उत्पाद की सामर्थ्य से आता है। व्यय की पर्याय में जो ज्ञान था, उससे भी अधिक ज्ञान उत्पाद की पर्याय में आ सकता है, परन्तु वह उसकी स्वयं की सामर्थ्य के कारण आता है ॥४१॥ – आत्मधर्म : अगस्त १६८१, पृष्ठ २

(४५०)

प्रश्न :– ज्ञायक आत्मा का अवलम्बन अकेले ज्ञानगुण की पर्याय लेती है या अनन्तगुणों की पर्यायें अवलम्बन लेती हैं ?

उत्तर :– ज्ञायक आत्मा का अवलम्बन अनन्तगुणों की पर्यायें लेती हैं। ज्ञान से तो बात की है, वैसे अवलम्बन तो सभी गुणों की पर्यायें ज्ञायक का लेती हैं ॥४२॥ – आत्मधर्म : जुलाई १६८१, पृष्ठ २०

(४५१)

प्रश्न :– निज द्रव्य की अपेक्षा बिना पर्याय होती है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– ध्रुवद्रव्य तो त्रिकाल एकरूप ही है और पर्याय भिन्न-भिन्न रूप से होती हैं। वह पर्याय अपनी योग्यतानुसार स्वकाल में स्वतन्त्र रूप से होती है ॥४३॥ – आत्मधर्म : मार्च १६७७, पृष्ठ २७

(४५२)

प्रश्न :– यदि ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा लेवें तो क्या बाधा है ?

उत्तर :– ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा लेने से व्यवहार हो जाता है। पर्याय, पर्याय के स्वकाल से होती है – यह पर्याय का निश्चय है ॥४४॥
– आत्मधर्म : मार्च १६७७, पृष्ठ २७

(४५३)

प्रश्न :– पर्याय व्यय होकर द्रव्य में ही समाविष्ट हो जाती है।

यदि ऐसा है तो क्या अनन्त अशुद्ध पर्यायों के द्रव्य में समावेश हो जाने से द्रव्य को हानि नहीं पहुँचती ?

उत्तर :– अशुद्धता तो प्रकट पर्याय में अर्थात् मात्र वर्तमान वर्तती हुई पर्याय में ही निमित्त के लक्ष से होती है। पर्याय व्यय होकर द्रव्य में समा जाने पर पर्यायरूप से नहीं रहती, अपितु पारिणामिक भावरूप हो जाती है। द्रव्य में विकार पड़ा नहीं, इसलिए उसमें कभी भी हानि नहीं होती ॥४५॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २८

(४५४)

प्रश्न :– यदि पर्याय द्रव्य का स्पर्श ही नहीं करती तो आनन्द किसप्रकार आता है ?

उत्तर :– पर्याय द्वारा द्रव्य का स्पर्श न किये जाने पर भी सम्पूर्ण द्रव्य का ज्ञान पर्याय में आ जाता है तथापि द्रव्य पर्याय में नहीं आता। धर्मी और धर्म दो वस्तुयें हैं, पर्याय व्यक्त है और ध्रुववस्तु अव्यक्त है। यद्यपि यह व्यक्त और अव्यक्त दोनों धर्म एक ही वस्तु के हैं तो भी व्यक्त अव्यक्त को स्पर्श नहीं करता; परन्तु पर्याय का लक्ष द्रव्य-सन्मुख है इसलिये पर्याय आनन्दरूप परिणमन करती है ॥४६॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २८

(४५५)

प्रश्न :– दर्शनोपयोग में शुभ और अशुभ ऐसे भेद पड़ते हैं कि नहीं ?

उत्तर :– नहीं – शुभ और अशुभ ऐसे भेद न तो दर्शनोपयोग में हैं और न ज्ञानोपयोग में हैं, यह तो चारित्र के आचरणरूप उपयोग के भेद हैं। चारित्र के आचरण में शुभ, अशुभ और शुद्ध ऐसे तीनप्रकार हैं; उन्हें शुभ, अशुभ अथवा शुद्ध उपयोग कहा जाता है ॥४७॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २३

(४५६)

प्रश्न :– क्या विना गुण की कोई पर्याय होती है ?

उत्तर :– हाँ – भव्यता वह पर्याय है, परन्तु उसका कोई गुण नहीं होता। गुण न होने पर भी भव्यत्व पर्याय होती है और सिद्धदशा होने पर वह पर्याय नहीं होती ॥४८॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(४५७)

प्रश्न :– पर्याय उस समय की सत् है, निश्चित है, ध्रुव है – ऐसा कहने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर :– पर्याय के ऊपर से लक्ष छोड़कर ध्रुवद्रव्य की तरफ ढलने का प्रयोजन है। पर्याय उस समय की सत् है, निश्चित है, ध्रुव है – ऐसा बताकर, उसके ऊपर का लक्ष छुड़ाकर ध्रुवद्रव्य की ओर लक्ष कराने का प्रयोजन है। पर्याय निश्चित है, ध्रुव है, अर्थात् पर्याय उससमय की सत् होने से आगे-पीछे हो सके – ऐसा नहीं है, इसप्रकार जाने तो दृष्टि द्रव्य के ऊपर जावे, और द्रव्य के ऊपर लक्ष जाने से वीतरागता उत्पन्न हो। वीतरागता ही मूल तात्पर्य है। अरे ! ऐसी बात करोड़ों रुपया अर्पण करने पर भी मिलने वाली नहीं है। अहा ! जिसके जानने पर वीतरागता उत्पन्न हो, भला उसकी कीमत क्या ? वह तो अनमोल है ॥४६॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १६८०, पृष्ट २१

(४५८)

प्रश्न :– पर्याय का विगाड़ मिटकर पर्याय में सुधार कैसे हो ?

उत्तर :– पर्याय स्वयं ही पर का लक्ष्य करके विगड़ी है, यदि वह स्वयं ही पर का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव का लक्ष्य करे तो स्वयं से ही स्वयं सुधर जाय। स्व का लक्ष्य करना ही पर्याय का सुधार है ॥५०॥

– आत्मधर्म : जुलाई १६७८, पृष्ठ २५

(४५६)

प्रश्न :– आत्मा में अनन्तधर्म होने पर भी उसे ज्ञानमात्र ही क्यों कहा जाता है ?

उत्तर :– आत्मा की जो ज्ञप्तिक्रिया होती है, उसमें अनन्त धर्मों का समुदाय एक साथ ही परिणमन करता है। अकेला ज्ञान ही नहीं परिणमता, परन्तु उस ज्ञान के साथ ही आनन्द, श्रद्धा, जीवत्व आदि अनन्त गुणों का परिणमन भी होता है। एक ज्ञानगुण को भिन्न लक्ष में लेकर धर्मी नहीं परिणमता, किन्तु ज्ञान के साथ अनन्त धर्मों को अभेदपने लक्ष में लेकर धर्मी जीव एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप से परिणमन करता है ॥५१॥

– वीतराग-विज्ञान : अप्रेल १६८४, पृष्ठ २६

(४६०)

प्रश्न :– संसारदशा दुःखरूप है और मोक्षदशा सुखरूप है, तथापि इन दोनों में अन्तर नहीं है – ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर :– संसार और मोक्ष दोनों ही एकसमय की पर्याय हैं, इन दोनों पर्यायों में त्रिकाली वस्तु की अपेक्षा से अन्तर नहीं है। यह बहुत गंभीर बात है। क्षायिकादि चार भावों को परद्रव्य, परभाव कहकर हेय कहा है। व्यवहार के पक्षवालों को तो यह बात सुनना भी कठिन पड़ेगा। संसार और मोक्ष दोनों पर्यायें हैं अवश्य, किन्तु वे आश्रय करने योग्य नहीं हैं। आश्रय करने योग्य तो एक त्रिकाली द्रव्य ही है। नियमसार गाथा ५० में बहुत गंभीर और सूक्ष्म बात की है। आचार्यदेव ने अपने लिए यह शास्त्र बनाया है, उसमें केवलज्ञानादि क्षायिकभावों को परभाव, परद्रव्य कहकर हेय कहा है। यह परमात्मा के घर की बातें हैं – परमसत्य हैं। अन्दर से समझने की लगन लगे और समझ में न आवे – ऐसा नहीं हो सकता, समझ में आवेगा ही ॥५२॥

– आत्मधर्म : जून १९८१, पृष्ठ २७

—०—

सोई मिथ्यामती परसमयी कुढंग है

जेते ज्ञानगोचर पदारथ हैं ते ते सर्व,
दर्व नाम निहचैसों पावैं सरवंग हैं।
फेरि तिन द्रव्यनिमें अनंत अनंत गुण,
भाषें जिनदेव जाके वचन अभंग हैं॥
पुनि सो दरव और गुननिमें वृन्दावन,
परजाय जुदी-जुदी वसैं सदा संग हैं।
ऐसी दोई भाँति परजाय को न जानै जोई,
सोई मिथ्यामती परसयी कुढंग हैं॥४॥

जो स्वभाव नहिं तजै, सदा अस्तित्व गहै है।
औ उतपत व्यय ध्रौव्य, सहित सब काल रहै है॥
पुनि अनंतगुणरूप, तथा जो परज नई है।
ताही को गुरुदेव, दरव यह नाम दई है॥२०॥

– कविवर श्री वृन्दावनदास : प्रवचनसार परमागम, पृष्ठ ८५ व ८८

(११)

निमित्त-उपादान

(४६१)

प्रश्न :– एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं, अतः उसका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं, फिर शास्त्र में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का कथन क्यों ?

उत्तर :– यह तो नैमित्तिकभाव अपने से परिणमता है, उससमय निमित्त कौन था, उसका ज्ञान कराने को कथन शास्त्र में आता है। निमित्त-निमित्त में और नैमित्तिक-नैमित्तिक में परिणमन करता है; एक वस्तु दूसरी वस्तु में कुछ नहीं करती, दोनों वस्तुयें भिन्न ही हैं। एक वस्तु दूसरी वस्तु का करे भी कैसे ? ॥१॥

– आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २२-२३

(४६२)

प्रश्न :– जब निमित्त वास्तविक कारण नहीं है, तो फिर उसे कारण कहा ही क्यों जाता है ?

उत्तर :– जिसे निमित्त कहा जाता है, उस पदार्थ में उसप्रकार की – निमित्तरूप होने की योग्यता है; इसलिए अन्य पदार्थों से उसे भिन्न पहिचानने के लिए उसकी 'निमित्तकारण' संज्ञा दी गई है। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिये वह पर को भी जानता है और साथ ही पर में निमित्तपने की योग्यता है – यह भी जानता है ॥२॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९८४, पृष्ठ २९

(४६३)

प्रश्न :– उपादान को अनुकूल निमित्त है और निमित्त को अनुरूप उपादान है; फिर भी एक दूसरे का कुछ करते नहीं – ऐसी स्थिति में निमित्त का काम क्या है ?

उत्तर :– घड़ा बनने में हलवाई निमित्त नहीं होता, कुंभकार ही होता है – ऐसा बतलाना प्रयोजन है ॥३॥

–आत्मधर्म : सितम्बर १९८१, पृष्ठ २५

(४६४)

प्रश्न :– घड़ा कुंभकार तो नहीं बनाता, तो क्या मृतिका से भी नहीं बनता ?

उत्तर :– घड़ा घड़े की पर्याय के षट्कारक से स्वतन्त्रतया बनता है, मिट्टीद्रव्य से भी नहीं; मिट्टीद्रव्य तो सदाकाल विद्यमान है। घड़ा, रामपात्र आदि पर्यायें नई-नई उत्पन्न होती हैं और वे पर्यायें अपने षट्कारक से स्वतन्त्र ही होती हैं ॥४॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २३

(४६५)

प्रश्न :– चावल वर्षों तक रखा रहे पर पानी का निमित्त मिलेगा तभी पकेगा ?

उत्तर :– चावल जब पकेगा तब अपने से अपनी योग्यता से ही पकेगा और उस काल में पानी निमित्तरूप से सहज ही होगा ऐसा वस्तुस्वभाव है।

प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में अपनी योग्यतानुसार ही होती है। उस काल में बाह्यवस्तु पर निमित्त का आरोप आता है। यदि एक द्रव्य अन्य द्रव्य की पर्याय करे तो वह अन्य द्रव्य ही कहाँ रहे। अनंत द्रव्य अस्तिरूप हैं। उन सबको भिन्न-भिन्न अस्तिरूप मानने से ही श्रद्धा-ज्ञान सच्चे होंगे ॥५॥ – आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ २७

(४६६)

प्रश्न :– आत्मा में होनेवाले शुभाशुभभावों का मूल उपादान कौन है ?

उत्तर :– अशुद्ध उपादान से आत्मा स्वयं शुभाशुभभाव में व्यापक होकर कर्त्ता होने से स्वयं (आत्मा) उनका कर्त्ता है। और जब शुद्ध उपादान से देखें तो पुण्य-पाप भाव आत्मा का स्वभाव-भाव न होने से और वह शुभाशुभभाव पुद्गल के लक्ष से होता होने से पुद्गल का कार्य है। पुद्गल उसमें व्यापक होकर कर्त्ता होता है। जब स्वभाव के ऊपर दृष्टि जाती है, तब ज्ञानी योग और उपयोग का (राग का) स्वामी होता

न होने से उसका (राग का) कर्त्ता नहीं है, किन्तु ज्ञानी के ज्ञान में राग निमित्त होता है ॥६॥ — आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २७

(४६७)

प्रश्न :– प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र और निरपेक्ष है, तो भी जब जीव को राग होता है, तभी परमाणु कर्मरूप से क्यों परिणमन करता है?

उत्तर :– जीव को राग हुआ है, उससे परमाणु कर्मरूप से परिणमित नहीं हुआ है; किन्तु परमाणु के कर्मरूप से परिणमित होने का वही स्वकाल होने से जीव के राग की अपेक्षा विना ही स्वतन्त्ररूपेण परमाणु कर्मरूप से परिणमन करता है। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सहज है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की सहजता का अज्ञानी को भान न होने से ही उसे दो द्रव्यों में कर्त्ता-कर्मपने का भ्रम होता है। प्रत्येक द्रव्य के परिणमन को पर की अपेक्षा ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र ही परिणमन कर रहा है ॥७॥

— आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २८

(४६८)

प्रश्न :– जीवद्रव्य अन्य द्रव्यों द्वारा उपकृत होता है – ऐसा शास्त्रों में कथन आता है। कृपया अभिप्राय खुलासा कीजिए?

उत्तर :– शास्त्रोल्लेख में व्यवहार के कथन में ऐसा आता है कि इस जीव का अन्य द्रव्य उपकार करते है। इसका अभिप्राय ऐसा है कि एक द्रव्य के कार्यकाल में दूसरे द्रव्य की पर्याय निमित्तमात्र-उपस्थितिमात्र धर्मास्तिकायवत् है – ऐसा ही इष्टोपदेश ग्रन्थ में कहा है तथा समयसार गाथा की दूसरी में भी कहा है कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही गुण-पर्यायों को स्पर्श करता है; किन्तु दूसरे किसी भी द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, चुम्बन नहीं करता। एक द्रव्य की पर्याय में दूसरे द्रव्य की पर्याय का तो अत्यन्त अभाव है, ऐसी वस्तुस्थिति में भला एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का क्या करे? कुछ भी नहीं ॥८॥ — आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २२

(४६९)

प्रश्न :– द्रव्य ही उपादानकारण हो सकता है, पर्याय नहीं; यह मान्यता बराबर है कि नहीं?

उत्तर :– पर्याय उपादानकारण न हो सके और मात्र द्रव्य ही उपादानकारण होवे – यह मान्यता बराबर नहीं है। द्रव्यार्थिकनय से

उपादानकारण द्रव्य है – यह बात बराबर है, क्योंकि प्रत्येक पर्याय द्रव्य और गुण का ही परिणमन है और उससे इतना सूचित होता है कि यह पर्याय इस द्रव्य की है।

दृष्टान्त :– मिट्टी में घट बनने की योग्यता सदा है – ऐसा बतलाना द्रव्यार्थिकनय है, अर्थात् मिट्टी का घड़ा मिट्टी में से ही हो सकता है, अन्य द्रव्य में से नहीं हो सकता। इसके विपरीत जब पर्यायार्थिकनय से कथन किया जाय, अर्थात् जब पर्याय की योग्यता बतलाना हो, तब प्रत्येक समय की योग्यता उपादानकारण है और वह पर्याय स्वयं कार्य है। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो कारण-कार्य एक ही समय में होता है। (देखो– तत्त्वार्थसार, मोक्ष अधिकार, गाथा ३५ तथा उसका अर्थ पृष्ठ ४०७ पर) इसका अर्थ ऐसा है कि प्रत्येक समय प्रत्येक द्रव्य में एक ही पर्याय होने की योग्यता है, किन्तु उसके पूर्व समय की अथवा उत्तर समय की पर्याय में वह योग्यता नहीं होती है। यह कथन पर्यायार्थिकनय से समझना ॥९॥

– आत्मधर्म : मार्च १९८२, पृष्ठ २६–२७

(४७०)

प्रश्न :– धर्म का निमित्त किसको होता है ?

उत्तर :– अज्ञानी जीव में तो धर्मभाव प्रकट ही नहीं हुआ है; इसलिए उसको तो धर्म का निमित्त कोई है ही नहीं; क्योंकि कार्य हुए विना निमित्त किसका ? अज्ञानी के धर्मरूप कार्य अपने में हुआ नहीं है; अतः धर्म के निमित्त का भी उसको निषेध वर्तता है। ज्ञानी ने अन्तरस्वभाव के भान से अपने भाव में धर्म प्रकट किया है, इसलिए उसको ही धर्म के निमित्त होते हैं; परन्तु उसकी दृष्टि में निमित्तों का निषेध वर्तता है और स्वभाव का आदर वर्तता है।

इसप्रकार निमित्त के कारण धर्म होता है – ऐसा जो मानता है, उसके तो धर्म के निमित्त ही नहीं होते। और जिसको धर्म के निमित्त होते हैं, ऐसा ज्ञानी निमित्त के कारण धर्म होता है; ऐसा मानता नहीं है ॥१०॥

– आत्मधर्म : मार्च १९८२, पृष्ठ २६

(४७१)

प्रश्न :– क्या यह सोनगढ़ में निर्मित परमागम मन्दिर आदि किसी जीव के किये बिना स्वयं ही बन गए है ?

उत्तर :– पुद्गल ही अपने स्वकाल में परिणमन करके परमागम

मन्दिर आदि रूप से हुए हैं, जीव ने उसमें कुछ भी किया नहीं है। जीव ने तो अपने में शुभभाव किया था, परन्तु उससे हुआ नहीं है। परमाणु ही स्वतन्त्ररूपेण कर्त्ता होकर परमागम मन्दिर आदि कार्यरूप हुए हैं ॥११॥ – आत्मधर्म : जनवरी १६७६, पृष्ठ २६

(४७२)

प्रश्न :– क्या केवलज्ञानावरणीकर्म में इतनी शक्ति है कि केवलज्ञान को न होने दे ? अथवा केवलज्ञान को रोके रखे ?

उत्तर :– कर्म तो आत्मा से भिन्न वस्तु है। केवलज्ञानावरणीकर्म केवलज्ञान को रोकता नहीं है। वहाँ तो कर्म-परमाणु के परिणमन की उत्कृष्ट शक्ति कितनी है, वह बताने के लिए – केवलज्ञानावरणीकर्म से केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता – ऐसा निमित्त से कथन किया है, परन्तु केवलज्ञान कहीं उस कर्म के कारण रोका नहीं जाता है। जब जीव अपनी शक्ति की हीनपरिणमनरूप योग्यता से परिणमन करता है, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है ॥१२॥

– आत्मधर्म : जनवरी १६७६, पृष्ठ २६

(४७३)

प्रश्न :– अज्ञानी को तो निमित्त वास्तव में ज्ञेय भी नहीं हैं; ऐसा आप कहते हैं – वह कैसे ?

उत्तर :– ज्ञान बिना ज्ञेय किसका ? जैसे लोकालोक तो सदा से है; किन्तु जब केवलज्ञान प्रगट हुआ, तब लोकालोक ज्ञेय हुआ। केवलज्ञान होने से पहले लोकालोक ज्ञेय नहीं था, परन्तु स्वाश्रय से केवलज्ञान प्रगट होने पर लोकालोक ज्ञेय हुआ। उसीप्रकार निचली दशा में भी यद्यपि रागादि और निमित्त वास्तव में ज्ञेय ही हैं, किन्तु सचमुच में उन्हें ज्ञान का ज्ञेय तब कहा जाये, जब कि 'मैं उन राग और निमित्तों से भिन्न हूँ' – इसप्रकार स्वसन्मुख होकर आत्मा का ज्ञान प्रगट करे तथा राग और निमित्त को परज्ञेयरूप से यथार्थ जाने।

रागादि और निमित्त, ज्ञान के कर्त्ता तो नहीं हैं, परन्तु वास्तव में अज्ञानी को वे ज्ञान के ज्ञेय भी नहीं है, क्योंकि वहाँ स्वाश्रितज्ञान विकसित ही नहीं हुआ; अतः वह ज्ञान, राग में ही एकाकार रहने से, उसमें राग को ज्ञेय करने की शक्ति प्रगट नहीं हुई। राग से भिन्न पड़े बिना राग को ज्ञेय करने की शक्ति ज्ञान में प्रगट नहीं होती। राग और निमित्त से भिन्न आत्मस्वभाव को जाने बिना राग को रागरूप और

निमित्त को निमित्तरूप जानेगा कौन ? जाननेवाला ज्ञान तो राग और निमित्त की रुचि में अटका पड़ा है। राग और निमित्त की रुचि टले विना और आत्मा की तरफ की रुचि किये बिना निमित्त और व्यवहार का सच्चा ज्ञान नहीं होता। जब स्वाश्रय से ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके ज्ञानस्वभाव को ही स्वज्ञेय किया, तब स्व-परप्रकाशक ज्ञानसामर्थ्य विकसित हुई और निमित्तादि भी उसके व्यवहार से ज्ञेय हुये ।।१३।।

– आत्मधर्म : मार्च १९८३, पृष्ठ २७

(४७४)

प्रश्न :– अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को प्रथम जानने के लिए कहा है न ?

उत्तर :– उन अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय का लक्ष छोड़कर स्वयं को पहचाने तो भेदज्ञान हो और तभी उन अरहंत को निमित्त कहा जाय ।।१४।।

– आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २४

(४७५)

प्रश्न :– समयसार की प्रथम गाथा में कहा कि अनन्त सिद्धों को तेरी पर्याय में स्थापन करता हूँ। यहाँ प्रश्न होता है कि अनन्त सिद्ध तो हमारे लिए परद्रव्य हैं, हमारी पर्याय में अतद्भावरूप हैं – ऐसी स्थिति में उनका स्थापन किसप्रकार हो सकता है ?

उत्तर :– अनन्त सिद्ध पर्याय में भले अतद्भावरूप हों, परन्तु उन अनन्त सिद्धों की प्रतीति पर्याय में आ जाती है, इसलिए अनन्त सिद्धों का स्थापन करना कहा है। जिसतरह अध्यवसान का त्याग कराने के लिए बाह्यवस्तु का त्याग कराया जाता है; उसीतरह अपने सिद्धस्वभाव का पर्याय में स्थापन कराने के लिए अनन्त सिद्धों का स्थापन कराने में आया है। जैसे बाह्यवस्तु अध्यवसान का निमित्त है, वैसे ही अपने सिद्धस्वरूप का लक्ष कराने में अनन्त सिद्ध निमित्त हैं ।।१५।।

– आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २४

—०—

उपादान अरु निमित ये, सब जीवन पै वीर।
जो निज शक्ति सँभारही, सो पहुँचे भवतीर ।।

– कविवर भैया भगवतीदास : उपादान-निमित्त संवाद, दोहा ४२

(१२)

निश्चय-व्यवहार

(४७६)

प्रश्न :– समयसार की ग्यारहवीं गाथा को आप जैनदर्शन का प्राण कहते हो, उसमें तो व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है – झूठा कहा है। कृपया इस गाथा का स्पष्टीकरण कीजिए ?

उत्तर :– ग्यारहवीं गाथा वास्तव में जैनदर्शन के प्राणरूप ही है। उसमें निश्चय-व्यवहारनय की बात की है, उसे यथातथ्य जानना चाहिये। राग, पर्याय, गुणभेद – यह सब व्यवहारनय के विषय हैं और त्रिकाली वस्तु में नहीं हैं; इसलिये ही व्यवहारनय को झूठा कहकर अभूतार्थ कहा है; अर्थात् पर्याय है ही नहीं – इसप्रकार उसका सीधा-साधा अर्थ होता है, परन्तु उसका आशय ऐसा नहीं है। पर्याय है अवश्य, उसके अस्तित्व का अस्वीकार नहीं किया जा सकता; परन्तु जो त्रिकाली वस्तु हैं वह पर्याय नहीं है; इसलिये पर्याय की उपेक्षा करके उसे गौण करके त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक की दृष्टि करवाई जाती है; क्योंकि त्रिकाली द्रव्य को मुख्य करके द्रव्य का अनुभव कराने का प्रयोजन है। ज्ञान वह आत्मा ऐसा भेद भी दृष्टि के विषय में नहीं आता। अभेददृष्टा की दृष्टि में भेद दिखाई ही नहीं पड़ता, सत्यार्थदृष्टा को असत्यार्थ दिखाई नहीं पड़ता, नित्य देखनेवाले को अनित्य दृष्टिगोचर नहीं होता, भूतार्थ पर दृष्टि रखनेवाले को अभूतार्थ के दर्शन नहीं होते तथा एकाकार देखनेवाले को अनेकाकार दृष्टि में नहीं आता। इसीकारण से भेदरूप व्यवहार को अभूतार्थ कहा है और निश्चयनय की विषयभूत त्रिकाली ध्रुववस्तु ही भूतार्थ होने से उसका आश्रय कराया है। अहो ! यह आत्मतत्त्व तो गहन है, उसका निर्णय और अनुभव करने के लिए आचार्यों के अन्तरंग अभिप्राय को पकड़ना होगा ॥१॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७९, पृष्ठ २४-२५

(४७७)

प्रश्न :– समयसार की ग्यारहवीं गाथा में शुद्धनय का अवलम्बन लेने को कहा; किन्तु शुद्धनय तो ज्ञान का अंश है – पर्याय है; क्या उस अंश का अवलम्बन लेने से सम्यक्त्व होगा ?

उत्तर :– वास्तव में शुद्धनय का अवलम्बन लेना कब कहा जाय ? अकेले अंश को पकड़कर उसके ही अवलम्बन में जो अटक गया, उसे तो शुद्धनय है ही नहीं। ज्ञान के अंश को अन्तर में लगाकर जिसने त्रिकाली द्रव्य के साथ अभेदता की, उसे ही शुद्धनय होता है और ऐसी अभेददृष्टि हुई तभी शुश्रनय का अवलम्बन लिया – ऐसा कहा जाता है, अर्थात् 'शुद्धनय का अवलम्वन – ऐसा कहने पर उसमें भी द्रव्य-पर्याय की अभेदता की बात है। परिणति अन्तर्मुख होने पर द्रव्य में अभेद हुई और जो अनुभव हुआ, उसका नाम शुद्धनय का अवलम्बन है, उसमें द्रव्य-पर्याय के भेद का अवलंवन नहीं है। यद्यपि शुद्धनय स्वयं ज्ञान का अंश है, पर्याय है; परन्तु वह शुद्धनय अन्तर के भूतार्थस्वभाव में अभेद हो गया है, अर्थात् वहाँ नय और नय का विषय जुदा नहीं रहा। जब ज्ञानपर्याय अन्तर में झुककर शुद्धद्रव्य के साथ अभेद हुई तब ही शुद्धनय हुआ। यह शुद्धनय निर्विकल्प है ।।२।। – आत्मधर्म : नवम्बर १९७९, पृष्ठ २५

(४७८)

प्रश्न :– शास्त्र में व्यवहार को भी प्रशंसनीय कहा है ?

उत्तर :– निश्चयनय शुद्धात्मा की भावनावाले जीव को अर्थात् साधक जीव को जवतक पूर्ण वीतरागता प्रकट न हो तबतक निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ जो व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नव तत्त्व का ज्ञान और पंचमहाव्रत का आचरण है; उसको निश्चय का सहकारी जानकर प्रशंसनीय कहा है। उसे व्यवहार से मोक्षमार्ग भी कहा है, तथापि परमार्थ से तो वह बन्धमार्ग ही है; अतः निश्चय शुद्धात्मा की भावना के काल में वह व्यवहार प्रशंसा योग्य नहीं है। साधक जीव को पूर्ण वीतरागता न हो, तबतक अर्थात् प्रथम अवस्था में व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-आचरण को प्रशंसनीय कहा है तो भी शुद्धात्मा की भावना के काल में प्रशंसा योग्य नहीं है ।।३।।

– आत्मधर्म : अप्रेल १९७७, पृष्ठ २६

(४७९)

प्रश्न :– निश्चयनय और व्यवहारनय का परस्पर में विरोध है या मैत्री ?

उत्तर :– निश्चयनय और व्यवहारनय में है तो विरोध ही, किन्तु दोनों साथ रहते हैं – इस अपेक्षा से मैत्री भी कही जाती है। जैसा सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन में विरोध है अर्थात् वे दोनों एकसमय भी साथ-साथ नहीं रह सकते, वैसा विरोध इन दोनों नयों में नहीं है। ये दोनों साथ-साथ रहते हैं, अतः मैत्री कही जाती है ॥४॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९८१, पृष्ठ २५

(४८०)

प्रश्न :– आप व्यवहार को हेय कहते हैं, तो क्या व्यवहार है ही नहीं ?

उत्तर :– व्यवहार है भले ही, परन्तु मोक्षमार्ग उसके आधार से नहीं है। व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग मानना तो परद्रव्य से लाभ मानने जैसा है। जिसप्रकार परद्रव्य है, इसलिये स्वद्रव्य है – ऐसी मान्यता में स्व-पर की एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व है; उसीप्रकार रागरूप व्यवहार है इसलिये निश्चय है – ऐसी मान्यता में स्वभाव और परभाव की एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व है। साधक को सुख के साथ किंचित् दुःख भी है, दोनों धारायें (एक बढ़ती हुई और दूसरी घटती हुई) साथ ही वर्त्तती हैं; तो क्या वे दोनों परस्पर एक-दूसरे के कारण से हैं ? नहीं; दोनों साथ होने पर भी दुःख है, इसलिये सुख है – ऐसा नहीं है; उसीप्रकार निश्चय और व्यवहार साथ होने पर भी व्यवहार है, इसलिए निश्चय है – ऐसा नहीं है। व्यवहार के आश्रय से बन्धन है और निश्चय के आश्रय से मुक्ति है – ऐसे दोनों भिन्न-भिन्न स्वरूप से वर्तते हैं ॥५॥

– आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २८

(४८१)

प्रश्न :– ज्ञानी तो व्यवहार को हेय मानता है, फिर भी ज्ञानी के व्यवहार का फल संसार क्यों ?

उत्तर :– ज्ञानी का व्यवहार भी राग है और राग का फल संसार है। श्रावक को षट् आवश्यक का और मुनि को पंच महाव्रत का विकल्प आता है; उसको निश्चय का सहचर जानकर जिनवाणी में बहुत वर्णन किया गया है, परन्तु इस राग का फल संसार है – ऐसा कहा है। जो जीव इस शुभराग से लाभ मानता है अथवा शुभराग करते-करते धर्म हो

जायेगा – ऐसा मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है; अतः संसारभ्रमण करेगा ही ॥६॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७९, पृष्ठ २४

(४८२)

प्रश्न :– जिनवाणी में कथित व्यवहार का फल भी यदि संसार ही है, तो उसके कथन से क्या लाभ ?

उत्तर :– निश्चय दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ अपूर्णदशा के कारण राग की मन्दता में किस-किस प्रकार का मन्द राग होता है; चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थानों की भूमिका में राग की क्या स्थिति होती है; पूजा, भक्ति, अणुव्रत, महाव्रतादि होते हैं; उनका व्यवहार बताने के लिए जिनागम में उनका कथन किया गया है; परन्तु इस राग की मन्दता के व्यवहार का फल तो बन्धन और संसार है ॥७॥ –आत्मधर्म : दिसम्बर १९७९, पृष्ठ २४

(४८३)

प्रश्न :– क्या व्यवहारनय सर्वथा निषिद्ध है ?

उत्तर :– नहीं भाई ! व्यवहारनय सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं है, क्योंकि साधक जीव को जबतक अपूर्ण दशा वर्तती है, तबतक भूमिकानुसार दया-दान-पूजा-भक्ति-यात्रा-व्रत-तपादि का शुभरागरूप व्यवहार आता है, आये बिना रहता नहीं और उसको उस-उस काल में उस-उस भूमिका में उसे जानना योग्य है, प्रयोजनवान है; निषेध करने योग्य नहीं। परन्तु इसका ऐसा अभिप्राय कदापि नहीं है कि वह आदरणीय भी है। हाँ, भूमिकाप्रमाण उत्पन्न होनेवाले राग को जानना उचित ही है ॥८॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७९, पृष्ठ २३-२४

(४८४)

प्रश्न :– व्यवहार का निषेध करने से तो जीव अशुभ में चला जाएगा ?

उत्तर :– अरे भाई ! जो शुभरागरूप व्यवहार में आया है, वह अशुभराग को छोड़ करके ही तो आया है। अब उसको स्व का – निश्चय का आश्रय कराने के लिए व्यवहार का निषेध कराते हैं। वहाँ अशुभ में जाने की बात ही कहाँ है ॥९॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २७

(४८५)

प्रश्न :– क्या व्यवहाररत्नत्रय मोक्ष का वास्तविक कारण नहीं है ?

उत्तर :– हाँ, जो मोक्ष का कथन-मात्र कारण है – ऐसा व्यवहार-

रत्नत्रय तो भवसागर में डूबे हुए जीवों ने पहले भव-भव में सुना है और किया भी है। दया-दान-भक्ति-व्रत-तपादि शुभराग का व्यवहार तो भव-सागर में डूबे हुए जीवों ने अनन्तवार श्रवण करके आचरण भी किया है, परन्तु वह व्यवहाररत्नत्रय तो कहने मात्र ही मोक्ष का कारण है; वास्तव में देखा जाय तो वह बन्ध का ही कारण है। जो राग दुःखरूप है, विषरूप है, वह अमृतरूप मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति-पूजा, जिनमन्दिर-निर्माण, गजरथ निकालना आदि तो भव-भव में अनन्तवार किया है, शास्त्र का ग्यारह अंग का ज्ञान, नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा और व्रत-तपादि का कारण पहले अनन्तवार किया है, किन्तु अरे रे ! खेद है कि जो सर्वथा एक ज्ञानस्वरूप है – ऐसे परमात्मतत्त्व को जीव ने कभी सुना नहीं, आचरण किया नहीं, अतः भवार्णव से पार हुआ नहीं ।।१०।।   – आत्मधर्म : अगस्त १९८०, पृष्ठ २६

(४८६)

प्रश्न :– व्यवहार का अति निषेध करना उचित नहीं है – ऐसा पंचसंग्रह में कहा है, उसका क्या आशय है ?

उत्तर :– भगवान का दर्शन, पूजन, भक्ति, शास्त्रश्रवण, स्वाध्याय आदि व्यवहार होता है, उस व्यवहार का परिणाम आता है; यदि उसका निषेध करने जाएगा तो जिनदर्शन, श्रवणादि कुछ रहेगा ही नहीं। पर्याय में पंच महाव्रतादि के परिणाम का व्यवहार होता है अथवा नवदेव के दर्शन, भक्ति आदि का व्यवहार होता है, उसको माने ही नहीं तो वह मिथ्यादृष्टि है और उस व्यवहार से धर्म होता है – ऐसा माने तो भी मिथ्यादृष्टि है। पर्याय है और उस पर्याय में अनेक प्रकार के शुभराग का व्यवहार है, उसको माने ही नहीं तो मिथ्यादृष्टि है। तीर्थंकर भगवान के कल्याणकों में इन्द्रादि देव करोड़ों देवों की सेना सहित दर्शन-पूजन आदि के लिए आते हैं। भले ही वह व्यवहार हेय है, किन्तु वह भाव आता अवश्य है, आये विना रहता नहीं। वह व्यवहार जानने योग्य है, उसे यथावत् न जाने तो मिथ्यादृष्टि है। एक ओर तो कहते हैं कि निर्मल क्षायिक पर्याय का भी लक्ष करे तो राग होता है, अतः उस निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य कहकर हेय कहा और दूसरी ओर कहते हैं कि शुभरागरूप व्यवहार आता है, होता है, उसको जाने ही नहीं – माने ही नहीं, तो वह मिथ्यादृष्टि है। देव-शास्त्र-गुरु जो व्यवहार के विषय हैं, उन्हें जानना तो चाहिए। भले ही वे आश्रय करने योग्य नहीं हैं, किन्तु जानने योग्य तो अवश्य हैं। व्यवहार

है – ऐसा न जाने तो मिथ्यादृष्टि है। जैनधर्म अनेकान्त है। उसे बराबर समझना है, वह न समझे तो एकान्त हो जाएगा ॥११॥

– आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २२

(४८७)

प्रश्न :– आगम के व्यवहार और अध्यात्म के व्यवहार की परिभाषा बताइये ?

उत्तर :– स्वरूप की दृष्टि होने पर जो शुद्ध परिणमन होता है वह अध्यात्म का व्यवहार है और महाव्रत, त्रयगुप्ति आदि शुभराग आगम का व्यवहार है ॥१२॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(४८८)

प्रश्न :– आगम का निश्चय - व्यवहार क्या है और अध्यात्म का निश्चय - व्यवहार क्या है ?

उत्तर :– अध्यात्म में शुद्धद्रव्य को निश्चय कहते हैं और शुद्धपरिणति को व्यवहार कहते हैं। जबकि आगम में शुद्धपरिणति को निश्चय कहते हैं और उसके साथ वर्तते हुए शुभपरिणाम को व्यवहार कहते हैं ॥१३॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २६

(४८९)

प्रश्न :– निश्चय है वह मुख्य है, या मुख्य है, वह निश्चय है ?

उत्तर :– मुख्य है, वही निश्चय है। यदि निश्चय को मुख्य कहा जावे तो पर्याय भी निश्चय है, अतः वह भी मुख्य हो जावेगी; किन्तु ऐसा नहीं है। मुख्य है, वही निश्चय है और गौण है, वह व्यवहार है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस विषय का विषद् स्पष्टीकरण किया गया है। श्रद्धा में त्रिकाली स्ववस्तु एक ही मुख्य है ॥१४॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २६

(४९०)

प्रश्न :– पंच परावर्तन में जीव भटकता है, वह व्यवहार से है अथवा निश्चय से ?

उत्तर :– पंच परावर्तन में अपने भावों से ही भटकता है, अतः निश्चय से है। परन्तु त्रिकाली ध्रुव स्वभाव की अपेक्षा से पंच परावर्तन के भाव पर्याय में होने से पर्याय को व्यवहार कहा जाता है। पंच परावर्तन में जीव भटकता है, वह व्यवहार से भटकता है – ऐसा नहीं है; किन्तु

निश्चय से ही भटकता है। प्रवचनसार में जीव के विकार भाव को निश्चय कहा गया है ॥१५॥ — आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २६

(४९१)

प्रश्न :— त्रिकाली निष्क्रिय चैतन्य ही परमार्थ जीव है। बंध और मोक्ष की पर्याय को करे वह तो व्यवहार जीव है। तो बताइए कि कितने प्रकार के जीव हैं ?

उत्तर :— दो प्रकार के जीव हैं। एक परमार्थ जीव और दूसरा व्यवहार जीव। परमार्थ जीव तो त्रिकाल निष्क्रिय मोक्षस्वरूप ही है, और पर्याय बंध-मोक्षरूप से परिणमन करती है वह व्यवहार जीव है ॥१६॥

— आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २६

(४९२)

प्रश्न :— जिस घर में जाना न हो उसके जानने का क्या काम ? उसी प्रकार व्यवहार तो छोड़ने योग्य है, तब फिर उसके जानने का क्या काम है ?

उत्तर :— जिस घर में न जाना हो, उसको भी जानना चाहिए। यह घर अपना नहीं है, किन्तु दूसरे का है — इसप्रकार जानना आवश्यक है। उसीप्रकार पर्याय का आश्रय करने का जहाँ निषेध किया है, वहाँ उसका ज्ञान भी न करे तो एकान्त हो जावेगा, प्रमाणज्ञान नहीं होगा। पर्याय का आश्रय छोड़ने योग्य होने पर भी, जैसी वह है वैसा ज्ञान तो करना ही पड़ेगा और तभी निश्चयनय का ज्ञान सच्चा होगा ॥१७॥

— आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २६

(४९३)

प्रश्न :— जो व्यवहार निश्चय को बतलाता है, उसका कुछ उपकार तो है न ?

उत्तर :— नहीं ! व्यवहार निश्चय तक नहीं पहुँचाता, उससे कुछ कार्य सिद्धि नहीं होती। व्यवहार अनुसरण करने योग्य नहीं है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद करके समझना पड़ता है, और भेद से आत्मा समझना पड़ता है। इतना व्यवहार होता ही है, तब भी वह अनुसरण करने योग्य नहीं है। एक ज्ञायक को ही लक्ष्य में लेना योग्य है ॥१८॥

— आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २०-२१

(४९४)

प्रश्न:— व्यवहारप्रतिक्रमणदि कब सफल कहे जावें ?

उत्तर :– हमारे वीतरागी सन्तों ने शास्त्रों में द्रव्यश्रुतात्मक व्यवहारप्रतिक्रमण कहे हैं – उन्हें सुनकर, जानकर, सकल संयम की भावना करे उसे व्यवहारप्रतिक्रमण का जानना सफल है – सार्थक है। प्रतिक्रमण आदि जितने प्रकार के व्यवहार शास्त्र में कहे हैं, वे सब व्यवहार बन्ध के कारण हैं; उन्हें छोड़कर अन्दर आनन्दस्वरूप में जाने पर ही व्यवहार का सफलपना कहा गया है। जितना भी क्रियाकाण्ड व्यवहार कहने में आता है, उसे छोड़कर शुद्धस्वरूप के अनुभव में निमग्न हो, तभी व्यवहार के जानपने की सफलता कही गई है। जो शुद्धस्वरूप के सन्मुख तो होता नहीं और मात्र व्यवहार में ही लीन रहकर आत्मा के आनन्दस्वरूप में नहीं जाता तो उसका व्यवहार केवल संसारभ्रमण का ही कारण है ॥१६॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २६

(४९५)

प्रश्न :– व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसा यहाँ कहा कि नहीं ?

उत्तर :– व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसा नहीं कहा; किन्तु व्यवहार को जानकर, उसका लक्ष छोड़कर, निश्चय आनन्दस्वरूप आत्मा में जाय, वीतरागस्वरूप आत्मा में जाय, उसको व्यवहार जानने का सफलपना कहा है। जो वीतरागस्वरूप आत्मा में ढलता है, उसी के व्यवहार को निमित्तपना कहा है; किन्तु जो व्यवहार में ही खड़ा रहे और निश्चयस्वरूप में जावे नहीं; उसके व्यवहार का सफलपना नहीं होता और उसके व्यवहार को व्यवहार भी नहीं कहते ॥२०॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २६

(४९६)

प्रश्न :– लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण आदि करने से आत्मा शुद्ध हो जाता है, तो फिर पहले से ही शुद्धात्मा के अवलम्बन का खेद करने से क्या लाभ ?

उत्तर :– शुद्धात्मा के भानरहित जो प्रतिक्रमणादि हैं, वे दोष को घटाने-टालने में समर्थ नहीं है। कारण यह है कि जिसे आत्मा का अवलम्बन नहीं हुआ, उसे तो राग में एकता बुद्धि पड़ी है, उसके शुभराग के क्रियाकाण्ड मात्र दोषरूप ही हैं, दोष मिटाने में समर्थ नहीं हैं। अज्ञानी के प्रतिक्रमणादि तो पापरूप विषकुम्भ ही हैं और शुभरागरूप प्रतिक्रमणादि भी आत्मा का अवलम्बन नहीं होने से उसके लिए तो विषकुम्भ ही हैं। ज्ञानी के प्रतिक्रमणादि को आत्मा का अवलम्बन होने से व्यवहारनय से ही अमृतकुम्भ कहा है। ज्ञानी जब स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता, तब अशुभ से बचने

के लिए शुभराग आता है। आचारशास्त्रों में जितनी भी शुभक्रियाकाण्ड की बात आती है, वह व्यवहारनय से ही अमृतकुम्भ कही गई है, निश्चय-नय से तो वह विषरूप ही है – बंधरूप ही है ॥२१॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २६-२७

(४९७)

प्रश्न :– ज्ञानी का व्यवहारप्रतिक्रमण भी बन्ध का कारण है – ऐसा कहने का प्रयोजन क्या ?

उत्तर :– निश्चयदृष्टिवाले ज्ञानी का व्यवहारप्रतिक्रमण आदि भी बन्ध का कारण है – ऐसा कहकर व्यवहार का आलम्बन छुड़ाया है। जिनेन्द्र का स्मरण, भक्ति, स्वाध्याय, मन्दिर-निर्माण, प्रतिष्ठा कराना, शास्त्र-रचना, व्रत, तप आदि अनेक प्रकार के शुभ आलम्बन में चित्त का भ्रमण होता होने से उनका आलम्बन भी छुड़ाकर शुद्धस्वरूप के स्तम्भ से चित्त को बाँधने का प्रयोजन है – शुद्धस्वरूप के आलम्बन कराने का प्रयोजन है ॥२२॥ – आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २७

(४९८)

प्रश्न :– पंचास्तिकाय की गाथा १७२ में कहा है कि भिन्नसाधन-साध्यरूप व्यवहार को न माने तो मिथ्यादृष्टि है – इसका अर्थ स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :– साधक अवस्था में शुद्धता के अंश के साथ भूमिका प्रमाण शुभराग भी आता है, उसका ज्ञान कराया है तथा उपचार से उस राग को व्यवहार साधन कहा है, किन्तु उस व्यवहार के आश्रय से निश्चय की प्राप्ति होती है – ऐसा उसका आशय नहीं है। चूंकि साधक को दोनों साधन एक साथ वर्तते हैं, अतः उनका ज्ञान कराने के लिए वह कथन है। साधक को ये दोनों एक साथ वर्तते हैं – ऐसा जो न माने तो वह मिथ्या-दृष्टि है – ऐसा समझना। फिर भी रागादि व्यवहार-साधन के अवलम्बन से निश्चय-साधन प्राप्त हो जायेगा – ऐसा समझना भूल है ॥२३॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(४९९)

प्रश्न :– भगवान द्वारा कहे गये व्यवहार का पालन करने पर भी अभव्य को आत्मा का अवलम्बन नहीं होता जबकि तिर्यंच सम्यग्दृष्टि को व्यवहार नहीं है, फिर भी आत्मा का अवलम्बन है – ऐसा क्यों है ?

उत्तर :– हाँ ! यहाँ खूबी तो यह है कि व्यवहार भी जैसा जिनेन्द्र भगवान ने देखा है और उनने कहा है, वैसे व्यवहार का पालन करने पर भी अभव्य आत्मा का आश्रय नहीं लेता, उसको निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रकट नहीं होते। दूसरे के द्वारा कहे गये व्यवहार की बात नहीं, सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गये व्यवहार का भी निश्चय में निषेध होता है ॥२४॥ – आत्मधर्म : अगस्त १९७६, पृष्ठ २१

(५००)

प्रश्न :– निश्चय के द्वारा व्यवहार का निषेध होता है इसलिए निषेध्य है – ऐसा विचार करके व्यवहार को छोड़ दे और निश्चय हो नहीं तो ?

उत्तर :– आत्मा में झुके तब व्यवहार हेय हो जाता है। 'हेय करूँ, हेय करूँ' – ऐसा करता है, यह तो विकल्प है। निश्चय में जाते ही व्यवहार हेय हो जाता है, निषेध सहज होता है ॥२५॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७६, पृष्ठ २१

(५०१)

प्रश्न :– निश्चयनय कितने प्रकार का कहा जाता है ?

उत्तर :– यथार्थ में तो त्रिकाली द्रव्य यही निश्चय है। राग को जब व्यवहार कहना हो, तब निर्मल पर्याय को उससे भिन्न बताना, उसको निश्चय कहा जाता है। कर्म को व्यवहार कहना हो, तब राग को निश्चय कहा जाये। अनुभूति की पर्याय व्यवहार है, तो भी द्रव्य की ओर ढली है; इससे उसको निश्चय कहकर अनुभूति को ही आत्मा कहा है। इसप्रकार अपेक्षा से निश्चयनय के अनेक भेद हो जाते हैं ॥२६॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७६, पृष्ठ २२

(५०२)

प्रश्न :– मुक्ति और संसार में अन्तर नहीं है – ऐसा कौन पुरुष कहते हैं ? और किस नय से कहते हैं ?

उत्तर :– शुद्धनिश्चयनय से मुक्ति और संसार में अन्तर नहीं है। अहा हा ! कहाँ पूर्णानन्द की प्रकटतारूप मुक्तदशा और कहाँ अनन्त दुःखमय संसारपर्याय ! तथापि उस मुक्ति और संसार में कोई अन्तर नहीं है – ऐसा शुद्धतत्त्व के रसिक पुरुष कहते हैं, क्योंकि संसार भी पर्याय है और मुक्ति भी पर्याय है। यह पर्याय आश्रय करने योग्य नहीं है,

इस अपेक्षा से मुक्ति और संसार में अन्तर नहीं है – ऐसा शुद्धतत्त्व के रसिक पुरुष कहते हैं – शुद्धतत्त्व के अनुभवी पुरुष कहते हैं। नियमसार गाथा ५० में कहा है कि शुद्धनिश्चयनय के बल से उदयभाव तो हेय है ही, किन्तु उपशमादि की निर्मल पर्याय भी हेय है। शुद्धनिश्चयनय के बल से चारों भाव-विभावभाव है–हेय हैं– ऐसा कहा ॥२७॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९८०, पृष्ठ २४

(५०३)

प्रश्न :– समयसार की टीका करने से मलिनता नाश होती है क्या ?

उत्तर :– टीका करने के विकल्प से मलिनता नाश नहीं होती। हाँ, टीका के काल में दृष्टि के बल से अन्तर में एकाग्रता बढ़ती जाती है, उससे मलिनता नाश होती है। तब उपचार करके टीका से मलिनता नाश होती है – ऐसा व्यवहार से कहा है ॥२८॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९८०, पृष्ठ २५

(५०४)

प्रश्न :– निश्चयश्रुतकेवली किसे कहते हैं ?

उत्तर :– दर्शन-ज्ञान-चारित्र से आत्मा का अनुभव करता है, वह निश्चयश्रुतकेवली है। जिसमें से केवलज्ञान प्रकट होनेवाला है – ऐसे आत्मा को जिसने स्वानुभव से जाना, वह परमार्थ से श्रुतकेवली है। उसको अल्पकाल में केवलज्ञान अवश्य होनेवाला है, इसलिए उसे परमार्थ श्रुतकेवली कहा है। तथा इस आत्मा को जाननेवाली जो श्रुतज्ञान की पर्याय है, उसमें 'ज्ञान सो आत्मा' ऐसा भेद पड़ता है; अतः उस ज्ञान-पर्याय को व्यवहारश्रुतकेवली कहा। जो ज्ञानपर्याय सर्व को जानती है, वह स्व-पर की ज्ञायक ज्ञानपर्याय सर्वश्रुतज्ञान है – उसको व्यवहार-श्रुतकेवली कहते हैं ॥२९॥ आत्मधर्म : अक्टूबर १९७९, पृष्ठ २३

(५०५)

प्रश्न :– आस्रव व्यवहार से ज्ञेय कब हो ?

उत्तर :– आस्रवभाव अशुचिरूप है और आत्मा पवित्र है। आस्रव का अंश भी स्वभाव को रोकता है, इसलिये वह आत्मा के स्वभाव से विपरीत है। आत्मस्वभाव तो स्व-पर का ज्ञाता है, अतः आत्मा चेतनस्वभाव है और आस्रव स्वयं कुछ नहीं जानते; इसलिये वे जड़स्वभाव हैं। आस्रव तो अन्य के द्वारा ज्ञेय होने योग्य हैं। यहाँ 'आस्रव अन्य के

द्वारा ज्ञेय होने योग्य हैं' – ऐसा कहकर आस्रवों को आत्मा का व्यवहार से ज्ञेयत्व सिद्ध किया है। वे आस्रव वास्तव में व्यवहार से ज्ञेय कब हों? जब आत्मा आस्रवों से भिन्न अपने स्वभाव को जानकर, आस्रवों से विमुख होकर, स्वभाव की तरफ बढ़े; तब उसकी स्व-पर प्रकाशक शक्ति प्रगट हो और तब वह आस्रवों से अपने को भिन्न जाने अर्थात् वे आस्रव परज्ञेय हो जायें, व्यवहार से ज्ञेय हो जायें। 'आस्रव वह मैं हूँ' – ऐसी पर्यायबुद्धि से स्व-परप्रकाशक ज्ञानशक्ति विकसित नहीं होती अर्थात् आस्रव व्यवहार से ज्ञेय नहीं होते। आस्रवों से भिन्न पड़े बिना, आस्रवों को व्यवहार से ज्ञेय करेगा कौन? जिसने परमार्थज्ञेयरूप से आत्मा को लक्ष में लिया है, वही आस्रवों को व्यवहार से ज्ञेयरूप जानता है ॥३०॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १६८३, पृष्ठ २७

—०—

ज्ञानी माने जानकर

(दोहा)

श्रीगुरु परम दयालु हो, दिया सत्य उपदेश।
ज्ञानी माने जानकर, ठानत मूढ़ कलेश ॥

(सवैया)

कोई नर निश्चय से, आत्मा को शुद्ध मान,
हुआ है स्वच्छन्द न पिछाने निज शुद्धता।
कोई व्यवहार दान, तप शीलभाव को ही,
आत्मा का हित मान छोड़े नहीं मूढ़ता।
कोई व्यवहारनय – निश्चयके मारग को,
भिन्न भिन्न जानकर करत निज उद्धता।
जाने जब निश्चय के भेद, व्यवहार सब
कारण को उपचार माने तब बुद्धता ॥

– पण्डितप्रवर टोडरमल : पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, छन्द ६ व ५

(१३)

प्रमाण-नय

(५०६)

प्रश्न :– द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय किसको जानते हैं? उनका स्वरूप क्या है?

उत्तर :– त्रिकाली स्वभाव को देखनेवाली दृष्टि द्रव्यदृष्टि है और वर्तमान पर्याय को देखनेवाली दृष्टि पर्यायदृष्टि है। जो त्रिकाली द्रव्य-स्वभाव को जाने, अपना कहे वह द्रव्यार्थिकनय है। उसमें त्रिकाली स्वभाव को जाननेवाला ज्ञान तो अंतरंगनय (अर्थनय अथवा भावनय) है, और उसको कहनेवाला वचन वहिर्नय (वचनात्मकनय अर्थात् शब्दनय) कहा जाता है। जो ज्ञान वर्तमान पर्याय को जानता है, उस ज्ञान को या उसके कहनेवाले वचन को पर्यायार्थिकनय कहते हैं। उसमें पर्याय को जाननेवाला ज्ञान अंतरंगनय है और उसको कहनेवाला वचन वहिर्नय है।

सिद्धदशा को जाननेवाला ज्ञान पर्यायार्थिकनय है, परन्तु सिद्धदशा प्रगट करने का उपाय पर्याय दृष्टि नहीं है। द्रव्यदृष्टि ही सिद्धदशा प्रगट करने का उपाय है; फिर भी जो सिद्धदशा प्रगट होती है, उसे जाननेवाला तो पर्यायार्थिकनय ही है ॥१॥ – आत्मधर्म : जनवरी १९८२, पृष्ठ २६

(५०७)

प्रश्न :– द्रव्यार्थिकनय द्रव्य को मुख्य करके जानता है; यहाँ द्रव्य का अर्थ क्या है?

उत्तर :– द्रव्य और पर्याय को मिलाकर द्रव्य कहें वह नहीं अर्थात् गुण-पर्याय का पिण्ड वह द्रव्य – यह अपेक्षा यहाँ नहीं है। यहाँ तो वर्तमान अंश को गौण करके त्रिकाल द्रव्य शक्ति, वह द्रव्य है; सामान्य स्वभाव है और वर्तमान अंश विशेष है, पर्याय है। इन दोनों को मिलाकर जो सम्पूर्ण द्रव्य है, वह प्रमाण का विषय है और उसमें से सामान्य स्वभाव द्रव्यार्थिक-

नय का विषय है तथा विशेष पर्यायार्थिकनय का विषय है। द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में पर्याय गौण है अर्थात् इस नय की दृष्टि में सिद्धदशा प्रकट हुई - यह बात नहीं आती; त्रिकालशुद्ध ज्ञानस्वभाव ही द्रव्यदृष्टि का विषय है और उसके ही आश्रय से निर्मल पर्याय प्रकट होती है। द्रव्य का विश्वास करने से ही पर्याय में निर्मल कार्य होता है - ऐसा स्वभाव है।।२।।

– आत्मधर्म : जनवरी १९८२, पृष्ठ २१

(५०८)

प्रश्न :– द्रव्यनय और द्रव्यार्थिकनय के विषय में क्या अन्तर है ?

उत्तर :– द्रव्यनय का विषय तो एक ही धर्म है। समयसारादि में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक – ऐसे दो ही मुख्यनय लिए हैं; उनमें जो द्रव्यार्थिकनय है, उसका विषय अभेद द्रव्य है। द्रव्यनय तो वस्तु में भेद करके उसके एक धर्म को लक्ष्य में लेता है, जबकि द्रव्यार्थिकनय भेद किये बिना वर्तमान पर्याय को गौण करके अभेद द्रव्य को लक्ष्य में लेता है – इसप्रकार इन दोनों के विषय में बहुत अन्तर है। समयसार में कथित शुद्धनिश्चयनय का जो विषय है, वही द्रव्यनय का विषय नहीं है; उस निश्चयनय का विषय तो वर्तमान अंश को तथा भेद को गौण करके सम्पूर्ण अनन्तगुण का पिण्ड है और यह द्रव्यनय तो अनन्त धर्मों में से एक को भेद करके विषय करता है ।।३।। – वीतराग-विज्ञान : अक्टूबर १९८३, पृष्ठ २२

(५०९)

प्रश्न :– श्रुतज्ञान में ही नय क्यों होते हैं, अन्य ज्ञानों में क्यों नहीं होते ?

उत्तर :– मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल – इन पाँच प्रकार के ज्ञानों में अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान तो प्रत्यक्ष है तथा मति-श्रुतज्ञान परोक्ष है। नय परोक्षज्ञान है। प्रत्यक्षज्ञान का अंश तो प्रत्यक्ष ही होता है, अतः उसमें नय नहीं होते। केवलज्ञान पूर्ण स्पष्ट प्रत्यक्ष है तथा अवधि, मनःपर्यय भी अपने-अपने विषय में प्रत्यक्ष हैं; अतः इन तीनों प्रत्यक्ष ज्ञानों में तो परोक्षरूप नय होते नहीं। मतिज्ञान यद्यपि परोक्ष है; परन्तु उसका विषय अल्प है, वह मात्र वर्तमान पदार्थ को ही विषय करता है, सर्वक्षेत्र और सर्वकालवर्त्ती पदार्थों को वह ग्रहण नहीं करता; इसलिए उसमें नय नहीं पड़ते, क्योंकि जो पूरे पदार्थ के ज्ञानपूर्वक उसमें भाग करके जाने, उसे नय कहते हैं।

श्रुतज्ञान अपने विषयभूत समस्त क्षेत्र-कालवर्त्ती पदार्थों को परोक्ष-

रूप से ग्रहण करता है, इसलिए उसमें ही नय पड़ते हैं। श्रुतज्ञान में भी जितना स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो गया है, उतना तो प्रमाण ही है और जितना परोक्षपना रह गया है, उसमें नय पड़ते हैं। श्रुतज्ञान सर्वथा परोक्ष ही नहीं है, स्वसंवेदन में वह आंशिक प्रत्यक्ष भी है। ऐसे स्वसंवेदनपूर्वक ही सच्चे नय होते हैं। श्रुतज्ञान केवलज्ञान की तरह सकलपदार्थों को भले न जाने, किन्तु अपने विषय के योग्य पदार्थों को सकल काल क्षेत्रसहित पूरा ग्रहण करता है और उसमें एकदेशरूप नय होता है ॥४॥

— वीतराग-विज्ञान : नवम्बर १९८३, पृष्ठ २४

(५१०)

प्रश्न :— श्रुतज्ञान त्रिकाली पदार्थ को परोक्ष जानता है, इसलिए उसमें ही नय होते हैं — ऐसा कहा है; क्या इसमें कोई रहस्य भी है?

उत्तर :— हाँ; रहस्य है और सूक्ष्म है। इसमें से ऐसा न्याय निकलता है कि द्रव्यार्थिकनय मुख्य है और पर्यायार्थिकनय गौण है। त्रिकालीपदार्थ का ज्ञान हो, तभी उसके अंश के ज्ञान को पर्यायार्थिक कहा जाता है। जब द्रव्यार्थिकनय से त्रिकाली द्रव्य को जाना, तब उसके पर्यायरूप अंश को जाननेवाले ज्ञान को पर्यायार्थिकनय कहा जाता है। त्रिकाली द्रव्य के सन्मुख होकर उसको जाना, तभी उसके अंश के ज्ञान को व्यवहारनय कहा गया। त्रिकाली के ज्ञान बिना अंश का ज्ञानरूप व्यवहार नहीं होता। इसप्रकार यह बात निश्चित हुई कि निश्चय बिना व्यवहार नहीं और द्रव्य के ज्ञान बिना पर्याय का ज्ञान नहीं। व्यवहारनय तो अंश को जानता है, किन्तु अंश किसका? त्रिकाली पदार्थ का; अतः त्रिकाली पदार्थ के बिना उसके अंश का ज्ञान यथार्थ नहीं होता। श्रुतज्ञान भी त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की तरफ लगे, तो ही उसमें नय होते हैं। त्रिकाली के ज्ञान बिना मात्र पर्याय को अथवा भेद को जाना जाय तो वहाँ पर्यायबुद्धि का एकान्त हो जाता है — मिथ्यात्व हो जाता है, उसमें नय नहीं होते। आत्मा नित्य है, शुद्ध है — ऐसा जाननेवाला नय त्रिकाली पदार्थ के ज्ञान बिना नहीं होता। तथा शुद्धता, नित्यता आदि को जाने बिना अकेली अशुद्धता अथवा अनित्यता को जाना जाय तो भी एकान्त मिथ्यात्व हो जाता है, वहाँ व्यवहारनय भी नहीं होता ॥५॥

— वीतराग-विज्ञान : नवम्बर १९८३, पृष्ठ २५

(५११)

प्रश्न :— मति-श्रुतज्ञानी आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं — ऐसा कहा, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में तो मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है?

उत्तर :– प्रत्यक्ष जानना तो आत्मा का स्वभाव है। अनुभव में सम्यक्त्वी आत्मा को (अनुभव की अपेक्षा से) प्रत्यक्ष जानता है, जानने की अपेक्षा परोक्ष है ॥६॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २८

(५१२)

प्रश्न :– 'प्रमाणज्ञान के लोभ से निश्चय में नहीं आ सकता' इस कथन का क्या आशय है ?

उत्तर :– प्रमाणज्ञान के लोभ से निश्चय में नहीं आ सकता – इस कथन का तात्पर्य यह है कि अज्ञानी पर्याय का और द्रव्य का ज्ञान करने जाता है, वहाँ अनादि के अभ्यास से पर्याय में अहंपने का जोर होने से द्रव्य का ज्ञान सच्चा नहीं होता। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि 'पर्याय है न ! पर्याय है तो सही !' इसप्रकार पर्याय पर जोर देने से द्रव्य पर जोर नहीं दे सकता, इसलिए अन्तर्मुख नहीं हो पाता। पर्याय को नहीं मानूंगा तो एकान्त हो जायगा – ऐसा भय बना रहता है। इसप्रकार प्रमाणज्ञान के लोभ से पर्याय को गौण करके द्रव्यसन्मुख नहीं हो पाता।

द्रव्य पर्याय का दाता नहीं है – ऐसा योगसार में आता है। यह कथन द्रव्यार्थिक नय का है और द्रव्य पर्यायरूप से परिणमित होता है – यह कथन पर्यायार्थिक नय का है। वहाँ भी द्रव्यसामान्य तो सामान्यरूप ही रहा है, परन्तु द्रव्य का एक धर्म विशेषरूप से परिणमित होता है।

समयसार गाथा ५० से ५५ में अनुभूति को आत्मा कहा है। वहाँ जितने विकल्प उठते हैं, उनसे भिन्न और स्व से अभिन्न कहा है इसलिए अनुभूति की निर्मल पर्याय को आत्मा कहा है। परन्तु जब यह बतलाना हो कि वह अनुभूति कैसे प्रगट होती है ? – तब त्रिकाली ध्रुवचैतन्य वह 'स्व' है और उसका आश्रय करनेवाली पर्याय वह 'पर' है, भिन्न है – ऐसा नियमसार की ५०वीं गाथा में कहा है। उस अनुभूति की निर्मल पर्याय ध्रुवद्रव्य का स्पर्श नहीं करती और ध्रुवद्रव्य – अनुभूति का स्पर्श नहीं करता। अहो ! ये तो परम अध्यात्म में भरे हुए गम्भीर सूक्ष्म भाव हैं। जानन क्रिया और त्रिकाली ध्रुवद्रव्य एक-दूसरे का स्पर्श नहीं करते तथापि जानन क्रिया का आधार आत्मद्रव्य है ॥७॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७६, पृष्ठ २७

(५१३)

प्रश्न :– सच्चा और सर्वांगीण होने पर भी प्रमाणज्ञान पूज्य नहीं, और निश्चयनय पूज्य है; इसका क्या कारण है ?

उत्तर :– आत्मा द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप है; इसप्रकार प्रथम ज्ञान में ज्ञात करना चाहिए। भले ही यह भेद-कथन का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। तथापि प्रथम यह जानना वह ज्ञान का अंग है; सम्यक् होने से पहले वह आता है। द्रव्य-गुण-पर्याय सहितवाला द्रव्य – सम्पूर्ण वस्तु – प्रमाणज्ञान का विषय है; प्रथम ज्ञान में उसको जानना चाहिए। प्रमाणज्ञान में द्रव्य-पर्याय दोनों आते हैं; अतः वह व्यवहारनय का विषय होने से पूज्य नहीं है। निश्चयनय का विषय एक त्रिकाली शुद्धात्मा है; इसलिए निश्चयनय को पूज्य कहा है। द्रव्य-गुण-पर्याय में वस्तु व्याप्त होने पर भी शुद्धनय एकरूप शुद्धात्मा को ही बतलाता है। वह कहता है कि एक प्रत्यक्ष प्रतिभासरूप सकल निरावरण नित्य निरञ्जन निज शुद्धात्मद्रव्य ही मैं हूँ। द्रव्य-गुण-पर्यायमय वस्तु होने पर भी आश्रय करने के लिए तो मात्र शुद्धात्मा ही एक है – ऐसा शुद्धनय द्वारा ही निर्णय होता है ॥८॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७९, पृष्ठ २३

(५१४)

प्रश्न :– प्रमाण ध्रुवद्रव्य से बड़ा है या छोटा ?

उत्तर :– प्रमाण में व्यवहार का निषेध न होने से वह पूज्य नहीं। ध्रुव आश्रय योग्य होने से पूज्य है, अतः बड़ा है। मात्र त्रिकालीभगवान (ध्रुव) दृष्टि का विषय होने से पूज्य व बड़ा है ॥९॥

– आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २३

(५१५)

प्रश्न :– स्व-पर प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा है, वह किसप्रकार ? छद्मस्थ के तो कहीं स्व-पर का एक साथ उपयोग होता नहीं ?

उत्तर :– प्रमाण को स्व-पर प्रकाशक कहा है, वहाँ स्व और पर दोनों में एक साथ उपयोग होने की बात नहीं है, किन्तु जिस ज्ञान ने स्व को स्व-रूप से और पर को पर-रूप से जाना है, वह सम्यग्ज्ञान प्रमाण है; इसप्रकार उसका स्व-पर प्रकाशकपना समझना। अवधि-मनःपर्यय का उपयोग तो पर में ही होता है, तथापि वे भी स्व को स्वपने और पर को परपने जानते हैं, इसलिए प्रमाण हैं। छद्मस्थ का उपयोग तो जब स्व में होता है तब पर में नहीं होता और पर में हो तब स्व में नहीं होता, तथापि प्रमाणरूप सम्यग्ज्ञान तो ज्ञानी के सदैव वर्तता है। पर को जानते समय भी 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा आत्मभान मिटता नहीं और यहीं ज्ञान की प्रमाणता है ॥१०॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(५१६)

प्रश्न :– नयों को इन्द्रजाल क्यों कहा है ?

उत्तर :– नयों में अनेक प्रकार की अपेक्षाएँ आती हैं, उनके द्वारा वस्तु में विद्यमान कथंचित् परस्पर विरुद्ध धर्म बताये जाते हैं। जो स्याद्वाद से उनका सच्चा स्वरूप नहीं समझता, उसे इन्द्रजाल जैसी उलझन लगती है। जैसे - एक नय द्रव्य को नित्य कहता है, दूसरा नय उसे अनित्य कहता है; एक नय द्रव्य को एकरूप कहता है, दूसरा नय अनेकरूप कहता है; एक नय द्रव्य को सत्‌रूप कहता है, दूसरा नय असत्‌रूप कहता है; एक नय क्रिया से मुक्ति कहता है, दूसरा नय ज्ञान से मुक्ति कहता है; एक नय कर्म-नोकर्म को व्यवहार कहकर राग को निश्चय कहता है और एक नय उसी राग को व्यवहार कहकर निर्मल पर्याय को निश्चय कहता है तथा एक नय निर्मल पर्याय को व्यवहार कहकर त्रिकाली ध्रुवद्रव्य को निश्चय कहता है। इसप्रकार नय वस्तु के अनेक धर्मों को अनेक अपेक्षाओं से बतलाते हैं। इन्हें जो यथार्थ न समझे उसे इन्द्रजाल जैसी उलझन मालूम होती है। वास्तव में तो नय वस्तु के स्वरूप का अनेकान्तपना बतलाकर सम्यक्-एकान्त ऐसे त्रिकाली ध्रुव सामान्यद्रव्य का आश्रय कराते हैं और यही नयों को जानने का मूल प्रयोजन है ॥११॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७६, पृष्ठ २४

(५१७)

प्रश्न :– इतने सब नयों से आत्मा को जानने का क्या काम है ? मात्र 'आत्मा है' – ऐसा जान लेने से काम नहीं चल सकता क्या ?

उत्तर :– भाई ! 'आत्मा है' – ऐसा तो लगभग सभी कहते हैं, परन्तु आत्मा में जैसे अनन्त धर्म हैं, वैसे ही धर्मों से उसे पहचाने, तो ही आत्मा को जाना कहा जाय। 'आत्मा है' – ऐसा कहे, किन्तु उसके अनन्त धर्म जिस रीति से हैं. उस रीति से न जाने तो उसने आत्मा को जान लिया – ऐसा नहीं कह सकते ॥१२॥

– वीतराग-विज्ञान : अक्टूबर १९८३, पृष्ठ २२

(५१८)

प्रश्न :– प्रवचनसार में विकार को शुद्धनय से जीव का कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :– विकार को जीव ने स्वयं किया है, वह निज अपराध का

ही कार्य है, वह विकार कर्म से पुद्गल से उत्पन्न नहीं हुआ है – ऐसा बतलाने के लिए विकार को शुद्धनय से जीव का कहा है ॥१३॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७८, पृष्ठ २५

(५१९)

प्रश्न :– दशवीं विकल्पनय में आत्मद्रव्य को बालक, कुमार और वृद्ध जैसे एक पुरुष की तरह सविकल्प कहा है। वहाँ विकल्प का अर्थ क्या समझना चाहिये ?

उत्तर :– वहाँ विकल्प का अर्थ भेद है, अन्य नहीं। जैसे एक पुरुष में बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे भेद पड़ते हैं; वैसे ही भेदनय से आत्मा गुण-पर्याय के भेदवाला है। वस्तु में अनन्तगुण हैं, उनमें परस्पर कथंचित् और क्रमसर होनेवाली उनकी पर्यायों में भी परस्पर भेद है। वस्तु में दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि जो भेद हैं, उन्हें विकल्प कहा है। एक आत्मा ही एकसमय में भेदवाला है और वह उसका एक धर्म है ॥१४॥

– वीतराग-विज्ञान : सितम्बर १९८३, पृष्ठ २१

(५२०)

प्रश्न :– जिसप्रकार अस्तित्वधर्म वस्तु का अपना है, उसीप्रकार नास्तित्वधर्म भी क्या वस्तु का अपना ही है ?

उत्तर : – जो आत्मद्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व-वाला है, वही आत्मद्रव्य पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला है। पर से न होनापना भी वस्तु का ही एक अंश है। वस्तु में जहाँ भाव-अंश है, वहाँ ही अभाव-अंश भी है; जहाँ स्व से अस्तित्वरूप धर्म है, वहीं पर से नास्तित्वरूप धर्म भी साथ ही है; एक ही अंशी के दो अंश हैं। नास्तित्वधर्म भी अपना ही अंश है। नास्तित्वधर्म स्वयं कहीं वस्तु में अभावरूप नहीं है, किन्तु सत् है। इस धर्म में 'पररूप से नहीं' ऐसी पर की अपेक्षा भले ही आवे, किन्तु वह नास्तित्वधर्म कहीं पर के आधार से अथवा पर का नहीं है, वह धर्म तो वस्तु का अपना ही है। वह भी स्वज्ञेय का अंश है, यदि उसे न माना जावे तो सम्पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति नहीं हो सकती ॥१५॥ – वीतराग-विज्ञान : सितम्बर १९८३, पृष्ठ २१

(५२१)

प्रश्न :– नयविवक्षा में बारहवें गुणस्थान तक अशुद्धनिश्चयनय होता है; वहाँ अशुद्धनिश्चय में शुद्धोपयोग कैसे घटता है ?

उत्तर :– वस्तु का एकदेश की अपेक्षा कथन करना नय का लक्षण

है और शुभ, अशुभ तथा शुद्ध द्रव्य का अवलम्बन करना उपयोग का लक्षण है; इसलिये अशुद्धनिश्चयनय में भी शुद्धात्मद्रव्य का अवलम्बन होने से, शुद्ध ध्येय होने से, तथा शुद्ध साधक होने से शुद्धोपयोग परिणाम घटता है।

अशुद्धनय भले ही बारहवें गुणस्थान तक हो, परन्तु साधक जीव के उपयोग का अवलम्बन त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकभाव है, उसका ध्येय शुद्ध है, अतः उसके भी पर्याय में शुद्धोपयोग होता है ॥१६॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९७६, पृष्ठ २४

(५२२)

प्रश्न :– यदि शब्द का पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तो वह शब्द पदार्थ का वाचक कैसे हो सकता है ?

उत्तर :– 'प्रमाण अर्थात् ज्ञान का ज्ञेयपदार्थों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तो भी वह ज्ञान पदार्थों को किसप्रकार जानता है ?' – यह बात भी उपर्युक्त शंका जैसी ही है। अर्थात् जिसप्रकार ज्ञान और ज्ञेयपदार्थों का कोई सम्बन्ध नहीं है तथापि ज्ञान ज्ञेयपदार्थों को जान लेता है, उसी-प्रकार शब्द का पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तो भी शब्द पदार्थ का वाचक है – इसमें क्या आपत्ति है ? ॥१७॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९८१, पृष्ठ २६

(५२३)

प्रश्न :– ज्ञान और ज्ञेयपदार्थों को तो जन्य-जनक लक्षणवाला सम्बन्ध है ?

उत्तर :– ऐसा नहीं है, क्योंकि वस्तु की शक्ति की अन्य पदार्थ द्वारा उत्पत्ति मानने में विरोध आता है अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उस वस्तु को उसीरूप से जानने की शक्ति को प्रमाण कहते हैं। जानने की यह शक्ति पदार्थों द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। यहाँ इस विषय में श्री जयधवल भाग १, पृष्ठ २३८ का एक श्लोक उद्धृत किया जाता है :–

"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमितिगृह्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येन पार्यते ॥

सर्व प्रमाणों में स्वतः प्रमाणता स्वीकार करना चाहिए (अर्थात् प्रत्येक ज्ञान अपने से ही होता है – ऐसा स्वीकार करना चाहिए), क्योंकि

जो शक्ति पदार्थ में स्वतः विद्यमान न हो वह शक्ति अन्य पदार्थों द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती।" इसी श्लोक का उत्तरार्ध समयसार की गाथा ११६ से १२० के मध्य श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी लिखा है कि :–

स्वयं परिणाममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत। न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते। अर्थात् स्वयं परिणमन करने वाले को अन्य परिणमन कराने वाले की अपेक्षा नहीं होती, कारण की वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं" ॥१८॥

– आत्मधर्म : दिसम्वर १९८१, पृष्ठ २६

(५२४)

प्रश्न :– शुद्धनय के पक्ष का अर्थ क्या है ?

उत्तर :– शुद्धनय का पंक्ष अर्थात शुद्धात्मा की रुचि हो जाना। यद्यपि अभी अनुभव नहीं हुआ है तथापि रुचि ऐसी हुई है कि वह अनुभव करे ही करे। किसी जीव को रुचि तो न हो परंतु वह मान ले कि मुझे रुचि हो गई है तो उसके अनुभव का कोई नियम नहीं है केवलीभगवान सम्यक्त्व-सन्मुख जीव को वास्तव में जानते हैं कि इस जीव की रुचि ऐसी है कि वह अनुभव करेगा ही। ऐसी रुचिवाले जीव को वीर्य में ज्ञायक का जोर उछाले मारता है ॥१९॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९८१, पृष्ठ २

(५२५)

प्रश्न :– क्रियानय और ज्ञाननय की मैत्री का क्या अर्थ है ?

उत्तर :– पंडित जयचन्दजी ने ऐसा कहा है कि साधक जीव के शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही एक साथ रहती हैं – इसका नाम मैत्री है; जबकि पं० राजमल्लजी ने कलशटीका में ऐसा कहा है कि – अशुद्धता की निवृत्ति वह मैत्री है – अशुद्धि रहे वह मैत्री नहीं, अर्थात् शुद्धता हुई वह द्रव्य के साथ मैत्री है ॥२०॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(५२६)

प्रश्न :– समयसार और नियमसार आदि में ऐसा कहा है कि भगवान शुद्धात्मा में कोई औदयिक भाव है ही नहीं, जवकि तत्त्वार्थसूत्र में उसे (औदयिक भाव को) आत्मा का स्वतत्त्व कहा है – इन दोनों की अपेक्षा समझाइये ?

उत्तर :– समयसारादि में द्रव्यदृष्टि का वर्णन है, दृष्टि के विषय

में पर्याय गौण हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण के विषय का वर्णन है। औदयिकभावरूप से भी आत्मा स्वयं परिणमता है, आत्मा की ही वह पर्याय है; इसलिये उसे स्वतत्त्व कहा है। वह औदयिकभाव आत्मा के स्वकाल से अस्तिरूप है और कर्म से नास्तिरूप है, अर्थात् कर्मोदय के कारण वह उदयभाव हुआ – ऐसा वास्तव में नहीं है। पर से तो आत्मा का नास्तित्व है अर्थात् आत्मा और पर के बीच नास्तित्वरूपी महान दुर्ग खड़ा है, इसलिये परद्रव्य आत्मा का कुछ कर सके – ऐसा नहीं बन सकता ॥२१॥ – वीतराग-विज्ञान : सितम्बर १९८३, पृष्ठ २२

(५२७)

प्रश्न : – पुरुष प्रमाण है कि वचन प्रमाण है ?

उत्तर :– पुरुष की प्रमाणता से वचन की प्रमाणता है। पूर्ण पुरुष को पहिचानने के बाद उसके वचनों को प्रमाण जानकर, उसमें कहे गये वस्तुस्वरूप को धर्मीजीव समझ जाता है। यदि पुरुष की प्रमाणता न हो, तो वाणी भी प्रमाणरूप नहीं होती और जिसको निमित्तरूप में प्रमाणभूत वाणी नहीं, उसको अपने नैमित्तिकभाव में भी ज्ञान की प्रमाणता नहीं। प्रमाणज्ञान में प्रमाणरूप वाणी ही निमित्त होती है अर्थात् सत् समझने में ज्ञानी की ही वाणी निमित्त होती है, अज्ञानी की नहीं। सर्वज्ञ पुरुष को पहचाने विना उसके वचन की प्रमाणता समझ में नहीं आती और उसके बिना आत्मा की समझ नहीं होती। इसलिए सबसे पहले सर्वज्ञ व सर्वज्ञता का निर्णय अवश्य करना चाहिये ॥२२॥

– वीतराग-विज्ञान : नवम्बर १९८३, पृष्ठ २३

—०—

नयकौ न लेख

जैसैं रवि-मंडल के उदै महि-मंडल मैं,
आतप अटल तम पटल विलातु है।
तैसैं परमातमाकौ अनुभौ रहत जौलौं,
तौलौं कहूं दुविधा न कहूं पच्छपातु है॥
नयकौ न लेस परवानकौं न परवेस,
निच्छेपके वंसकौ विधुंस होत जातु है।
जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहाँ बाधक हैं,
बाकी राग दोष की दसा की कौन वातु है॥

– कविवर बनारसीदास : समयसार नाटक, छन्द १०

१४

कर्त्ता-कर्म

(५२८)

प्रश्न :– हम प्रातः से सायं तक सारे दिन पर का कार्य करते हैं, और 'नहीं करना' ऐसा आप कहते हो – ऐसा क्यों ?

उत्तर :– पर का न करना – ऐसा नहीं, परन्तु पर का कार्य कर सकते ही नहीं। न करने में तो– 'पर का कर सकते हैं, किन्तु करेंगे नहीं' – ऐसा अर्थ निकलता है; परन्तु यहाँ तो आत्मा शरीरादि परद्रव्य का कार्य किंचित्मात्र भी कर सकता ही नहीं, पर के करने की आत्मा में शक्ति ही नहीं – ऐसा कहने का आशय है।

'मैं सारे दिन पर का कार्य करता हूँ' – ऐसा मानना ही मिथ्यात्व का बड़ा पाप है। एक वस्तु अन्य वस्तु के बाहर ही लोटती है, और अन्य वस्तु से बाहर लोटती वस्तु अन्य का क्या करे ? पानी से बाहर लोटती अग्नि पानी को स्पर्शे बिना गर्म किसप्रकार कर सकती है ?

शाक से बाहर लोटता चाकूशाक के खण्ड कैसे कर सकता है ? शाक के टुकड़े की पर्याय वस्तु से स्वयं से ही स्वयं होती है, उससे बाहर लोटती वस्तु उसे छूती ही नहीं, तो उसका क्या करे ? समयसार गाथा ३ में कहा कि प्रत्येक वस्तु अपने गुण-पर्याय को स्पर्शती है – चुम्बती है, किन्तु अन्य वस्तु को स्पर्श ही नहीं करती, तो उसका करे ही क्या ? मात्र कर्त्तापने का अभिमान अज्ञानी करता है। प्रत्येक वस्तु स्वयं अपने से ही स्वतन्त्रतया परिणमन करती है – ऐसा सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में ढिंढोरा पीटा गया है; तथापि किसी एक द्रव्य को मैं पलट सकता हूँ, उसका कुछ कर सकता हूँ – ऐसी मान्यता में अनन्ते पदार्थों को भी मैं पलट सकता हूँ – ऐसी अनन्त कर्त्तृत्वबुद्धि होने से वह मोटा मिथ्यात्व है ॥१॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २५

(५२९)

प्रश्न :– यदि एक दूसरे की सेवा आदि परमार्थ का काम करें तो कुछ किया कहा जाय ? मात्र अपना-अपना ही करते रहें और दूसरे का कुछ भी न करें तो इसमें क्या ? अपना पेट तो श्वान भी भर लेता है।

उत्तर :– पर का कुछ करना परमार्थ है – यह बात ही खोटी है। लोगों को महान भ्रम घर कर गया है कि पर का काम करना, वह परमार्थ है। परमार्थ की ऐसी व्याख्या है ही नहीं। परमार्थ अर्थात् परम पदार्थ, (परम+अर्थ) परम पदार्थ या उत्कृष्ट पदार्थ ही परमार्थ है और वह अपना आत्मा ही है; अतः वही सच्चा परमार्थ है। अथवा परम पदार्थ अर्थात् मोक्ष, उसका उपाय करना अर्थात् आत्मा की सच्ची समझ करना, वह परमार्थ है। मैं पर की सेवा कर सकता हूँ – ऐसा मानना वह परमार्थ नहीं हैं, बल्कि इस मान्यता में तो परमार्थ का हनन होता है, क्योंकि आत्मा पर का कार्य कर ही नहीं सकता ॥२॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९८२, पृष्ठ २०

(५३०)

प्रश्न :– इस धर्म से तो समाज का कोई लाभ होनेवाला है नहीं ?

उत्तर :– वस्तु का सत्य स्वरूप तो इसीप्रकार है। अरे ! समाज के जीवों को सत्य से लाभ होगा या असत्य से ? सभी को लाभ सत्य से ही होगा। जिस सत्य से एक को लाभ होगा, उसी से अनन्त को भी लाभ होगा। ससार के जीव सत्य स्वरूप की नासमझी से ही दुःखी हैं, यदि समझ लें तो दुःख टले और सुख प्रगट हो। सत्य समझे बिना किसी को लाभ नहीं होता और सत्य से किसी को कभी हानि नहीं होती। जो भी हानि इस जीव को हुई है और होती है, वह अपने असत्य भाव (मिथ्या समझ) से ही है। सत्य समझने में तो लाभ का ही धंधा है, उसमें हानि तो है ही नहीं ॥३॥ – आत्मधर्म : नवम्बर १९८२, पृष्ठ २०

(५३१)

प्रश्न :– जीव निश्चय से तो पर का कुछ नहीं करता, किन्तु व्यवहार से करता है – यह अनेकान्त तो मानना चाहिये ?

उत्तर :– यह मान्यता खोटी है। ऐसा माननेवाले को निश्चय और व्यवहार का ज्ञान ही नहीं है। निश्चय से अथवा व्यवहार से किसी भी नय से – आत्मा पर का कुछ भी नहीं कर सकता। पर की क्रिया स्वतन्त्रपने होती है – इसका ज्ञान करना और उससमय के निमित्त का ज्ञान कराने के लिए 'इसने यह किया' – ऐसा उपचार से मात्र कहना

व्यवहार है। जीव व्यवहार से पर का कर सकता है – ऐसा मानना व्यवहारनय नहीं है, मिथ्यात्व है ॥४॥

– वीतराग-विज्ञान : दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २८

(५३२)

प्रश्न :– परजीवों का जीवन-मरण उनके अपने कारण से होता है, मैं उनका कुछ नहीं कर सकता, मैं तो मात्र जाननेवाला हूँ – ऐसी श्रद्धा रखने से तो जीव के परिणाम निष्ठुर हो जायेंगे ?

उत्तर :– भाई ! वस्तु-स्वभाव के अनुसार श्रद्धा करने का फल तो वीतरागता है। चैतन्यस्वभाव की श्रद्धापूर्वक जो दयादि के परिणाम छोड़कर मात्र ज्ञाता रहेगा तो वीतराग हो जायेगा, फिर अज्ञानी भले ही उसे निष्ठुर कहे। संसार में भी युवा पुत्र मर जाने पर पिता उसके साथ मर नहीं जाता, तो उसे भी निष्ठुर क्यों नही कहते ? यह निष्ठुरता नहीं है, यह तो उसप्रकार का विवेक है।

जगत के जीव भी विकार के लक्ष से निष्ठुर हो जाते हैं। घर में बीस वर्ष की युवा बहू विधवा हो जाय और साठ वर्ष का श्वसुर विषयों में लीन हो रहा हो; देखो तो नहीं ! उसके परिणाम कितने निष्ठुर हैं। अज्ञानी कषाय के लक्ष से निष्ठुर होते हैं, जबकि ज्ञानी जीवअपने चैतन्यस्वभाव के लक्ष से अपने में एकाग्र होकर विकारीभावों से रहित होकर सिद्ध हो जाते हैं और वीतरागी कहे जाते हैं। जो जीव विकारीभाव करते हैं; वे पर के लिए नहीं करते, किन्तु स्वयं में उस जाति की कषाय होने से वह विकार होता है और जो उसे करने योग्य मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी जीव अपना वीतरागस्वभाव साधने के लिए पर की चिन्ता नहीं करते। यह निष्ठुरता नहीं है, यह तो स्वभावदशा है – वीतरागदशा है ॥५॥

– वीतराग-विज्ञान : दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २६

(५३३)

प्रश्न – यदि वाणी का कर्त्ता आत्मा नहीं है तो 'मुनि को सत्य वचन बोलना चाहिए' – ऐसा क्यों कहा जाता है ?

उत्तर :– सम्यग्ज्ञानपूर्वक सत्य बोलने का भाव हो तब जो वाणी निकलती है, वह सत्य ही होती है – ऐसा सुमेल बतलाने के लिए निमित्त से कहते हैं कि मुनि को सत्य बोलना चाहिए, उसमें ऐसा आशय है कि मुनिराज को आत्मस्वरूप में स्थिर रहकर वाणी की तरफ विकल्प ही नहीं होने देना चाहिए और यदि हो तो असत्य वचन की तरफ का अशुभ-

राग तो नहीं ही होने देना चाहिए। इसका आशय ऐसा कदापि नहीं है कि आत्मा जड़ वाणी का कर्त्ता है ॥६॥

– वीतराग-विज्ञान : दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २८

(५३४)

प्रश्न :– यदि मुनियों के वाणी का कर्त्तृत्व नहीं है, तो वे उपदेश क्यों देते हैं ?

उत्तर :– अरे भाई ! मुनिराज उपदेश देते ही नहीं, वे तो उपदेश को जानते हैं। भगवान कहते हैं, जिनवर कहते हैं – ऐसा शास्त्र में कथन आता है। किन्तु भगवान कहते ही नहीं, भगवान तो वाणी को जानते ही हैं, वास्तव में तो 'स्व' को ही जानते हैं। स्व-पर जानना सहज है, पर की अपेक्षा ही नहीं, जानने का स्वभाव ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं अपने निज-वैभव से कहूँगा। तुम प्रमाण करना। अरे भगवान ! वाणी तुम्हारी तो नहीं है न ? वाणी से ज्ञान भी नहीं होता। भाई ! आ हा हा ! गजब बात है, अद्भुत बात है, वस्तु का स्वरूप ही अद्भुत है। निमित्त-नैमित्तिक के कथन एक सर्वज्ञ के मार्ग में ही हैं, अन्यत्र नहीं ॥७॥ – आत्मधर्म : नवम्बर १९८१, पृष्ठ २९

(५३५)

प्रश्न :– आप कहते हैं कि शरीर की पर्याय जिसकाल में जो होनी होगी वह होगी, उसमें वैद्य भी क्या करे ? यदि वैद्य रोग मिटा नहीं सकता तो उसे धन्धा छोड़ देना चाहिए।

उत्तर :– दृष्टि अन्तर्मुख रखनी चाहिए। राग आवे, लोभ आवे, किन्तु वजन उसके ऊपर नहीं जाना चाहिए। वजन तो अन्दर का ही चाहिए ॥८॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २६

(५३६)

प्रश्न :– दृष्टि इस तरफ रखकर धन्धा करें न ?

उत्तर :– धन्धा करे क्या ? करना – ऐसा नहीं; राग और लोभ का भाव आवे उसे मात्र जानना ॥९॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २६

(५३७)

प्रश्न :– मानना कुछ और करना कुछ ?

उत्तर :– होना होता है, वही होता है – ऐसा मानना ॥१०॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २६

(५३८)

प्रश्न :– एक परमाणु दूसरे परमाणु को छूता नहीं, तो दूध की

कड़ाही में एक बूंद विष मिला देने पर सारा दूध विषरूप हो जाता है — उसका कारण क्या ?

उत्तर :— प्रत्येक परमाणु अपना कारण-कार्य है। दूध के परमाणु विषरूप स्वयं से परिणमित हुए हैं; विष के रजकण से नहीं। आ हा हा ! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं — यह बात वीतराग की माने कौन ? ॥११॥ — आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ १९

(५३९)

प्रश्न :— क्या जीव का अजीव के साथ कारणकार्यभाव सिद्ध नहीं होता ?

उत्तर :— नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य का परिणाम अपने से होता है, उसे दूसरा द्रव्य नहीं कर सकता। जीव अपने परिणाम से उत्पन्न होता है, उसे अजीव के साथ कारणकार्य भाव सिद्ध नहीं होता। होंठ चलते हैं, वाणी निकलती है, उनका कर्त्ता जीव है — ऐसा सिद्ध नहीं होता। दाल, भात, शाक होता है — उसे जीव नहीं कर सकता। रोटी का टुकड़ा होता है, उसे जीव नहीं कर सकता। शरीर के अवयवों का हलन-चलन होता है, उसका कर्त्ता जीव है — ऐसा सिद्ध नहीं होता। हाँ, उन अजीव के सभी कार्यों का कर्त्ता पुद्‌गल द्रव्य है — ऐसा सिद्ध होता है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है भाई ! वीतरागकथित वस्तु को समझे तो संसार से पार हो जाय — ऐसी बात है ॥१२॥ — आत्मधर्म : अक्टूबर १९८०, पृष्ठ २४

(५४०)

प्रश्न :— एक जीव दूसरे जीव को दुःखी नहीं कर सकता — यह ठीक है, परन्तु असाताकर्म का उदय तो दुःख का कारण है न ?

उत्तर :— ऐसा भी नहीं है। असाता का उदय तो बाह्य प्रतिकूल संयोग का सम्पादन करता है और उस संयोग के काल में दुःख की कल्पना तो जीव स्वयं मोहभाव से करे तो ही उसे दुःख होता है; अतः असाता-कर्म के उदय से दुःख नहीं होता, किन्तु मोहभाव से ही होता है। असाता के उदय के समय भी यदि स्वयं मोह से दुःख की कल्पना न करे और आत्मा को पहचानकर उसके अनुभव में रहे तो दुःख नहीं होता। बाह्य संयोगों को बदला नहीं जा सकता, परन्तु संयोग की ओर से दृष्टि हटाकर वेदन को बदला जा सकता है ॥१३॥

— आत्मधर्म : नवम्बर १९८२, पृष्ठ २०

(५४१)

प्रश्न :– पर से अपना कार्य नहीं होता – ऐसा निर्णय करने से क्या लाभ ?

उत्तर :– पर से अपना कार्य होता ही नहीं, ऐसा निर्णय करते ही परावलम्बी श्रद्धा तो छुट ही जाती है, इतना तो लाभ है ही; तत्पश्चात् स्व-तरफ बढ़ना रह जाता है, तथा स्व के आश्रय का पुरुषार्थ करते ही सम्यग्दर्शन हो जाता है ॥१४॥ – आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २३

(५४२)

प्रश्न :– राग को जीव करता है, कर्म करता है, और जीव तथा कर्म इकट्ठे मिलकर करते हैं, ऐसा कहने में आता है – तो इन तीनों में सही क्या समझना चाहिए ?

उत्तर :– 'राग' यह जीव के अपराध से होता है, इसलिए जीव राग का कर्त्ता है। लेकिन जीवस्वभाव में विकार होने का कोई गुण नहीं, इसलिए द्रव्य दृष्टि कराने के लिए राग का कर्त्ता कर्म है, कर्म व्यापक होकर राग को करता है, ऐसा कहने में आता है और प्रमाण का ज्ञान कराना हो तो जीव और कर्म दोनों इकट्ठे मिलकर राग को करते हैं, ऐसा कहने में आता हैं। जैसे 'पुत्र' माता और पिता दोनों का कहा जाता है।

भगवान आत्मा ज्ञायक ज्योति है, वह विकार का कर्त्ता नहीं। विकार का कर्त्ता मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये चार प्रकार के कर्म और उनके १३ प्रकार के प्रत्यय हैं। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, वह विकार का कर्त्ता नहीं ॥१५॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २२

(५४३)

प्रश्न :– कर्त्ता-कर्म अधिकार में विकार को पुद्गल के साथ व्याप्य-व्यापक कहा है ?

उत्तर :– स्वभाव दृष्टि से देखें तो विकार का कारण स्वभाव है ही नहीं। इससे विकार का निमित्त जो कर्म है, उसके साथ विकार को व्याप्य-व्यापक कहने में आता है ॥१६॥

आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २३

(५४४)

प्रश्न :– ज्ञानी, शुद्ध द्रव्य-गुण और शुद्ध पर्याय इतना ही आत्मा मानता है क्या ?

उत्तर :– ज्ञानी श्रद्धा की अपेक्षा ऐसा मानता है। ज्ञान की अपेक्षा से देखने पर राग का कर्त्तारूप परिणमित होनेवाला जीव स्वयं है, ऐसा ज्ञानी जानता है।

स्फटिकमणि में जो लाल-पीली आदि परछाई पड़ती है, वह उसकी योग्यता से होती है; तो भी स्फटिक मणि के मूल स्वभाव से देखें तो यह रंग उपाधिरूप है, मूल स्वभाव नहीं। उसीप्रकार जीव में पर्यायदृष्टि से देखें तो विकार उसके पर्याय की योग्यतारूप धर्म है, लेकिन द्रव्यार्थिकनय से देखें तो, वह विकार उसका मूल स्वभाव नहीं ॥१७॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २३

(५४५)

प्रश्न :– द्रव्य शुद्ध है, गुण शुद्ध है और पर्याय में अशुद्धता है; वह कर्म के कारण नहीं होती, तब अशुद्धता कहाँ से आई ?

उत्तर :– द्रव्य-गुण त्रिकाल शुद्ध ही है और पर्याय में विकार होता है, वह पर्याय की उससमय की योग्यता से क्षणिक विकार होता है, कर्म से विकार नहीं होता। कर्म के निमित्त का लक्ष्य करके उससमय की योग्यता से ही विकार होता है। पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में विकार को परकारक की अपेक्षा ही नहीं है, ऐसा कहा है; क्योंकि विकार भी उससमय का स्वतन्त्र परिणमन है ॥१८॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ २६

(५४६)

प्रश्न :– गोम्मटसार में कर्म के उदय से विकार होता है, ऐसा कहा है न ?

उत्तर :– विकारी अवस्था होती है, वह पर्याय की योग्यता के स्वकाल से होती है, कर्म के उदय से नहीं होती। लेकिन निमित्त के अधीन होकर विकार होता है, इसकारण वहाँ निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कर्म के उदय से होता है – ऐसा कहा है। समयसार में भी विकार का कर्त्ता पुद्गलकर्म को कहा है। वहाँ दृष्टि का द्रव्य पर जोर वर्तता [रहता] है; यह बताने के लिए विकाररूप आत्मा नहीं होती, ऐसा बताकर, जो अल्प-विकार है, उसका कर्त्ता पुद्गलकर्म है – ऐसा कहने में आता है। प्रवचन-सार में विकार का कर्त्ता जीव है; ऐसा कहा है। वहाँ यह विकारी परिणमन कर्म का नहीं; किन्तु जीव का ही है – ऐसा बताया है। जहाँ

जिस अपेक्षा से कहा हो, वहाँ वह अपेक्षा बराबर समझना चाहिए, तब ही वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा समझने में आ सकता है।

राग से भिन्न होकर शुद्ध आत्मा का ज्ञान करना सम्यग्दर्शन है। पूजा, भक्ति, यात्रा आदि तो अनन्तबार कीं, लेकिन आत्मा के सम्यग्ज्ञान बिना भव का अन्त नहीं आया ॥१९॥

— आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ २६

(५४७)

प्रश्न :—यदि कर्म आत्मा को विकार नहीं कराता है, तो आत्मा में होनेवाले विकार का कारण कौन है ? सम्यग्दृष्टि जीव को तो विकार करने की भावना होती नहीं, तथापि उनको भी विकार तो होता है, देखने में आता है – ऐसी स्थिति में कर्म विकार कराता है, यह मानना पड़ेगा कि नहीं ?

उत्तर :— नहीं, यह मान्यता खोटी है। आत्मा को अपनी पर्याय के दोष से ही विकार होता है, कर्म विकार नहीं कराता, किन्तु उससमय पर्याय की वैसी ही योग्यता है। सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष करने की भावना नहीं है, तथापि राग-द्वेष होता है, उसका कारण चारित्रगुण की पर्याय की वैसी योग्यता है। राग-द्वेष की भावना नहीं है – यह तो श्रद्धागुण की पर्याय है और राग-द्वेष होता है – यह चारित्रगुण की पर्याय है। पुरुषार्थ की निर्बलता से राग-द्वेष होता है – ऐसा कहना वह भी निमित्त का कथन है। सचमुच तो चारित्रगुण की ही उससमय की योग्यता के कारण ही राग-द्वेष होता है ॥२०॥

— आत्मधर्म : दिसम्बर १९८१, पृष्ठ २६

(५४८)

प्रश्न :— विकार जब चारित्रगुण की पर्याय की योग्यता से ही होता है, तो फिर जबतक उसमें विकार होने की योग्यता रहेगी तबतक विकार होता ही रहेगा – ऐसी दशा में विकार टालना जीव के अधीन नहीं रहा ?

उत्तर :—एक-एक समय की स्वतन्त्र योग्यता है – ऐसा निर्णय किस ज्ञान ने किया ? त्रिकाली स्वभाव में ढले बिना ज्ञान में प्रतिसमय की पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय नहीं हो सकता। जब ज्ञान त्रिकाली स्वभाव का लक्ष्य करके उस ओर झुका, तभी स्वभाव की प्रतीति के बल से पर्याय में से राग-द्वेष होने की योग्यता प्रतिक्षण घटती ही जाती है।

जिसने स्वभाव का निर्णय किया, उसकी पर्याय में लम्बे समय तक राग-द्वेष बने रहने की योग्यता नहीं रहती – ऐसा ही सम्यक् निर्णय का बल है ॥२१॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९८१, पृष्ठ २६

(५४९)

प्रश्न :– भगवान आत्मा विकार का कारक है या अकारक ? विकार परद्रव्य से होता है क्या ? यदि नहीं, तो परद्रव्य से पराङ्मुख होने का उपदेश क्यों दिया जाता है ? पर्याय का निर्विकारी होना द्रव्य के आधीन है क्या ? कृपया सब का समाधान कीजिए।

उत्तर :– भगवान आत्मा निर्विकार अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है, वह विकार का कारण है ही नहीं। परद्रव्य के ऊपर लक्ष करने से विकार होता है अवश्य, फिर भी परद्रव्य से विकार नहीं होता। परद्रव्य के ऊपर लक्ष जाने से पर्याय स्वतन्त्रतया अपने से विकाररूप परिणमन करती है। स्वद्रव्य शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनन्दस्वरूप है, उससे पर्याय निर्विकार नहीं होती; किन्तु स्वद्रव्य का लक्ष करने पर पर्याय स्वयं अपने से स्वतन्त्रतया निर्विकार होती है। इसके विपरीत परद्रव्य का लक्ष करने से पर्याय स्वतः विकारी होती है।

अतः आत्मा अकेला स्वभाव से राग का अकारक ही है। यदि आत्मा राग का अकारक न हो तो परद्रव्य से हटने का – परद्रव्य का लक्ष छोड़ने का उपदेश निरर्थक ठहरे; इसलिए परद्रव्य के लक्ष से ही विकार होता होने से परद्रव्य से पराङ्मुख होने का उपदेश है। विकार होने में परद्रव्य निमित्त है। वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा सूचित करता है कि आत्मा अकेला स्वभाव से विकार का अकारक ही है ॥२२॥

– आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २५

(५५०)

प्रश्न :– आत्मा को क्रोधादिरूप अथवा ज्ञानरूप कौन करता है ? क्या कर्म का उदय अथवा प्रतिकूल संयोग उसे अज्ञानरूप नहीं करते ?

उत्तर :– जिसप्रकार श्वेत शंख चाहे जितनी काली मिट्टी खावे, तथापि वह काली मिट्टी उसे श्वेत से कृष्ण नहीं कर सकती; उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा को चाहे जितना तीव्र कर्मोदय आवे अथवा प्रतिकूल संयोग उपस्थित हो, तो भी वे ज्ञानस्वरूप आत्मा को अज्ञानरूप नहीं कर सकते अथवा क्रोधादि कषायरूप नहीं परिणमा सकते। आत्मा जो क्रोधादि अज्ञानरूप परिणमता है, वह तो अपने ही अपराध से परिणमता

है, परद्रव्य तो आत्मा को बिलकुल विकार नहीं करा सकता। देव-गुरु आदि परद्रव्य के कारण आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से होता है — ऐसा है नहीं; आत्मा तो स्वयं ही स्वयं से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन करता है और तभी रत्नत्रयगुण प्रकट होता है। परद्रव्य आत्मा को ज्ञानी या अज्ञानी बिलकुल कर ही नहीं सकता। आत्मा स्वयं ही अपने अपराध से क्रोधादिरूप और अपने गुण से ज्ञानरूप होता है ।।२३।।

— आत्मधर्म : अगस्त १६८०, पृष्ठ २६

(५५१)

प्रश्न :— सम्यग्दर्शन तथा केवलज्ञान होने का कारण कौन है ?

उत्तर :— सम्यग्दर्शन होने में शुद्धात्मा की प्रतीति के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है, नवतत्त्व के विकल्प भी सम्यग्दर्शन में कारण नहीं है। केवलज्ञान होने में शुद्धोपयोग कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है। केवलज्ञान के लिये शुद्धोपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी को (रागादि को) साधन मानना — यह तो केवलज्ञान का अनादर है, शुद्धोपयोग का अनादर है, धर्म का अनादर है, मोक्ष का अनादर है तथा मोक्ष के साधक शुद्धोपयोगी सन्तों का भी अनादर है। इस विपरीत मान्यता में महान अपराध है और यह मान्यता संसार का कारण है।

अहो ! शुद्धोपयोग तो केवलज्ञान का राजमार्ग है और शुभराग तो केवलज्ञान को रोकनेवाला है, लुटेरा है। राग को धर्म का साधन माननेवाला तो राजमार्ग का अपराधी है; वह 'राजमार्गी' नहीं है, वह तो 'रागमार्गी' है, अर्थात् 'संसारमार्गी' है — ऐसा जानना चाहिए ।।२४।।

— आत्मधर्म : फरवरी १६८३, पृष्ठ २६

(५५२)

प्रश्न :— पर की पर्याय को नहीं करता — यह तो ठीक, तो क्या अपनी पर्याय को भी नहीं करता ?

उत्तर :— अपनी पर्याय भी स्वकाल में होती ही है और होगी ही, फिर उसका करना क्या ? वास्तव में तो यह ज्ञाता-दृष्टा ही है। प्रयत्नपूर्वक मोक्ष को करो — ऐसा कथन आता है, कमर कसकर मोह को जीतो — ऐसा भाषा में आता है; परन्तु वास्तव में तो इसकी दृष्टि में द्रव्य ही आया है अर्थात् यह ज्ञाता-दृष्टा ही है। ज्ञाता-दृष्टा में अनन्त पुरुषार्थ है ।।२५।।

— आत्मधर्म : मार्च १६८०, पृष्ठ २४

(५५३)

प्रश्न :– जीव अजीव के कार्य भले न कर सके, किन्तु अपने परिणाम तो चाहे जैसे कर सकता हैं या नहीं ?

उत्तर :– जीव अपने परिणाम भी चाहे जैसे इच्छानुसार नहीं कर सकता; किन्तु जो परिणाम क्रमसर – जैसा होना है, वही होता है, आगे-पीछे मनचाहा नहीं हो सकता। जगत में सब-कुछ व्यवस्थित, क्रमसर होता है, कहीं कुछ फेरफार संभव नहीं है। उतावला पुरुष फेरफार करना तो बहुत चाहता है, परन्तु फेरफार कुछ भी नहीं कर सकता। इन सब बातों का सार यही है कि भाई ! तू ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि दे ॥२६॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९८१, पृष्ठ २५

(५५४)

प्रश्न :– क्या पर्याय का कारण स्वद्रव्य भी नहीं ?

उत्तर :– परद्रव्य से तो अपनी पर्याय होती ही नहीं; और अपने द्रव्य से पर्याय हुई – ऐसा कहना भी व्यवहार है। वास्तव में तो पर्याय, पर्याय की अर्थात् अपनी ही योग्यता से स्वकाल में होती है, यह निश्चय है। सम्यग्दर्शन की पर्याय का उत्पाद हुआ इसलिए मिथ्यात्व कर्म का नाश हुआ, ऐसा तो है ही नहीं; किन्तु वर्तमान पर्याय में सम्यक्त्व का उत्पाद हुआ, इसकारण से पूर्व पर्याय के मिथ्यात्वभाव का व्यय हुआ, ऐसा भी नहीं है। सम्यग्दर्शन की पर्याय का उत्पाद स्वतन्त्र हुआ है और मिथ्यात्वभाव की पर्याय का व्यय भी स्वतन्त्र हुआ है।

केवलज्ञान पर्याय का उत्पाद हुआ, वह केवलज्ञानावरणी कर्म के अभाव से हुआ, ऐसा तो है ही नहीं; किन्तु अपने द्रव्य के कारण से केवलज्ञान पर्याय का उत्पाद हुआ, ऐसा भी नहीं। पर्याय का पर्याय के षट्कारक से स्वतन्त्र उत्पाद हुआ है। यहाँ तो पर्याय का दाता द्रव्य नहीं है – ऐसा कहना है। पर्याय का लक्ष्य द्रव्य के ऊपर जाता है, वह उस पर्याय की स्वयं की सामर्थ्य से ही जाता है; द्रव्य के कारण से नहीं। सम्यग्दर्शन की पर्याय का लक्ष द्रव्य के ऊपर जाता है, वह उस पर्याय का ही सामर्थ्य है। यह द्वादशांग का दोहन है।

वास्तव में तो पर्याय, पर्याय के स्वकाल में, जन्मक्षण में जो होनी हो; वह होती है। द्रव्य से पर्याय, होती है – ऐसा कथन भी व्यवहार है। उत्पाद-पर्याय का द्रव्य कारण नहीं और व्यय भी कारण नहीं। यह उत्पाद-पर्याय का निश्चय है। सम्यग्दर्शन-पर्याय द्रव्य के आश्रय से होती है, ऐसा

कहना भी अपेक्षित कथन है। सम्यग्दर्शन-पर्याय होती है, वह उसका जन्मक्षण है; किन्तु उस पर्याय का लक्ष द्रव्य के ऊपर है, इसलिये द्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा कहा जाता है।

वास्तव में तो सम्यग्दर्शन-पर्याय का, पर से भिन्न पड़ने का, भेदज्ञान पर्याय होने का स्वकाल है, जन्मक्षण है, तभी वह पर्याय होती है। परन्तु वह होती किसको है? जिसका लक्ष द्रव्यस्वभाव के ऊपर होता है, उसीको होतो है। पर्याय में खड़े-खड़े पर्याय के सन्मुख देखनेवाले को पर्याय के स्वकाल का सच्चा ज्ञान नहीं होता। जैनदर्शन का यह परम सत्य स्वरूप है ॥२७॥

— आत्मधर्म : अप्रेल १९७७, पृष्ठ २५

(५५५)

प्रश्न :— पर्याय को भी द्रव्य नहीं करता, ऐसा कहकर द्रव्य को बिलकुल निष्कर्मा कर दिया?

उत्तर :— अरे भाई! यह तो अन्तर पेट की मूल बात है। इसमें द्रव्य निष्कर्मा नहीं हो जाता, अपितु अलौकिक द्रव्य सिद्ध होता है ॥२८॥

— आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २९

(५५६)

प्रश्न :— परमाणु में रंगगुण त्रिकाली है, उसकी पर्याय प्रथम समय में काली हो, वह बदलकर द्वितीय समय में लाल, सफेद अथवा पीली हो जाए, तो उसका कारण कौन है? यदि रंगगुण कारण हो तो वह तो स्थायी स्थायी रहता है, फिर परिणाम में विचित्रता कैसे?

उत्तर :— वास्तव में तो उस परमाणु में उससमय की पर्याय अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमी है; उसमें उसका रंगगुण कारण नहीं है। इसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने-अपने स्वकाल में स्वतन्त्र परिणमन करती है। आहा हा! पर्याय की स्वतन्त्रता की वात वहुत सूक्ष्म है ॥२९॥

— आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २२

(५५७)

प्रश्न :— अनादि से चली आ रही सवसे बड़ी मूर्खता क्या है?

उत्तर :— जिसका करना अशक्य हो, उसे करने की बुद्धि होना मूर्खता है। देहादि के कार्य मैं कर सकता हूँ, हस्त-पादादि को मैं हिला-डुला सकता हूँ, परद्रव्य के कार्य को मैं कर सकता हूँ — यह समस्त विचार-शृङ्खला अबुद्धिमत्तापूर्ण है। मैं परजीवों को सुखी अथवा दुःखी कर सकता हूँ, मार या बचा सकता हूँ, देश-कुटुम्बादि की सेवा कर सकता

हूँ – ऐसी बुद्धि होना मूर्खतापूर्ण है। परद्रव्य की कोई भी क्रिया-परिणति उसके अपने ही अधीन है, अन्यद्रव्य के द्वारा उसका किया जाना अशक्य हैं; तथापि उसके कर्तृत्व की बुद्धि होना मिथ्यात्वभाव की मूर्खता है। तथा जो कार्य अपने द्वारा ही किया जा सकता है – ऐसे अपने स्वरूप की सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान, सच्चा आचरण यह जीव नहीं करता है – यह उसकी दूसरी बड़ी मूर्खता है ॥३०॥ – आत्मधर्म : अप्रैल १९७९, पृष्ठ २६

(५५८)

प्रश्न :– एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता – इस सिद्धान्त में यह बात तो समझ में आती हैं कि एक जीव दूसरे जीव का कुछ नहीं करता, परन्तु एक परमाणु दूसरे परमाणु का कुछ नहीं करता – यह बात जँचती नहीं ?

उत्तर :– एक परमाणु स्वतंत्र है, वह भी स्वयं कर्त्ता होकर अपने कार्य को करना है, दूसरे परमाणु का उसमें अत्यन्त अभाव है। यदि इससे आगे बढ़कर थोड़ा सूक्ष्म विचार करें तो पुद्गलद्रव्य की पर्याय स्वयं से स्वतंत्र होती है, द्रव्य भी उसका कारण नहीं है। भाई ! वीतराग की बात बहुत सूक्ष्म है ॥३१॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २३

(५५९)

प्रश्न :– आप कहते हो कि शरीर तेरा नहीं और राग भी तेरा नहीं, परन्तु हमें तो रात-दिन इन दो से ही काम पड़ता है। अब क्या करें ?

उत्तर :– शरीर तो अपने कारण से षट्कारकरूप स्वतन्त्र परिणमन करता है और उसीप्रकार राग भी अपने कारण ही षट्कारक से परिणमन करता है। तू तो इन दोनों का मात्र ज्ञायक है। एकसमय में पर्याय षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमती है – द्रव्य के कारण नहीं तथा पूर्वपर्याय के कारण उत्तर-पर्याय परिणमती हो – ऐसा भी नहीं है। प्रत्येक पदार्थ की पर्याय प्रतिसमय षट्कारक से स्वतन्त्रपने ही परिणमती है – यह वस्तु की स्थिति है। भाई ! तेरा तत्त्व तो परिपूर्ण ज्ञायकभाव से भरपूर है, वह जानने के अतिरिक्त और क्या करे ? ॥३२॥

– आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २५

(५६०)

प्रश्न :– परद्रव्य का कार्य भले ही नहीं कर सकते, किन्तु अनासक्ति-भाव से पर को सुखी करें – अनुकूलता प्रदान करें तो ?

उत्तर :- 'पर को मैं सुखी कर सकता हूँ – अनुकूलता प्रदान कर सकता हूँ', यह दृष्टि ही मिथ्यात्वरूप भ्रम है। 'पर को सुखी कर सकूँ, पर को लाभ करा दूँ' – यह कर्त्ताबुद्धि का अभिमान है, अनासक्ति नहीं ॥३३॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २३

(५६१)

प्रश्न :- पदार्थों की स्वतन्त्रता समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर :- पदार्थों की स्वतन्त्रता समझने से अपने परिणाम का कर्त्ता स्वयं है – अन्य नहीं है; इसप्रकार समझने से पर से विमुख होकर अपने में परिणाम लगाकर आत्मा का अनुभव करना – यह लाभ है। अपना स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है – ऐसा जानकर मात्र देखनेवाला-जाननेवाला बना रहे, तो चौरासी के अवतार में भटकना मिटे और मुक्ति प्राप्त हो – यह लाभ है ॥३४॥ – आत्मधर्म : अक्टूबर १९८०, पृष्ठ १४

—०—

वस्तु एक त्रय नाम

(दोहा)

करता परिनामी दरव, करमरूप परिनाम।
किरिया परजय की फिरनि, वस्तु एक त्रय नाम ॥७॥
एक करम करतव्यता, करै न करता दोइ।
दुधा दरव सत्ता धसो, एक भाव क्यों होइ ॥९॥

(सवैया इकतीसा)

एक परिनाम के न करता दरव दोइ,
दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है॥
जीव-पुद्गल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपनें अपनें रूप कोउ न टरतु है।
जड़ परिनामनि कौ करता है पुद्गल
चिदानंद चेतन सुभाउ आचरतु है ॥१०॥

– कविवर बनारसीदास : समयसार नाटक, कर्त्ता-कर्म-क्रिया द्वार

(१५)

क्रमबद्धपर्याय

(५६२)

प्रश्न :– 'क्रमनियत' शब्द का शब्दार्थ तथा भावार्थ बतलाइए ?

उत्तर :– क्रमनियत' शब्द में क्रम अर्थात् क्रमसर, तथा नियत अर्थात् निश्चित। जिससमय जो पर्याय आनेवाली है, वही आयेगी; उसमें फेरफार नहीं हो सकता। तीनकाल में जिससमय जो पर्याय होनेवाली है, वही होगी। जगत का कर्त्ता ईश्वर नहीं, अथवा परद्रव्य का आत्मा कर्त्ता नहीं; परन्तु राग का भी कर्त्ता आत्मा नहीं। अरे! यहाँ तो कहते हैं कि पलटती हुई पर्याय का भी कर्त्ता आत्मा नहीं। षट्कारक से स्वतंत्रपने कर्त्ता होकर पर्याय स्वयं पलटती है, वह सत् है और उसे किसी की भी अपेक्षा नहीं है ॥१॥ – आत्मधर्म : जून १९७९, पृष्ठ २५

(५६३)

प्रश्न :– पर्याय क्रमबद्ध स्वकाल में उत्पन्न होती है, यह बात समझ में आई; परन्तु इसीप्रकार की यही पर्याय उत्पन्न होगी – यह इसमें कहाँ आया ?

उत्तर :– पर्याय क्रमबद्ध स्वकाल में उत्पन्न होती है; इसमें पर्याय जिससमय निश्चित होनेवाली है, वही उससमय होगी, ऐसा भी आ ही जाता है। क्योंकि स्वकाल में होनेवाली पर्याय को निमित्तादि किसी की भी अपेक्षा है ही नहीं ॥२॥ – आत्मधर्म : जून १९७९, पृष्ठ २५

(५६४)

प्रश्न :– क्या क्रमबद्धपर्याय द्रव्य में गुंथित ही है ?

उत्तर :– हाँ, क्रमबद्धपर्याय द्रव्य में गुंथी हुई ही है और इसे सर्वज्ञ प्रत्यक्ष जानते हैं। निम्नदशावालों को प्रत्यक्ष नहीं है, फिर भी पर्याय क्रमबद्ध ही होती है – ऐसा अनुमान ज्ञान से ज्ञात होता है ॥३॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९७९, पृष्ठ २६

(५६५)

प्रश्न :– केवली भगवान भूत-भविष्य की पर्यायों को द्रव्य में योग्यता-रूप जानते हैं अथवा उन पर्यायों को वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं ?

उत्तर :– प्रत्येक पदार्थ की भूत और भविष्यकाल की पर्यायें वर्तमान में अविद्यमान-अप्रकट होने पर भी सर्वज्ञ भगवान वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं। अनन्तकाल पहले हो चुकी भूतकाल की पर्यायें और अनन्तकाल पश्चात् होनेवाली भविष्य की पर्यायें अविद्यमान होने पर भी केवलज्ञान वर्त्तमान की तरह प्रत्यक्ष जानता है।

आहा हा ! जो पर्यायें हो चुकीं और होनेवाली हैं ऐसी भूत-भविष्य की पर्यायों को प्रत्यक्ष जाने उस ज्ञान की दिव्यता का क्या कहना ? केवली भगवान भूत भविष्य की पर्यायों को द्रव्य में योग्यतारूप जानते हैं – ऐसा नहीं हैं; किन्तु उन सभी पर्यायों को वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं; यही सर्वज्ञ के ज्ञान की दिव्यता है ।।४।। – आत्मधर्म : जुलाई १९७९, पृष्ठ २३

(५६६)

प्रश्न :– आत्मा पर में कुछ फेरफार नहीं कर सकता यह बात तो ठीक है, परन्तु अपनी पर्यायों में तो फेरफार कर ही सकता है – इसका अस्वीकार क्यों ?

उत्तर :– अरे भाई ! जहाँ द्रव्य का निश्चय किया, वहाँ वर्त्तमान पर्याय स्वयं द्रव्य में तन्मय हो गई, फिर उसे क्या फेरना ? मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है – ऐसा निर्णय करते ही पर्याय द्रव्य में अन्तर्मुख हो गई, अतः वह पर्याय अब क्रमसर निर्मल ही हुआ करती है और शान्ति वृद्धिगत होती जाती है। इसप्रकार जहाँ पर्याय स्वयं द्रव्य में अन्तर्मग्न हुई, वहाँ उसे फेरना रहा ही कहाँ ? वह पर्याय तो स्वयं द्रव्य के वश में आ ही गई है। पर्याय आवेगी कहाँ से ? द्रव्य में से।

अतः जहाँ समूचे द्रव्य को काबू में ले लिया (श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार कर लिया), वहाँ पर्यायें काबू में आ ही गईं अर्थात् द्रव्य के आश्रय से पर्यायें सम्यक् निर्मल ही होने लगीं। जहाँ स्वभाव का निश्चय हुआ, वहीं मिथ्याज्ञान विलीन होकर सम्यग्ज्ञान उद्भूत हुआ – मिथ्याश्रद्धा पलट-कर सम्यक्श्रद्धा हुई।

इसप्रकार निर्मल पर्याय होने लगीं, वह भी वस्तु का धर्म है। वस्तु-स्वभाव फिरा नहीं और पर्यायों की क्रमधारा भी टूटी नहीं। द्रव्य के ऐसे

स्वभाव का स्वीकार करते ही पर्याय की निर्मल धारा प्रारम्भ हो गई और ज्ञानादि का अनन्त पुरुषार्थ उसमें आ ही गया।

स्व अथवा पर किसी द्रव्य को, किसी गुण को या उसकी किसी पर्याय को फेरने की बुद्धि जहाँ नहीं रही, वहाँ ज्ञान ज्ञान में ही ठहर गया अर्थात् वीतरागी ज्ञाताभाव ही रह गया – वहाँ अल्पकाल में मुक्ति होगी ही। बस ! ज्ञान में ज्ञातादृष्टापना रहना ही स्वरूप है, यही सबका सार है। अन्तर की यह बात जिसके चित्त में न आवे, उसको पर में या पर्याय में फेरफार करने की बुद्धि होती है। ज्ञाताभाव को चूककर कुछ भी फेरफार करने की बुद्धि, वही मिथ्यात्व है ॥५॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७८, पृष्ठ २५

(५६७)

प्रश्न :– एक ओर तो पर्याय को क्रमबद्ध कहते हो और दूसरी ओर पर्याय के ऊपर से दृष्टि हटाने को भी कहते हो – ऐसा कैसे ?

उत्तर :– पर्याय क्रमबद्ध होती है – ऐसा जाने तो पर्याय का कर्तृत्व छूटकर अकर्त्तास्वभावी द्रव्य के ऊपर दृष्टि जाती है। क्रमबद्ध के ऊपर दृष्टि रखकर क्रमबद्ध का निर्णय नहीं होता। द्रव्य के ऊपर दृष्टि करने पर ही, क्रमबद्ध का सच्चा निर्णय होता है। अरे ! क्रमबद्ध तो सर्वज्ञ का प्राण है ॥६॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २९

(५६८)

प्रश्न :– क्रमबद्ध में क्रमबद्ध की विशेषता है कि द्रव्य की ?

उत्तर :– क्रमबद्ध में ज्ञायक द्रव्य की विशेषता है। क्रमबद्ध में अकर्त्तापना सिद्ध करके ज्ञायकपना बताना है ॥७॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २९

(५६९)

प्रश्न :– वस्तु में नियत और अनियत दोनों धर्म एक साथ हैं और दोनों ही ज्ञानी को स्वीकार हैं – ऐसी स्थिति में आप वस्तु को क्रमबद्ध ही क्यों कहते हैं, साथवाले अक्रम को क्यों नहीं स्वीकारते ?

उत्तर :– नियत और उसके साथ नियत के अतिरिक्त दूसरे अनियत (अर्थात् पुरुषार्थ, काल, स्वभाव, ज्ञान, श्रद्धा, निमित्त आदि) को ज्ञानी स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में नियत-अनियत का मेल है। यहाँ अनियत का अर्थ 'अक्रमबद्ध' है – ऐसा नहीं समझना चाहिए, अपितु नियत के साथ रहनेवाले नियत के अलावा पुरुषार्थ आदि धर्मों को यहाँ

'अनियत' संज्ञा दी गई है – ऐसा समझना। इसप्रकार वस्तु में नियत-अनियत दोनों धर्म एकसमय एक साथ हैं। यह अनेकान्तस्वभाव है और इसकी श्रद्धा में अनेकान्तवाद है ॥८॥

– वीतराग-विज्ञान : सितम्बर १९८३, पृष्ठ २१

(५७०)

प्रश्न :– सम्यक् नियतिवाद का क्या अर्थ है ?

उत्तर :– जिस पदार्थ में, जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस निमित्त से, जैसा होना है; वैसा ही होगा, उसमें किंचित् भी फेरफार करने में कोई समर्थ नहीं है – ऐसा ज्ञान में निर्णय करना सम्यक् नियतिवाद है और ऐसे निर्णय में स्वभाव की तरफ का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है ॥९॥

– वीतराग-विज्ञान : फरवरी १९८४, पृष्ठ २५

(५७१)

प्रश्न :– मिथ्या नियतिवाद को गृहीत मिथ्यात्व क्यों कहा है ?

उत्तर :– निमित्त व राग से धर्म होता है, आत्मा शरीरादि की क्रिया कर सकता हैं – ऐसी मान्यतारूप अगृहीत मिथ्यात्व तो अनादि से था ही, फिर शास्त्र बाँचकर अथवा कुगुरु आदि के निमित्त से मिथ्या नियतिवाद का नवीन कदाग्रह ग्रहण किया; इसलिए उसे गृहीत मिथ्यात्व कहा गया। जिसको अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व होता है, उसीको गृहीत मिथ्यात्व होता है। इन्द्रिय विषयों के पोषण के लिए 'जो होना होगा, वह होगा' – ऐसा कहकर एक स्वच्छन्दता का मार्ग निकाल लेते हैं, उसका नाम गृहीत मिथ्यात्व है ॥१०॥

– वीतराग-विज्ञान : फरवरी १९८४, पृष्ठ २५

(५७२)

प्रश्न :– वस्तु का परिणमन क्रमवद्ध मानने पर तो ऐसा लगता है कि पुरुषार्थ का कुछ काम ही नहीं, पुरुषार्थ निरर्थक है; क्योंकि जब सबकुछ निश्चित है, तो आत्मानुभूति, सम्यग्दर्शन आदि भी निश्चित मानने होंगे, फिर पुरुषार्थ करने का कहाँ अवकाश है ?

उत्तर :– क्रमवद्धपर्याय को स्वीकार करने से पुरुषार्थ उड़ जाता है - ऐसा भय तो अज्ञानी को लगता है, क्योंकि हम अभी पुरुषार्थ का ही सही स्वरूप नहीं जानते हैं। वास्तव में क्रमवद्धपर्याय को मानने से सम्यक् पुरुषार्थ का आरम्भ होता है, क्योंकि सारे जगत का परिणमन क्रमवद्ध मानने से पर्याय पर दृष्टि नहीं रहती, किसी भी पर्याय को हटाने या लाने

का विकल्प नहीं रहता और दृष्टि स्वभाव-सन्मुख हो जाती है। यही सम्यक् पुरुषार्थ है। जवतक फेरफार करने की दृष्टि होगी, तवतक उल्टा व निरर्थक पुरुषार्थ रहेगा और जव फेरफार की दृष्टि खत्म होकर सहज-स्वभाव की दृष्टि होगी तो सम्यक् पुरुषार्थ शुरू होगा।

क्रमवद्धपर्याय का निर्णय करने से 'मैं पर का कर दूं, व्यवहार करते-करते निश्चय होता है' – इत्यादि सभी उल्टी मान्यताएँ समाप्त हो जाती हैं और अन्दर स्वभाव में स्थिर होनें का मार्ग खुल जाता है ॥११॥

– आत्मधर्म : अक्टूवर १९८१, पृष्ठ २४

(५७३)

प्रश्न :– पुरुषार्थ करना हमारे हाथ में है या क्रमवद्ध में हो, तव होता है ?

उत्तर :– पुरुषार्थ करना अपने हाथ की वात है और क्रमवद्ध का निणय भी पुरुषार्थ के आधीन है। स्व-सन्मुख पुरुषार्थपूर्वक ही क्रमवद्ध का निर्णय होता है ॥१२॥ – आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ २६

(५७४)

प्रश्न :– जिसे पुरुपार्थ नहीं करना है, ऐसा जीव 'क्रमवद्ध में जो होना होगा सो होगा' – ऐसा मानकर प्रमाद में पड़ा रहेगा और पुरुपार्थ-हीन हो जाएगा ?

उत्तर :– अरे भाई ! 'क्रमवद्ध' के निर्णय में अकर्त्तावाद का अनन्त पुरुषार्थ होता है। अनन्त पुरुषार्थ हुए विना 'क्रमवद्ध' माना नहीं जा सकता। 'क्रमवद्ध' का सिद्धान्त ऐसा है कि सारे ही विरोधों का अभाव कर दे। क्रमवद्ध में ज्ञातापने का – अकर्त्तापने का पुरुषार्थ है। राग को वदलना तो नहीं, किन्तु पर्याय को भी करना या वदलना नहीं। वस, जाने....जाने... और जाने। समयसार गाथा ३२० में कहा है कि जीव वन्ध-मोक्ष को भी करता नहीं, जानता ही है। क्रमवद्ध के निर्णायक का लक्ष द्रव्य के ऊपर है, द्रव्य के ऊपर लक्षवाला ज्ञाता है। उसको 'क्रमवद्ध' के काल में रागादि आते हैं, किन्तु उनके ऊपर लक्ष नहीं है; अतः वह रागादि का जाननेवाला ही है।

एक 'क्रमवद्ध' को समझे तो सव निर्णय स्पष्ट हो जाय। निमित्त से होता नहीं, पर्याय आगे-पीछे होती नहीं और हुए विना भी रहती नहीं। अपनी पर्याय के भी अकर्त्ता वन जाओ। 'क्रमवद्ध' का तात्पर्य वीतरागता है ॥१३॥ – आत्मधर्म : नवम्वर १९७९, पृष्ठ २४

(५७५)

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि जव मोक्षप्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है, तव मोक्ष प्राप्त होता है या मोक्ष की पर्याय जव प्राप्त होनी हो, तव सहजरूप से स्वयं प्राप्त होती है ?

उत्तर :– इस सम्वन्ध में अनेकान्त है। सम्यग्दृष्टि जव मोक्षप्राप्ति का पुरुषार्थ करता है, तब ही मोक्ष प्राप्त होता है तथा तव ही मोक्ष की पर्याय प्राप्त होनी होती है; अतः तब मोक्ष प्राप्ति सहज हो जाती है। सम्यग्दृष्टि तो द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि करता है अर्थात् वास्तव में जव द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि होती है, तव सहजरूप से मोक्षप्राप्ति होनी होती ही है। मोक्षप्राप्ति का पुरुषार्थ वहुत ही विचित्र प्रकार का होता है। तात्पर्य यह है कि मोक्षप्राप्ति हेतु कोई वाह्य प्रयत्न नहीं करना पड़ता, बल्कि सहजद्रव्यस्वभाव की दृष्टि करना तथा उसी में स्थिरता करना ही मोक्षप्राप्ति का उपाय है, प्रयत्न है, पुरुषार्थ है ॥१४॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९८१, पृष्ठ २३

(५७६)

प्रश्न :– सहजद्रव्यस्वभाव की दृष्टि अर्था् आत्मप्राप्ति पुरुषार्थ से होती है या काललब्धि से ?

उत्तर :– वास्तव में पुरुषार्थ से होती है। आत्मप्राप्ति कहें या सम्यग्दर्शन – एक ही बात है। यद्यपि समयसार के कलश टीकाकार पांडे राजमलजी तो चौथे कलश की टीका में कहते हैं कि 'सम्यक्त्व-वस्तु यत्न-साध्य नहीं, सहजरूप है।' परन्तु वहाँ पर अन्य अपेक्षा है। वहाँ पर तो यह वताना है कि जव जीव का अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल शेष रहता है, तव ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। वे स्वयं वहाँ लिखते हैं :–

"अनन्त संसार जीव के भ्रमते हुए जाता है। वे संसारीजीव एक भव्यराशि है, एक अभव्यराशि है। उसमें अभव्यराशि जीव त्रिकाल ही मोक्ष जाने के अधिकारी नहीं। भव्यजीवों में कितने ही जीव मोक्ष जाने योग्य हैं, उनके मोक्ष पहुँचने का कालपरिणाम है। विवरण – यह जीव इतना काल वीतने पर मोक्ष जायेगा, ऐसी नोंध केवलज्ञान में है। वह जीव संसार में भ्रमते-भ्रमते जव अर्द्धपुद्गलपरावर्तन मात्र रहता है, तभी सम्यक्त्व उपजने योग्य है। इसका नाम काललब्धि कहलाता है। यद्यपि सम्यक्त्वरूप जीवद्रव्य परिणमता है, तथापि काललब्धि के विना करोड़

उपाय जो किये जाएँ तो भी जीव सम्यक्त्वरूप परिणमन योग्य नहीं – ऐसा नियम है। इससे जानना कि सम्यक्त्व-वस्तु यत्नसाध्य नहीं, सहज-रूप है ॥१५॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९८१, पृष्ठ २३

(५७७)

प्रश्न :– यदि ऐसा है, तो हम क्या समझें ?

उत्तर :– देखो ! यद्यपि कलश टीकाकार ने यहाँ काललब्धि की मुख्यता से व्याख्यान किया है, तथापि विना पुरुषार्थ के किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती – यह भी उतना ही वड़ा सिद्धान्त है। आत्मप्राप्ति के प्रसंग में तो इसकी ही मुख्यता करना योग्य है। यहाँ यह बात तो विचार करने योग्य है ही कि आत्मप्राप्ति के प्रसंग में सम्यक् पुरुपार्थ क्या है ? विना सम्यक् पुरुपार्थ के आत्मप्राप्ति संभव नहीं है। परन्तु फिर भी इतनी वात तो सिद्ध है ही कि विना पुरुपार्थ के आत्मप्राप्ति नहीं होगी।

अव यह तो विश्वास हो ही जाना चाहिए कि मेरा स्वकाल आ गया है और सव अवसर आ गए हैं, अव मुझे सम्यक् पुरुपार्थ द्वारा सम्यग्-दर्शन प्राप्त करना योग्य है। सारा जगत अपनी रुचती वात का तो विश्वास तुरन्त ही करता है, परन्तु इस सम्यक् पुरुपार्थ की वात का विश्वास नहीं करता। कैसी विचित्र वात है कि जो कार्य इससे हो नहीं सकता, जिसे कर नहीं सकता, उसका तो तुरन्त विश्वास करके पुरुपार्थ करता है; परन्तु जो वस्तु अपनी है, अपने से हो सकती है, उसका न विश्वास करता है और न उसका पुरुपार्थ करता है। इसलिए भाई ! तू तो ऐसी श्रद्धा कर कि मैं तो संसार-सागर से तिरने के मार्ग पर ही जा रहा हूँ, मेरा संसार-भ्रमण समाप्ति पर है। अतः भव रहित स्वभाव की दृष्टि करके अपना हित कर लेना चाहिए ॥१६॥

– आत्मधर्म : अक्टूवर १९८१, पृष्ठ २४

(५७८)

प्रश्न :– पांडे राजमलजी काललब्धि को जहाँ-तहाँ क्यों कहते हैं ?

उत्तर :– पाँचों समवाय साथ ही हैं। राजमलजी को काललब्धि सिद्ध करना है। मैं तो पहिले से ही कहता हूँ कि जिस काल में जो होना है, वही होता है। इसका ज्ञान किसको होता है कि जो स्वभाव की दृष्टि करता है, उसको, काललब्धि का सच्चा ज्ञान होता है ॥१७॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २३

(५७९)

प्रश्न :– जैसा भाव करे, वैसा होता है या जो होना होता है, वह होता है ?

उत्तर :– होना हो वही होता है, परन्तु करता है, इसलिये होता है। जो होनेवाला था, उसका कर्त्ता होकर करता है। वास्तव में तो 'होना था सो हुआ' इसप्रकार किसको ? जो स्वभाव का निर्णय करे उसको। ज्ञायक स्वभाव की दृष्टि करे तभी 'होना होगा वही होगा' इसप्रकार सम्यक् निर्णय होता है ॥१८॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७ पृष्ठ २८

(५८०)

प्रश्न :– होना होगा तो होगा, ऐसा मानने पर पुरुषार्थ निर्बल पड़ जाता है न ?

उत्तर :– होना होगा वह होगा, वह कब ? जब पर्याय का लक्ष द्रव्य के ऊपर जाय, तब सम्यक् निर्णय होता है। इसमें विशेष पुरुषार्थ है ॥१९॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(५८१)

प्रश्न :– जब आत्मा ज्ञायक है ही, तो फिर और करना क्या ?

उत्तर :– भाई ! तू ज्ञायक ही है – ऐसा निर्णय कर। ज्ञायक तो है, परन्तु उस ज्ञायक का निर्णय नहीं है – वही करना है। पुरुषार्थ करूँ.......करूँ.......परन्तु यह पुरुषार्थ तो द्रव्य में भरा है। बस, द्रव्य पर लक्ष जाते ही पुरुषार्थ प्रगट हो जाता है। जब द्रव्य के ऊपर लक्ष जाता है, तब सभी कुछ जैसा है – वैसा है – इसप्रकार मात्र जानता है। पर का तो कुछ पलटना है नहीं और स्व का भी कुछ पलटना नहीं। स्व का निर्णय करते ही दिशा पलट जाती है ॥२०॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७९, पृष्ठ २४

(५८२)

प्रश्न :– पर्याय तो व्यवस्थित ही होनेवाली है अर्थात् पुरुषार्थ की पर्याय तो जब उसके प्रगट होने का काल आयेगा, तभी प्रगट होगी – ऐसी स्थिति में अब करने को रह क्या गया ?

उत्तर :– व्यवस्थित पर्याय है – ऐसा जाना कहाँ से ? व्यवस्थित पर्याय द्रव्य में है, तब तो द्रव्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है। पर्याय के क्रम के ऊपर दृष्टि न करके, क्रमसरपर्याय जिसमें से प्रगट होती – ऐसेहै

द्रव्यसामान्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है, क्योंकि उस पर दृष्टि करने में अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्ध के सिद्धान्त से अकर्त्तापना सिद्ध होता है, क्रम के समक्ष देखना नहीं ॥२१॥

– आत्मधर्म : जून १९७९, पृष्ठ २६

(५८३)

प्रश्न :– सभी गुणों का कार्य व्यवस्थित ही है, तो फिर पुरुषार्थ करना भी रहता नहीं।

उत्तर :– जिसको क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में पुरुषार्थ भासित नहीं होता, उसको व्यवस्थितपना बैठा ही कहाँ है ? ॥२२॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७९, पृष्ठ २३

(५८४)

प्रश्न :– उसको व्यवस्थितपने का श्रद्धान नहीं हुआ, तो उसका वैसा परिणमन भी तो व्यवस्थित ही है। वह व्यवस्थितपने का निर्णय नहीं कर सका – यह बात भी तो व्यवस्थित ही है। ऐसी दशा में निर्णय करने की कथा करना व्यर्थ ही है ?

उत्तर :– उसका परिणमन व्यवस्थित ही है – ऐसी उसे खबर कब है ? परिणमन व्यवस्थित है – ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, परन्तु उसे सर्वज्ञ का निर्णय ही कहाँ है ? प्रथम वह सर्वज्ञ का निर्णय तो करे, पश्चात् उसे व्यवस्थित की खबर पड़े ॥२३॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९७९ पृष्ठ २३

(५८५)

प्रश्न :– व्यवस्थित परिणमनशील वस्तु है, इसप्रकार भगवान के कथन की श्रद्धा उसे है ?

उत्तर :– नहीं, सर्वज्ञ भगवान का सच्चा निर्णय उसको कहाँ है ? पहले सर्वज्ञ का निश्चय हुए बिना व्यवस्थित का निर्णय कहाँ से आया ? मात्र ज्ञानी की बातें सुनकर सुनकर वैसा-वैसा ही कहे तो इससे काम नहीं चलेगा, प्रथम सर्वज्ञ का निर्णय तो करो। द्रव्य का निर्णय किए बिना सर्वज्ञ का निर्णय वास्तव में हो सकता नहीं ॥२४॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७९, पृष्ठ २३

(५८६)

प्रश्न :– क्रमबद्ध में करने के लिए क्या आया ?

उत्तर :– करना है कहाँ ? करने में तो कर्तृत्वबुद्धि आती है। करने की बुद्धि छूट जाय, यह क्रमबद्ध है। क्रमबद्ध में कर्तृत्वबुद्धि छूट जाती है।

पर में तो कुछ कर सकता ही नहीं और अपने में भी जो होनेवाला है, वही होता है अर्थात् अपने में भी राग होना है, वह होता है; उसका करना क्या ? राग में से भी कर्त्तृत्वबुद्धि छूट गई, भेद और पर्याय पर से भी दृष्टि हट गई, तब क्रमबद्ध की प्रतीति हुई। क्रमबद्ध की प्रतीति में तो ज्ञाता-दृष्टा हो गया, निर्मल पर्याय करूँ ऐसी बुद्धि भी मेंट गई, राग को करूँ – यह बात तो दूर रह गई।

अरे ! ज्ञान करूँ यह बुद्धि भी छूट जाती है, कर्त्तृत्वबुद्धि छूट जाती है और अकेला ज्ञान रह जाता है। जिसे राग करना है, राग में अटकना है, उसे इस क्रमबद्ध की बात जमी ही नहीं। राग को करना, राग को छोड़ना – यह भी आत्मा में नहीं है। आत्मा तो अकेला ज्ञानस्वरूप है।

पर की पर्याय तो जो होनेवाली है, वह तो होती ही है; उसे मैं करूँ ही क्या ? और मेरे में जो राग आता है, उसे मैं क्या लाऊँ ? और मेरे में जो शुद्धपर्याय आए, उसको करूँ-लाऊँ, ऐसे विकल्प से भी क्या ? अपनी पर्याय में होनेवाला राग और होनेवाली शुद्धपर्याय को करने का विकल्प क्या ? राग और शुद्धपर्याय के कर्त्तृत्व का विकल्प शुद्धस्वभाव में है ही नहीं। अकर्त्तापना आ जाना ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है ॥२५॥

– आत्मधर्म : जून १९७९, पृष्ठ २६

(५८७)

प्रश्न :– मोक्ष की पर्याय यत्नपूर्वक करें तब होगी या होनी होगी तब होगी ?

उत्तर :– ज्ञानी की दृष्टि द्रव्य के ऊपर पड़ी है, द्रव्य में भाव नाम का गुण है, इसी गुण के कारण निर्मल-पर्याय होती ही है; उसको करें तब हो – ऐसा नहीं है। दृष्टि द्रव्य के ऊपर पड़ने से निर्मलता होती ही है ॥२६॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २४

(५८८)

प्रश्न :– क्या श्रुतज्ञानी को केवलज्ञान प्रकट करने की उतावली नहीं होती ?

उत्तर :– श्रुतज्ञानी को केवलज्ञान होने ही वाला है, अतः उतावली – अधैर्य नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि क्रमबद्धपर्याय में केवलज्ञान प्रगट होने के काल में प्रगट होगा ही, इसलिये उतावली नहीं होती। क्रमबद्ध में अकर्त्तापना होने से वीतरागता है। पूर्ण स्वरूप में दृष्टि है, इसलिये वीतरागता है। जैसे द्वितीया का उदय हुआ है, वह पूर्णचन्द्र

बनकर ही रहेगा इसमें संशय कैसा ? वैसे ही जिसे अन्तर आत्मभान हुआ है, उसे केवलज्ञान होना ही है, केवलज्ञान दौड़ा आ रहा है; वह तो अल्पकाल में प्रकट होगा ही, इसमें संशय या सन्देह श्रुतज्ञानी को नहीं होता ॥२७॥ — आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २४

(५८९)

प्रश्न :– हमारी काललब्धि नहीं पकी, इसलिए सम्यग्दर्शन नहीं होता न ?

उत्तर :– नहीं, नहीं; ऐसा नहीं है। तुम्हारा पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए सम्यग्दर्शन नहीं होता। काललब्धि की भाषा सुनकर धारणा कर लें और ऐसा बोले – यह नहीं चलेगा। भगवान ने देखा होगा तब होगा – ऐसी धारणा कर लेने से काम नहीं बनेगा। भगवान ने देखा है। उसकी प्रतीति है क्या ? भगवान ने देखा है – उसका यथार्थ ज्ञान करे, यथार्थ निर्णय करे, उसकी दृष्टि तो द्रव्यस्वभाव के ऊपर होती है और उसकी काललब्धि भी पक ही गई होती है। पर के कार्य करने में तो उलटा पुरुषार्थ बराबर करता है और स्वयं के आत्मकार्य में काललब्धि का बहाना निकालकर पुरुषार्थ नहीं करता, तो सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा ? ॥२८॥ — आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २५

(५९०)

प्रश्न :– आप कहते हैं कि अकस्मात कुछ भी नहीं होता, अतः ज्ञानी निःशंक और निर्भय है; पर पेपर में तो अकस्मात दुर्घटना के बहुत समाचार आते हैं ?

उत्तर :– जगत् में अकस्मात कुछ होता ही नहीं। जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस काल में होना हो, वही होती है। देह छूटने का काल जिस क्षेत्र और जिस निमित्त से हो, उसीप्रकार देह छूटती है। उल्टा-सीधा या अकस्मात किसी पदार्थ का परिणमन नहीं होता, व्यवस्थित ही होता है ॥२९॥ — आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २५

(५९१)

प्रश्न :– धर्म का मूल सर्वज्ञ है। उस सर्वज्ञ को माना – ऐसा कब कहा जाय ?

उत्तर :– जब ऐसा माने कि सर्वज्ञ द्रव्य की तीनकाल की पर्यायों को जानते हैं और वे पर्यायें जिससमय होनेवाली है उसी समय क्रमबद्ध

ही होंगी – क्रम तोड़कर होंगी नहीं; तभी सर्वज्ञ को माना है – श्रद्धान किया है, ऐसा माना जा सकता है ॥३०॥

– आत्मधर्म : जून १९७९, पृष्ठ २५

(५९२)

प्रश्न :– क्रमबद्ध के वास्तविक रहस्य को न समझनेवाला अज्ञानी, क्रमबद्ध के गीत गाते रहने पर भी भूल क्या करता है ?

उत्तर :– एक तो कहता है कि पर्याय को क्रमबद्ध स्वीकार करने से नियतवाद हो जाता है और दूसरा कहता है कि क्रमबद्ध में मेरे राग आना ही था, वह आ गया। यह दोनों ही जीव भूल में हैं–मिथ्यादृष्टि हैं। दोनों ने मिथ्यात्व को पुष्ट करके निगोद का मार्ग अपनाया है। जिसकी दृष्टि में क्रमबद्ध यथार्थ रीति से बैठ गई है, उसकी दृष्टि पर्याय से हटकर आनन्दमय आत्मा के ऊपर है, उसके क्रमबद्ध में राग आने पर भी वह उसका मात्र ज्ञाता ही है।

ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक जो राग आता है, वह राग दुःख-रूप लगता है और ऐसे जीव ने ही क्रमबद्ध को यथार्थ माना है। वह जीव उस आनन्द के साथ जब अपने रागरूप दुःख का मिलान करता है, तब उसे प्रतिभासित होता है कि अरे! यह राग दुःखरूप है। इसप्रकार क्रमबद्ध को माननेवाला आनन्द की दृष्टिपूर्वक राग को दुःखरूप जानता है, उसके राग की मिठास उड़ गई है। जिसे राग में मिठास पड़ी हुई है, और पहले जो अज्ञान दशा में राग के टालने की चिन्ता थी, वह भी क्रमबद्ध का पाठ पढ़कर मिट गई है, उसके तो मिथ्यात्व की पुष्टि ही हुई है – मिथ्यात्व तीव्र ही हुआ है। राग मेरा नहीं – ऐसा कहे और आनन्दस्वरूप की दृष्टि न हो, तो उसने मिथ्यात्व की वृद्धि ही की है। भाई! यह तो कच्चे पारा जैसा वीतराग का सूक्ष्म रहस्य है। अन्तर में पचावे तो वीतरागता की पुष्टि हो, और उसका रहस्य न समझे तो उलटा मिथ्यात्व ही पुष्ट हो ॥३१॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७९, पृष्ठ २४

(५९३)

प्रश्न :– यह जीव, अजीव का तो कार्य नहीं कर सकता; किन्तु अपना परिणाम तो जैसा चाहे, वैसा कर सकता है ?

उत्तर :– जीव अपना परिणाम भी चाहे जैसा नहीं कर सकता; किन्तु जो परिणाम क्रमसर जैसा होना है, वैसा ही होगा; आगे-पीछे,

जैसा-तैसा करना चाहे तो नहीं होगा। जीव तो अकेला ज्ञायकभावमात्र है, जाननहारा – जाननहारा ही है ॥३२॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २८

(५९४)

प्रश्न :– क्रमवद्धपर्याय का निर्णय कैसे हो? उसके द्वारा सिद्ध क्या करना है? तात्पर्य क्या है?

उत्तर :– क्रमवद्धपर्याय का मूल तो सिद्धान्त से अकर्त्तापना सिद्ध करना है। जैनदर्शन अकर्तावादी है। आत्मा परद्रव्य का तो कर्त्ता है ही नहीं, राग का भी कर्त्ता नहीं और पर्याय का भी कर्त्ता नहीं। पर्याय अपने ही जन्मक्षण में अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्ररूपेण जो होने योग्य है, वही होती है; परन्तु इस क्रमवद्ध का निर्णय पर्याय के लक्ष से नहीं होता।

क्रमवद्ध का निर्णय करने जाय तो शुद्धचैतन्य ज्ञायकधातु के ऊपर दृष्टि जाती है और तभी जाननेवाली जो पर्याय प्रगट होती है, वह क्रमवद्ध-पर्याय को जानती है। क्रमवद्धपर्याय का निर्णय स्वभाव-सन्मुखवाले अनन्त पुरुषार्थपूर्वक होता है। क्रमवद्धपर्याय के निर्णय का तात्पर्य वीतरागता है और यह वीतरागता पर्याय में तभी प्रकट होती है, जव वीतराग-स्वभाव के ऊपर दृष्टि जाती है।

समयसार गाथा ३२० में कहा है कि ज्ञान वंध-मोक्ष का कर्त्ता नहीं है; किन्तु जानता ही है। आहा! हा! मोक्ष को ज्ञान जानता है। मोक्ष को करता है – ऐसा नहीं कहा। अपने में होनेवाली क्रमसर पर्याय को करता है – ऐसा नहीं; किन्तु जानता है – ऐसा कहा। गजव वात है भाई! ॥३३॥ – आत्मधर्म : जून १९७९, पृष्ठ २५-२६

—०—

जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
विन देख्यो होसी नहिं क्योंही, काहे होत अधीरा रे ॥१॥
समयो एक वढ़ै नहीं घटसी, जो सुख-दुःख की पीरा रे।
तू क्यों सोच करै मन मूरख, होय वज्र ज्यों हीरा रे ॥२॥
लगै न तीर कमान वान कहुँ, मार सकै नहीं मीरा रे।
तू सम्हारि पौरुष वल अपनो, सुख अनन्त तो तीरा रे ॥३॥
निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभु को, जो टारे भव भीरा रे।
'भैया' चेत धरम निज अपनो, जो तारे भव नीरा रे ॥४॥

– भैया भगवतीदास

(१६)

कारणशुद्धपर्याय

(५९५)

प्रश्न :– कारणशुद्धपर्याय की बहुत महिमा गाई जाती है, परन्तु हमारे लिये वह उपयोगी कैसे है ?

उत्तर :– वह वर्त्तमान में कारणरूप है, अतः जिसको वर्त्तमान कार्य (सम्यग्दर्शन से मोक्ष तक का कार्य) प्रगट करना हो, उसको वह उपयोगी है; क्योंकि उस कारण का आश्रय लेने पर कार्य प्रगट होता है। वह कारणपर्याय द्रव्य से कहीं भिन्न नहीं है। द्रव्य त्रिकाल वैसे का वैसा ही पूरा का पूरा वर्त्तमान में वर्त रहा है; उस कारण को स्वीकार करके; उसका आश्रय लेने पर निर्मल कार्य प्रगट हो जावेगा। द्रव्य-गुण का वर्त्तमान वर्त्तता स्व-आकार; वह कारणशुद्धपर्याय है। अन्य कारणों का आश्रय छोड़कर इस स्व-आकार कारणशुद्धपर्याय के स्वीकार से ही शुद्ध कार्य होता है ।।१।। आत्मधर्म : अगस्त १९८२, पृष्ठ २४

(५९६)

प्रश्न :– 'कारणशुद्धपर्याय' में 'पर्याय' शब्द आता है, ऐसी स्थिति में वह पर्यायदृष्टि का विषय हो जाता है क्या ?

उत्तर :– नहीं, 'पर्याय' शब्द आ जाने से वह पर्यायदृष्टि का विषय नहीं हो जाता। वह पर्याय द्रव्य के साथ सदा तन्मयपने वर्तती हुई द्रव्यदृष्टि के विषय में ही समाहित है। त्रिकाली समूचे द्रव्य का एक वर्त्तमान भेद होने से उसके लिये 'पर्याय' शब्द का प्रयोग किया गया है और वर्त्तमान-कार्य (मोक्षमार्ग) करने के लिये, उसको वर्त्तमान कारण बताया है। इस कारणशुद्धपर्याय पर दृष्टि का जोर देने से सम्यग्दर्शनादि कार्य होते हैं ।।२।। – आत्मधर्म : जुलाई १९८२, पृष्ठ २७

(५६७)

प्रश्न :– कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय किस नय के विषय हैं ?

उत्तर :– कारणशुद्धपर्याय सहजशुद्धनिश्चयनय का विषय है और कार्यशुद्धपर्याय शुद्धसद्भूतव्यवहारनय का विषय है ।।३।।

– आत्मधर्म : अगस्त १९८२, पृष्ठ २४

(५६८)

प्रश्न :– केवलज्ञानादि की शुद्धपर्यायों को निरपेक्ष कहा और कारणशुद्धपर्याय को भी निरपेक्ष कहा – तो इन दोनों प्रकार के निरपेक्षों में क्या अन्तर है ?

उत्तर :– ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से जो केवलज्ञानादि पर्यायें प्रगटीं, वे भी स्वभावपर्यायें हैं और उन्हें इन्द्रियों आदि की अपेक्षा नहीं है, इस अपेक्षा से उन्हें निरपेक्ष कहा जाता है; परन्तु कर्म के क्षय के साथ उनका निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, इतनी अपेक्षा तो उनमें आती ही है। किन्तु कारणशुद्धपर्याय में तो कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध की भी अपेक्षा नहीं है, वह तो द्रव्य के साथ त्रिकाल निरपेक्षपने वर्तती है ।।४।।

– आत्मधर्म : जुलाई १९८२, पृष्ठ २७

—०—

कारणशुद्धपर्याय से तात्पर्य क्या ?

सहजशुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञानसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्वभावानन्तचतुष्टयस्वरूपेण सहाञ्चितपंचमभावपरिणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थः ।

जो सहजशुद्धनिश्चय से अनादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाले और शुद्ध – ऐसे सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र एवं सहजपरमवीतरागसुखात्मक शुद्धअन्तःतत्त्वस्वरूप है । तथा स्वाभाविक अनन्तचतुष्टयस्वरूप के द्वारा पूजित पंचमभाव परिणति ही कारणशुद्धपर्याय है – ऐसा अर्थ है ।

– श्रीमद् पद्मप्रभमलधारिदेव : नियमसार गाथा १५ की टीका

(१७)

पुण्य-पाप

(५९९)

प्रश्न :– क्या पुण्य और पाप समान हैं ?

उत्तर :– जो कोई जीव पुण्य-पाप में भेद मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है और घोर संसार-सागर में डूबेगा – ऐसा प्रवचनसार की गाथा ७७ में कहा है। कारण कि पुण्य और पाप भाव में अनात्मपना समानरूप से है। व्यवहार से पुण्य और पाप भाव में भेद है, वह ज्ञान करने के लिए है; किन्तु परमार्थ से पुण्य-पाप में भेद नहीं है, क्योंकि दोनों में अनात्मपने की अपेक्षा से समानता है ॥१॥

– आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ २७

(६००)

प्रश्न :– प्रवचनसार में शुभ-अशुभ में भेद माननेवाले को मिथ्यादृष्टि कहा, जबकि अन्यत्र शुभ को छाया समान और अशुभ को धूप समान कहकर उसमें भेद बतलाया – ऐसा क्यों ?

उत्तर :– शुभ-अशुभ को छाया-धूप के समान कहा है, वह तो ज्ञानी की बात है। ज्ञानी को पाँचवें गुणस्थान में शान्ति बढ़ी है; उसके शुभराग को व्यवहार से छायारूप कहा है। ज्ञानी के शुभराग को परम्परा से मोक्ष का कारण भी कहा है, किन्तु यह तो दृष्टि सम्यक् हुई है और अशुभ टला है, उसको व्यवहार से परम्पराकारण कहा है। अज्ञानी के शुभराग को छाया समान अथवा परम्परा मोक्ष का कारण नहीं कह सकते। अज्ञानी द्रव्यलिंगी मुनि शुक्ललेश्या के शुभराग से नवमी ग्रैवेयक तक ऊँचा गया और वहाँ से पुनः नीचे संसार में पतन हुआ। अज्ञानी का शुभराग किस गिनती में ? आत्मा अत्यन्त निर्लेप अखण्डानन्द परमात्मा है, उसकी दृष्टि किये विना एक पग भी मोक्षमार्ग में नहीं जा सकते। संक्षेप में मूलसिद्धान्त एक है कि 'स्व के आश्रय से मुक्ति और पर के आश्रय से संसार'। छहढाला में भी कहा है कि 'लाख बात की बात यही निश्चय उर लावो' ॥२॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ १९

(६०१)

प्रश्न :– हमने सुना है कि अध्यात्म में पुण्य को भी पाप कहते हैं ? ऐसा किस आधार पर ?

उत्तर :– जगत में पाप को तो पाप सभी कहते हैं, परन्तु अनुभवी ज्ञानीजन तो पुण्य को भी पाप कहते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी आदि को तो जगत पाप मानता है, परन्तु शुभराग को भी ज्ञानीजन पाप कहते हैं, क्योंकि स्वरूप में से पतित होकर ही शुभराग उठता है, अतः वह भी पाप है; अस्तु शुभराग में भी स्व की हिंसा होती है। प्रवचनसार गाथा ७७ में कहा है कि जो जीव पुण्य-पाप में भेद मानता है, अन्तर मानता है; वह मिथ्यादृष्टि है और अनन्त संसार में भटकता है।

इसीप्रकार योगसार गाथा ७१ में श्री योगीन्दुदेव कहते हैं :–

पाप भाव को पाप तो जानत है सब लोय।
पुण्य भाव भी पाप है जाने विरला कोय ॥

आ हा हा ! यह बात तो भव्यजीव के गले उतरेगी, जिसे अन्तर में भव का भय लगा हो और भय से मुक्त होना हो ॥३॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २२

(६०२)

प्रश्न :– चैतन्यस्वरूप आत्मा के भान बिना ही यदि पुण्य करते जावें तो हानि ही क्या है ?

उत्तर :– चैतन्यस्वभाव के भान बिना जो कुछ भी पुण्य करने में आता है, वह राख के ऊपर गोबर लीपने के समान है। जैसे राख के दल के ऊपर गोबर का लीपन टिक नहीं सकता, लीपन तो कठोर भूमि पर ही टिकता है; वैसे ही त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के भान बिना परलक्ष से जो कुछ भी पुण्य किया जाता है, वह राख के ऊपर किये गए लीपन के समान है। वह पुण्य अल्पकाल में ही संक्रमित होकर पापरूप हो जायगा, वह पुण्य दीर्घकाल तक टिकेगा नहीं – ऐसा जानकर चैतन्यस्वभावरूप भगवान आत्मा का भान अवश्य करना चाहिए ॥४॥

– आत्मधर्म : मार्च १९८३, पृष्ठ २४

(६०३)

प्रश्न :– योगसार में पुण्य को भी पाप क्यों कहा है ?

उत्तर :– वैसे तो पुण्य शुभराग है, परन्तु वह स्वरूप से पतित

करता है, इसलिए वहाँ कहा है कि पाप को पाप सभी जगत कहता है, किन्तु अनुभवी जीव पुण्य को भी पाप कहते हैं। जयसेनाचार्य ने भी कहा है कि पुण्य है, वह अशुभ से बचाता है, परन्तु शुद्धस्वरूप से पछाड़ता है – पतित करता है, अतः पुण्य को भी पाप कहा है। यहाँ तो जिसे आत्मा का हित करना हो, उसकी बात है। वैसे तो अनन्तवार शुभ करके नवमी ग्रैवेयक तक गया, फिर भी एक भी भव कम नहीं हुआ ॥५॥

– आत्मधर्म : अप्रैल १९८१, पृष्ठ २३

(६०४)

प्रश्न :– अशुभ की अपेक्षा तो शुभ ठीक है या नहीं ?

उत्तर :– आत्मभान न होने पर शुभ अशुभ दोनों भावों को बन्ध का कारण जानने के बाद व्यवहार से अशुभ की अपेक्षा शुभ को ठीक कहा जाता है, पर यह बात ज्ञानी की अपेक्षा है। चरणानुयोग में तीव्र कषाय घटाने के लिए मन्दकषाय करना – ऐसा भी कहा जाता है। पर यहाँ अध्यात्म शास्त्रों में तो आत्मा में राग की गन्ध भी नहीं – यह बात है। वस्तु की अपेक्षा आत्मा भगवानस्वरूप है, इस पक्ष से उसका आश्रय न करके राग के पक्ष से राग का आश्रय किया – वह मिथ्यादृष्टि है ॥६॥

– आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २४

(६०५)

प्रश्न :– जो शुभ-अशुभ परिणाम में भेद मानता है उसे मिथ्यादृष्टि कहा है; तो हम आत्मा की बात सुनें – चर्चा करें, अथवा दुकान पर बैठकर व्यापार-धन्धा करें, ये दोनों समान ही हैं न ?

उत्तर :– शुभ-अशुभ परिणाम में व्यवहार से भेद है। व्यापार में तीव्रकषाय है, आत्म-चर्चा सुनने में मन्दकषाय है, इसलिए व्यवहार से भेद है; किन्तु इन शुभाशुभ दोनों का लक्ष पर की तरफ ही है; अतः बन्ध का कारण है। परमार्थ से इन दोनों में कोई भेद नहीं है – ऐसा बतलाकर शुभ में से हितबुद्धि छुड़ाकर स्वद्रव्य का लक्ष्य कराया है ॥७॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २२

(६०६)

प्रश्न :– आप शुभ भाव को छुड़ाते हैं न ?

उत्तर :– अनादिकाल से चली आ रही शुभभाव में हितबुद्धि छुड़ाते हैं। पहले शुभराग में आदरबुद्धि छुड़ाते हैं, उसके बाद अस्थिरता भी छुड़ाते हैं। शुभराग आवेगा तो अवश्य, क्योंकि शुद्धोपयोग बिना शुभराग

छूटता नहीं; फिर भी उसमें से हितबुद्धि छुड़ाते हैं, शुभराग से अथवा शुभ करते-करते आत्मकल्याण हो जावेगा – ऐसी मान्यता छुड़ाते हैं ॥८॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २७

(६०७)

प्रश्न :– ऐसा सुनने और जानने से जीव शुभभाव को छोड़ देंगे ?

उत्तर :– यहाँ शुभभाव की रुचि छुड़ाने की बात है; शुभभाव छुड़ाने की बात नहीं है, क्योंकि शुभभाव छूटता नहीं है। भूमिका बढ़ने पर शुभभाव तो बढ़ता जाता है, किन्तु उस शुभभाव में ज्ञानी को आत्मबुद्धि नहीं होती ॥९॥ – आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ २६

(६०८)

प्रश्न :– अज्ञानी के व्रतादि तो बन्ध के कारण हैं, किन्तु ज्ञानी के व्रतादि तो मोक्ष के कारण हैं न ?

उत्तर :– ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, किन्तु व्रतादि का शुभराग दोनों को ही बन्ध का कारण है, मोक्ष का नहीं; क्योंकि वह पर के आश्रय से होनेवाला भाव है। ज्ञानी को जो व्रतादि शुभराग आता है, उसमें भी आकुलता है, उद्वेग है; इसलिये बन्ध का कारण है। स्वसन्मुख होने पर जो शुद्ध परिणाम होता है, वही मोक्ष का कारण है ॥१०॥

– आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ २६

(६०९)

प्रश्न :– आत्मानुभव होने से प्रथम ही शुभराग को हेय मानना उचित है क्या ?

उत्तर :– आत्मा का अनुभव होने से पहले भी मुझे शुभराग हेय है – ऐसा निर्णय करना चाहिए। सम्यक्त्व होने से पहले भी श्रद्धान में शुभराग का निषेध आना चाहिए। शुभराग छूटता तो स्वरूप में स्थिरता होने पर ही है, परन्तु उसका निषेध तो प्रथम से ही आना चाहिए। यदि शुभराग का आदर किया जायेगा तो मिथ्यात्व दृढ़ होगा। शुभराग को हेय जानने का प्रयोजन कहीं अशुभ में चले जाने का नहीं है ॥११॥

आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २४

(६१०)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन के बिना क्या व्रत-तप-दान-शीलादि अफल हैं-व्यर्थ हैं ?

उत्तर :– हाँ, सम्यग्दर्शन के बिना किये जानेवाले समस्त व्रतादि-दानादि मुक्ति के लिए निष्फल हैं, संसारवृद्धि के लिए सफल हैं ॥१२॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २४

(६११)

प्रश्न :– व्रत-नियम-शील-तपादि के शुभराग को अत्यन्त स्थूल परिणाम क्यों कहा ?

उत्तर :– आत्मस्वभाव सूक्ष्म और इन्द्रियों से अगोचर है, इसलिए अत्यन्त सूक्ष्म है। शुभ परिणाम आत्मस्वभाव से विरुद्ध जाति का है, अतः उसको अत्यन्त स्थूल परिणाम कहा है। राग का परिणाम परलक्ष से उत्पन्न होनेवाला विकृत परिणाम है, पराश्रयजन्य परिणाम है, स्थूल लक्ष-वाला परिणाम है; इसलिए उसे अत्यन्त स्थूल परिणाम कहा गया है ॥१३॥

– आत्मधर्म : मार्च १९७८, पृष्ठ २५

(६१२)

प्रश्न :– आप पुण्य को हेय क्यों कहते हैं ?

उत्तर :– श्री योगीन्दुदेव ने कहा है कि हिंसा-झूठ-चौर्यादि तो पाप-भाव हैं ही, परन्तु दया-दान-पूजा-भक्ति आदि के शुभभाव भी परमार्थ से पाप हैं, क्योंकि वे जीव को स्वरूप से पतित करते हैं। अ हा हा ! पाप को तो पाप सभी कहते हैं, परन्तु अनुभवी जीव तो पुण्य को भी पाप कहते हैं। बहुत सूक्ष्म बात है – अन्तर से समझे तो समझ में आए – ऐसी बात है।

पापभाव को पाप तो जानत हैं सब लोय।
पुण्यभाव भी पाप है, जाने विरला कोय ॥१४॥

– आत्मधर्म : जून १९७८, पृष्ठ २४

प्रश्न :– शुभभाव को हेय मानते हुए बीच में अशुभभाव आ जाय तो ?

उत्तर :– अशुभभाव तो सम्यक्त्वी को भी आता है, आर्त्त-रौद्र ध्यान भी होता है। शुभ को हेय मानते हुए श्रद्धा का बल कहाँ है – यह बात देखने को है ॥१५॥ – आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २४

(६१३)

प्रश्न :– शास्त्र में पुण्य को हेय कहा है, तो क्या हमारी अब तक की गई पूजा-भक्ति-व्रतादि पानी में गए ?

उत्तर :– नहीं, नहीं, पानी में नहीं गए – व्यर्थ नहीं गए। इन पूजा-भक्ति-व्रतादि से पुण्य बँधता है और उससे भव मिलता है, परन्तु भवरहित नहीं होते ॥१६॥ – आत्मधर्म : अगस्त १९८०, पृष्ठ २५

(६१४)

प्रश्न :– तब हमें पूजा-भक्ति आदि करना चाहिए या नहीं ?

उत्तर :– करने न करने की बात नहीं है। करने योग्य कार्य तो राग से भिन्नता करके एकमात्र आत्मा की अनुभूति करना ही है। आत्मा ज्ञानस्वरूप पूर्णानन्द प्रभु है, उसके सन्मुख ढलने पर धर्मीजीव को जबतक पूर्ण स्थिरता न हो तबतक पूजा-भक्ति-व्रतादि का शुभराग आता है, होता है, भूमिकानुसार शुभराग आए बिना रहता नहीं; किन्तु धर्मीजीव उसको धर्म या धर्म का कारण नहीं मानता, वह शुभराग पुण्यबन्ध का कारण है – ऐसा जानता है ॥१७॥ – आत्मधर्म : अगस्त १९८०, पृष्ठ २५

(६१५)

प्रश्न :– ज्ञानी के शुभराग को व्यवहार से अमृतकुम्भ कहा है, तो फिर अज्ञानी के शुभराग को भी अमृतकुम्भ कहने में क्या बाधा है ? ज्ञानी हो या अज्ञानी, शुभराग तो शुभराग ही है न ?

उत्तर :– ज्ञानी को शुद्धस्वभाव की दृष्टि-ज्ञान आदि हुए हैं, उसको द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं, वे सब अपराधरूपी दोषों को घटाने में समर्थ होने से अमृतकुम्भ समान हैं – ऐसा व्यवहार से कहने में आता है, क्योंकि धर्मी को शुद्धस्वभाव की दृष्टि-ज्ञान आदि होने के कारण उसके प्रतिक्रमणादि शुभभाव से अशुभभाव घटता है, अतः उसके शुभराग को व्यवहार से अमृतकुम्भ कहा है। परन्तु जिसको प्रतिक्रमण से विलक्षण ऐसे अप्रतिक्रमणरूप शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान नहीं हुए उसको तो व्यवहारप्रतिक्रमणादि विषकुम्भ ही हैं। जिसको शुद्धस्वभाव का श्रद्धान-ज्ञान नहीं हुआ, उसके द्रव्यप्रतिक्रमणादि दोष घटाने में बिल्कुल समर्थ नहीं हैं, इसलिए उसके लिए तो वे प्रतिक्रमणादि विषकुम्भ ही हैं। ज्ञानी के निश्चय-दृष्टि होती है; इसलिए उसका शुभव्यवहार दोष घटाने का कारण है – ऐसा कहा जाता है, क्योंकि निश्चय सहित का व्यवहार अशुभ के दोष को घटाता है। किन्तु जिसके निश्चय नहीं है, उसके तो व्यवहार ही नहीं है, उसके तो मिथ्यात्व है और वह भी अशुभ है, इसलिए उसके दोष नहीं घटते। सम्यग्दृष्टि को निश्चय का बल है, इसलिए उसको मिथ्यात्व तो है ही नहीं और उसका व्यवहार शुभ है, उससे अंशरूप में अशुभ घटता है,

अतः व्यवहार मे उसे अमृतकुम्भ कहा है। वास्तव में तो सम्यग्दृष्टि का शुभराग भी विषरूप है, तथापि उसमें अमृतरूपभाव का आरोप करके शुभराग को अमृतरूप व्यवहार से कहा है। मिथ्यादृष्टि का शुभराग तो अकेला विषरूप ही होने से उसमें अमृतकुम्भ का आरोप भी नहीं किया जा सकता ॥१८॥ — आत्मधर्म : जून १९८१, पृष्ठ २६

(६१६)

प्रश्न :— क्या राग भी असत् है? क्या राग से स्व और पर को लाभ नहीं होता ?

उत्तर :— वास्तव में आत्मा के शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से राग भी असत् है, उस राग से स्व और पर को लाभ नहीं होता। देखो, जिस राग के निमित्त से तीर्थंकर नामकर्म बंधता है, उस राग से भी सचमुच किसी को लाभ नहीं होता, क्योंकि उस जीव को वर्त्तमान में उस राग के कारण वीतरागदशा अटक गई है। जब स्वभाव के आश्रय के बल से उस राग का छेद करेगा, तभी वीतरागता और मुक्ति होगी; इसलिये उस राग से स्व को लाभ नहीं है।

अब उस राग से दूसरे को भी लाभ नहीं है, यह बात समझाते हैं।

प्रथम तो उस राग के निमित्त से जो तीर्थंकर नामकर्म बंधा है, उसका फल तो राग का अभाव होनें के पश्चात् ही प्राप्त होगा अर्थात् जब उस राग का अभाव करके केवलज्ञान प्रगट करेगा, तभी वह तीर्थंकर नामकर्म उदय में आयेगा और दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश होगा, तभी वह अनन्तसुख का भोक्ता बनेगा। अब जबतक दिव्यध्वनि के श्रोता का लक्ष वाणी के ऊपर भी रहेगा, तबतक उसे विकल्प और राग की उत्पत्ति होगी और जब उस वाणी का लक्ष छोड़कर स्वयं अपने लक्ष से स्थिर होगा, तभी सम्यग्दर्शनादि का लाभ होगा, इसलिये निश्चय हुआ कि राग से पर को भी लाभ नहीं होता।

जब स्वयं को निज लक्ष से लाभ हुआ, तब उपचार से ऐसा कहा जाता है कि भगवान की वाणी से अपूर्व लाभ हुआ अथवा 'उदय श्रीजिनराज का भविजन को हितकार'; परन्तु यह मात्र उपचारकथन है। वास्तव में पर से लाभ हुआ नहीं है, अपने राग से भी लाभ नहीं है, लाभ तो स्व-स्वभाव के आश्रय से ही हुआ है ॥१९॥

— आत्मधर्म : दिसम्बर १९८२, पृष्ठ २६

(६१७)

प्रश्न :– ज्ञानी शुभराग को भला नहीं जानते तो अतिचार का प्रायश्चित क्यों लेते हैं ?

उत्तर :– प्रतिक्रमण-प्रायश्चित आदि के शुभराग को भी विषकुंभ कहा है। विषय-वासना का अशुभराग तो जहर है ही, पर शुभराग भी जहर है। भगवान आत्मा अमृतकुंभ है। राग उससे विरुद्धस्वभावी होने से जहर ही है। समयसार में प्रतिक्रमण आदि को भी जहर कहा है ॥२०॥

– आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ २६

(६१८)

प्रश्न :– सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखना तो शुभभाव है न ?

उत्तर :– सभी आत्माएँ सिद्ध समान हैं, किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं – ऐसा मैत्रीभाव ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, शुभभाव नहीं ॥२१॥

– आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ २६

(६१९)

प्रश्न :– पुण्य से मिलनेवाले पैसे को पाप क्यों कहा है ?

उत्तर :– पैसे को दस प्रकार के परिग्रह में गिना है – इस अपेक्षा से पाप कहा है, किन्तु वास्तव में तो पैसा ज्ञेय मात्र है, उसको अपना मानकर ममता करना, वह पाप है; और उस पाप में पैसा निमित्त है, इसलिए उसको भी पाप कहा है ॥२२॥ – आत्मधर्म : सितम्बर १९८१, पृष्ठ २५

(६२०)

प्रश्न :– समयसार गाथा ७२ में पुण्य-भाव को अशुचि कहा, जड़स्वभाव भी कहा; अतः हम भक्ति आदि का शुभराग करें या नहीं ?

उत्तर :– जबतक वीतरागता न हो, तबतक राग अपने काल में हुये बिना रहेगा नहीं; परन्तु राग मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा भाव तो राग रहित चैतन्य स्वभाव है – इसप्रकार अन्तर में राग और चैतन्यस्वभाव का भेदज्ञान करना चाहिये। राग का अभाव तो वीतरागी के होता है, किन्तु जो रागी है, उसके तो भक्ति आदि का भाव हुये बिना रहेगा नहीं। दो दशाओं में शुभराग नहीं होता, या तो तीव्र विषयकषाय में पड़े हुये हों या फिर जो वीतराग हो गये हों। निचलीदशा में रहनेवाले पात्रजीव को भक्ति-स्वाध्याय आदि का शुभभाव आये बिना कैसे रह सकता है ? फिर भी धर्मी को अन्तर में भान होता है कि रागभाव हमारे

स्वभाव से विरुद्धभाव है, हमारा स्वभाव राग का कर्त्ता नहीं है, हम तो पवित्र चैतन्यस्वरूपी हैं। इस प्रकार शुभराग होने पर भी धर्मी उसे अपना कर्त्तव्य नहीं मानता, वह तो स्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाले वीतरागभाव को ही अपना कर्त्तव्य मानता है ॥२३॥

– वीतराग-विज्ञान : नवम्बर १९८३, पृष्ठ २६

(६२१)

प्रश्न :– पुण्य-पाप के भाव को जड़ क्यों कहते हैं ?

उत्तर :– पुण्य-पाप के भाव में चेतन नहीं, इसलिये उसे जड़ कहते हैं; पुण्य-पाप स्पर्श-रस-गन्धवाला जड़ नहीं, किन्तु उसमें जाननापना नहीं है। समयसार में जीव-अजीव अधिकार में उसको अजीव कहा है तथा कर्त्ता-कर्म अधिकार में जड़ कहा है। चूँकि पुण्य-पापभाव में ज्ञान नहीं है – इस अपेक्षा से उसको जड़ कहा गया है ॥२४॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २८

(६२२)

प्रश्न :– शुभ-अशुभभाव में व्यवहार से भेद होने पर भी परमार्थ से भेद माननेवाला घोर संसार में भटकेगा – ऐसा शास्त्र में कहा है; तथा देव-गुरु-वाणी पुण्य के बिना मिलती नहीं; ऐसी स्थिति में अग्रिम भव में उन्हें प्राप्त करने के लिए पुण्य की अपेक्षा तो रहती है न ?

उत्तर :– पुण्य से देव-गुरु-वाणी का योग मिलता है– यह बात सत्य है; परन्तु पुण्यभाव वर्त्तमान में दुःखरूप है और भावी दुःख का कारण भी है – ऐसा शास्त्र में कहा है। कारण कि पुण्य से जो सामग्री मिलेगी, उसके लक्ष से जो राग होगा, वह दुःखरूप है। भगवान की वाणी मिले और उस पर लक्ष जाय, वह राग भी दुःखरूप है। शुभराग आता है, होता है; फिर भी चेतन का धर्म शुभराग नहीं है, शुभराग तो दुःखरूप ही है। अहा हा ! यह बात जगत् को चुभती हुई लगती है और सूक्ष्म होने के कारण अन्तर प्रवेश होना कठिन है, परन्तु क्या करें सत्य तो ऐसे ही है ॥२५॥ – आत्मधर्म : जून १९७८ पृष्ठ २४

(६२३)

प्रश्न :– स्वरूप का अनुभव हुआ न हो और शुभ को हेय जानने लगे तो क्या स्वच्छन्दी नहीं हो जायेगा ?

उत्तर :– शुभराग को हेय जानने से शुभराग छूटता नहीं है। स्वभाव का माहात्म्य आने पर शुभराग का माहात्म्य छूट जाता है;

परन्तु शुभराग छूटता नहीं। शुभराग तो भूमिकानुसार अपने काल में आए विना रहता नहीं। वस्तु के सच्चे स्वरूप का ज्ञान करने पर स्वच्छन्दता रह नहीं सकती ॥२६॥

– आत्मधर्म : मार्च १९७८, पृष्ठ २६

(६२४)

प्रश्न :– यह सत्य वात सुनने पर भी वर्त्तमान में धर्म प्राप्त न हो तो क्या करें ?

उत्तर :– सत्य का श्रवणादि रसपूर्वक करता है, इसलिये उससे संस्कार पड़ते हैं; इन संस्कारों से धर्म प्राप्त होता है। भले अभी विकल्प न टूटे तो भी उसके संस्कार से भविष्य में धर्म प्राप्त होता है ॥२७॥

– आत्मधर्म : मार्च १९७८, पृष्ठ २६

(६२५)

प्रश्न :– गृहस्थ को पुण्य परिणाम का क्षय करना – ऐसा आप कहते हो ?

उत्तर :– पुण्य परिणाम का क्षय तो जव शुद्धोपयोग पूर्ण हो, तब होता है। निचली भूमिका में तो पुण्य परिणाम का क्षय नहीं हो सकता; फिर भी पुण्य परिणाम हेयरूप है, क्षय करने लायक है – ऐसी दृष्टि प्रथम करनी चाहिये। पुण्यभाव हेय है, क्षय करने योग्य है; ऐसा जो नहीं मानता – वह मिथ्यादृष्टि है। निचली भूमिका में शुभभाव आए विना रहता नहीं; फिर भी पहले दृष्टि में उसका निषेध होना चाहिए ॥२८॥

– आत्मधर्म : दिसम्वर १९७७, पृष्ठ २७

(६२६)

प्रश्न :– जीव अभी (वर्त्तमान में) पुण्य-पाप करता है, उसका फल कव मिलता है ?

उत्तर :– किये हुए पुण्य-पाप का फल किसी जीव को इसी भव में प्राप्त हो जाता है और किसी को अगले जन्मों में मिलता है। किसी को पण्यभाव एवं पवित्रता की विशेषता के वल से पूर्व के पाप संक्रमित होकर पुण्यरूप भी हो जाते हैं। इसीप्रकार तीव्र पाप से पूर्व का पुण्य पलटकर पापरूप भी हो जाता है। यह बात पूर्वबद्ध कर्मों की अपेक्षा से की ह। जब परिणाम अपेक्षा से विचार करें तो पुण्य-पाप के भावों का भोग तो उन परिणामों के समय हो जोव को हो जाता है, उनकी मन्द-तीव्र

आकुलता का तो उसीसमय जीव को वेदन हो जाता है। कोई जीव शुद्धता के बल से पूर्ववद्ध कर्मों को उनके फल मिलने से पहले ही छेद डालता है ॥२६॥ – आत्मधर्म : अगस्त १६७७, पृष्ठ २४

(६२७)

प्रश्न :– कषाय को मन्द करे तो अन्तर्मुख होता है न ?

उत्तर :– नहीं। संसार को कृष करे तो संसारातीत होवे। विष को हलका करे – पतला करे तो अमृत होगा क्या ? पुण्य और पाप दोनों ही वन्ध के कारण हैं, विषरूप हैं, अमृत से विरुद्ध भावरूप हैं। उन दोनों में से किसी एक को ठीक और दूसरे को अठीक मानना, शुभ और अशुभ में भेद मानना, शुभ-अशुभ में कुछ अन्तर है – ऐसा मानना, यह सव घोर संसार में भटकने के कारण हैं – ऐसा कुन्दकुन्द भगवान कहते हैं। भगवान आत्मा अमृतस्वरूप है, उसके सन्मुख होने का साधन वह स्वयं ही है, कषाय की मन्दता किंचितमात्र भी साधन नहीं है। कषाय की मन्दतापूर्वक शुक्ललेश्या के भाव करके द्रव्यलिंगी नवम् ग्रैवेयक तक गया तथापि मिथ्यात्व छूटा नहीं ॥३०॥ – आत्मधर्म : जून १६८० पृष्ठ २५

(६२८)

प्रश्न :– छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय है। पंच परमेष्ठी भगवान भी ज्ञेय में आ जाते हैं, इससे जानने योग्य हैं – ऐसा कहा जाता है, तव हमें भगवान की भक्ति करना चाहिए या नहीं ?

उत्तर :– भक्ति करने न करने की बात नहीं, लेकिन भक्ति का भाव ज्ञेय होने से जानने लायक है – ऐसा कहा है। समयसार गाथा ११ में ऐसा कहा है कि भूतार्थ प्रभु का आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है। त्रिकाली का आश्रय लेकर जो निर्मल पर्याय प्रकट हुई उसको भी त्रिकाली से भिन्न कहा है और गाथा १२ में कहा है कि साधक हुआ उसको शुद्धता के थोड़े अंश हुए हैं। अशुद्धता के अंश हैं, उसका क्या ? तो कहते हैं कि यह शुद्ध-अशुद्ध पर्याय अंश है, वह जानने योग्य है ॥३१॥

– आत्मधर्म : अगस्त १६७६, पृष्ठ २२

(६२६)

प्रश्न :– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष उसे देव देता है। जिसके पास होता है, वह देता है, तो यह किसप्रकार है ?

उत्तर :– यह तो निमित्त से व्यवहार का कथन है। देव की ओर

झुकाववाले को शुद्धता प्रकट होती है और साथ में पुण्यबन्ध होता है। उसके फल में काम और अर्थ मिलता है ॥३२॥

— आत्मधर्म : अगस्त १६७६, पृष्ठ २२

(६३०)

प्रश्न :— यह तो ठीक! भगवान के पास से क्या यह सब मिलता है?

उत्तर :— जिसको काम और अर्थ की स्पृहा है, भावना है, उसको मिलता नहीं; लेकिन जिसको आत्मा के हित की भावना है, उसके साथ पुण्य बँधता है और उसका फल मिलता है, यह बात समझाई है ॥३३॥

— आत्मधर्म : अगस्त १६७६, पृष्ठ २२

(६३१)

प्रश्न :— व्रत-तप-त्याग के शुभभाव से आत्मा का मैल निकल जाता है क्या?

उत्तर :— नहीं, यह तो राग है; इसको अपना मानना मिथ्यात्व है, दोष है, भ्रम है ॥३४॥ — आत्मधर्म : अक्टूबर १६७८, पृष्ठ २४

(६३२)

प्रश्न :— साधारण जीवों के लिए तो व्रतादि करना ही धर्म है न?

उत्तर :— साधारण जीवों के लिए भी यह व्रतादि के शुभभाव धर्म नहीं है, इनसे जन्म-मरण का अन्त नहीं आता और इनमें लाभ-बुद्धि की जाय तो जन्म-मरण बढ़ता है; धर्म तो एकमात्र वीतराग भाव ही है।

आत्मा कौन है और क्या कर सकता है तथा उसका स्वरूप क्या है, यह सब समझने का अभ्यास प्रथम करके आत्मज्ञान होता है; तत्पश्चात् व्रतादि का विकल्प आता है। आत्मा को समझे बिना यदि व्रतादि-क्रिया लाभ-बुद्धि से की जाय तो मिथ्यात्व की पुष्टि होती है ॥३५॥

— आत्मधर्म : अक्टूबर १६७८, पृष्ठ २४

(६३३)

प्रश्न :— क्या किसी अपेक्षा ज्ञान भी बंध का कारण हो सकता है?

उत्तर :— शास्त्रज्ञान पुण्यबन्ध का कारण है, संसार का ज्ञान पापबन्ध का कारण है और आत्मज्ञान धर्म का कारण है। शास्त्र का ज्ञान पुण्यबन्ध का कारण है, किन्तु कौन-सा शास्त्र? सर्वज्ञकथित शास्त्र का ज्ञान पुण्य का कारण है, अन्य के कहे हुए शास्त्रों की तो बात भी नहीं है। शास्त्रज्ञान है, उसमें शास्त्र निमित्त है, वह परलक्षीज्ञान है, इसलिए निषिद्ध है, आत्मा का ज्ञान निश्चय है। उसी भाँति नवतत्त्वों की श्रद्धा में नवतत्त्व निमित्त है,

आत्मा निमित्त नहीं है। इसलिए वह भेदवाली श्रद्धा राग है, व्यवहार है और वह व्यवहारश्रद्धा अभव्य को भी होती है, उसे आत्मा की श्रद्धा नहीं है। षट्काय के जीवों की दया का विकल्प शुभराग है। ये सब होने पर भी निश्चयचारित्र नहीं हो, ऐसा भी हो सकता है, क्योंकि निश्चयचारित्र तो स्व के आश्रय से होता है और उसके साथ व्यवहारचारित्र का विकल्प हो भी और न भी हो ॥३६॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १९७९, पृष्ठ २५

(६३४)

प्रश्न :– एकमात्र अध्यवसान ही बन्ध का कारण है, बाह्यवस्तु बन्ध का कारण नहीं; तब क्या बाह्यवस्तु के बिना बन्ध होता है ?

उत्तर :– शुभ-अशुभरूप अध्यवसान एक ही बन्ध का कारण है, तदतिरिक्त कोई बाह्यवस्तु बन्ध का कारण होती हो – ऐसा है नहीं। पुण्य-पापरूपभावों में जो एकत्वबुद्धिरूप अध्यवसान है वही बन्ध का कारण है। बाह्यवस्तु अध्यवसान होने का कारण – निमित्त तो होती है, क्योंकि बाह्यवस्तु का आश्रय करके ही अध्यवसान होता है, फिर भी बाह्यवस्तु बन्ध का कारण तो कदापि होती नहीं है। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती के ९६ करोड़ पैदल सेना और ९६ हजार रानियाँ आदि बाह्यवैभव है, परन्तु वह सब कुछ बन्ध का कारण नहीं है; बन्ध का कारण तो एकमात्र अध्यवसान ही है, बाह्यवस्तु रंचमात्र भी बन्ध का कारण नहीं है। यदि बाह्यवस्तु बन्ध का कारण होती तो सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती तीर्थंङ्करादि के प्रभूत अनुकूल सामग्री होती है, किन्तु उनको अध्यवसान के अभाव होने से वह बाह्यसामग्री भी बन्ध का कारण नहीं होती। एक अध्यवसान ही बन्ध का कारण है, संसार की जड़ है; इसलिए उसीसे नरक-निगोदादि चौरासी के अवतार होते हैं ॥३७॥ – आत्मधर्म : मई १९८०, पृष्ठ २६

(६३५)

प्रश्न :– यदि बाह्यवस्तु बन्ध का कारण नहीं है तो शास्त्रों में बाह्यवस्तु के त्याग करने का उपदेश क्यों दिया ?

उत्तर :– बाह्यवस्तु बन्ध का कारण है ही नहीं, क्योंकि वह बाह्यवस्तु अपनी आत्मा के द्रव्य-गुण में तो है नहीं और पर्याय में भी उसका अभाव है, अतः वह बन्ध का कारण नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि बन्ध का कारण जो अध्यवसान है, वह बाह्यवस्तु के आश्रय से ही होता है, बिना उसके आश्रय के नहीं होता; इसलिए बन्ध का कारण मानकर बाह्यवस्तु के भी त्याग का उपदेश जिनवाणी में किया गया है ॥३८॥

– आत्मधर्म : मई १९८०, पृष्ठ २६

(६३६)

प्रश्न :– संसार की थकावट लगाने का उपाय क्या है ?

उत्तर :– संसार में शुभाशुभ भाव हैं, वे सब दुःखरूप हैं, उनके फल में चतुर्गति मिलती है, वहाँ अनेक प्रकार के दुःख और आकुलतायें हैं – ऐसा अपने को अन्दर से लगना चाहिए। शुभाशुभ भाव दुःखरूप ही हैं – ऐसा लगे तो संसार की थकावट लगे ॥३९॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९८०, पृष्ठ २६

(६३७)

प्रश्न :– क्या धर्म करने से शरीर का रोग नहीं मिटता ?

उत्तर :– अरे भाई ! शरीर का रोग मिटाना धर्म का कार्य नहीं है, पूर्व का पुण्य पल्ले हो तो शरीर निरोगी होता है। धर्म के फल से शरीर का रोग मिटता है – ऐसा माननेवाला धर्म के स्वरूप को समझा ही नहीं है। पुण्य शुभपरिणाम से होता है और धर्म शुद्धस्वभाव प्रगट करने से होता है, इसका उसे विवेक नहीं है। सनतकुमार चक्रवर्ती को दीक्षा लेने के बाद महान् धर्मात्मा होने पर भी अनेक वर्षों तक शरीर में रोग रहा और शरीर पर धर्म का कोई असर नहीं हुआ। धर्म से शरीर निरोगी रहे – ऐसा नहीं है। धर्म के फल में तो आत्मा में अपूर्व आनन्द का अनुभव प्रगट होता है। धर्म के साथ पुण्य और शरीरादि का सम्बन्ध ही नहीं होता। मोक्षमार्ग में पुण्य का भी निषेध है। शुभभाव करते-करते धर्म होगा – यह मान्यता ही भूलभरी है ॥४०॥

– वीतराग-विज्ञान : अगस्त १९८३, पृष्ठ २५

(६३८)

प्रश्न :– यदि राग का भी आदर कर लिया जाय तो क्या हानि है ? आगम में राग के आदर का इतना निषेध क्यों ?

उत्तर :– राग का जहाँ आदर है, वहाँ वीतरागस्वभाव का अनादर है और जहाँ वीतरागस्वभाव का अनादर है, वहाँ उस वीतरागता को प्राप्त सर्वज्ञ का, सर्वज्ञता के साधक साधुओं का, तथा उसके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों का भी अनादर है। वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र की आज्ञा तो वीतरागभाव की ही पोषक हैं, उसके बदले जिसने अपने अभिप्राय में राग का पोषण किया, उसने वास्तव में वीतरागी की आज्ञा का उल्लंघन किया है। बाहर से भले ही वीतराग की भक्ति-पूजा-बहुमान का शुभभाव करता हो, परन्तु अन्तर में वीतरागी स्वरूप के अज्ञानपने के कारण वह अपने

अभिप्राय में तो राग का ही सेवन और राग की ही भक्ति-पूजा-बहुमान कर रहा है। अज्ञानी का यह विपरीत अभिप्राय ही वीतराग की महान् विराधना करके अमाप पाप का बन्ध करता है, इसका विचार जगत के जीवों को नहीं है ॥४१॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९८३, पृष्ठ २५

(६३९)

प्रश्न :– पुण्य प्राप्त हो ऐसा कौन-सा धन्धा है ?

उत्तर : सच्चे जैन शास्त्रों का बाँचन, विचार, श्रवण करे तो पुण्य बन्ध हो और यदि उसमें सच्ची समझ करे तो चौरासी के भ्रमण से छुटकारा मिल जाय अर्थात् मुक्ति प्राप्त हो ॥४२॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७८, पृष्ठ २५

—०—

जब तक एक न जानता……

जब तक एक न जानता, परम पुनीत शुद्ध भाव।
मूढ़ों के व्रत-तप सभी, शिव-कारण न कहाय ॥२९॥

जो शुद्धातम अनुभवै, व्रत-संयम संयुक्त।
कहें जिनेश्वर जीव सो, निश्चय पावे मुक्त ॥३०॥

जब तक एक न जानता, परम पुनीत शुद्ध भाव।
व्रत-संयम अरु शील-तप, निष्फल सारे जान ॥३१॥

लहे पुण्य से स्वर्ग-सुख, पड़े नरक कर पाप।
पुण्य-पाप तजि आप में, रमै लहै शिव आप ॥३२॥

व्रत-तप-संयम-शील जो, सो सब है व्यवहार।
शिव-कारण जीव एक है, तीन लोक का सार ॥ ३३॥

— मुनिराज योगिन्दुदेव : योगसार दोहा

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥१०॥

– कविवर दौलतराम : छहढाला, पाँचवीं ढाल

१८

विविध

(६४०)

प्रश्न :– स्त्री-पुत्रादि को लुटेरों की टोली मानने से घर में झगड़ा होता है ?

उत्तर :– परद्रव्य को अपना मानने से ही अंदर में मिथ्यात्व का बड़ा झगड़ा होता है, जिससे चार गति का दुःख भोग रहा है। कुटुम्बीजन स्वार्थ के सगे हैं, यह तो हकीकत है। अपने स्वार्थ-पोषण के लिए प्रेम करते हैं – ऐसा समझकर अन्दर से ममत्व छोड़ना है। यह तो अनादि का झगड़ा छुड़ाने की बात है। लोग १५ अगस्त को स्वतन्त्रता-दिवस कहते हैं। पर से सुख की वांछारूप दीनता छोड़कर स्वभाव में सुख मानना ही सच्ची स्वतन्त्रता है। उस अविनाशी स्वराज्य को भोगनेवाला सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है, वही सच्चा राजा है। बाह्य राज्य को भोगनेवाला राजा तो 'पर' से सुख लेने की आकुलता की ज्वाला को भोगता है, आत्मशान्ति को नहीं ॥१॥ – आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २५

(६४१)

प्रश्न :– श्री वादिराज मुनिराज का कुष्ठरोग स्तुति करते ही मिट गया, मानतुंगाचार्यदेव के कारागार के ताले स्तुति करने से टूट गए, सताजी के निर्दोष शील से अग्नि भी जलरूप हो गई – ऐसा कथन शास्त्र में आता है – इससे हम क्या समझें ?

उत्तर :– पूर्व के पुण्य के योग से वादिराज मुनिराज का कुष्ठ मिट गया, मानतुंगाचार्य के ताले टूट गए और सीताजी का अग्निकुण्ड भी जलसरोवर बन गया, तब उस पुण्योदय का आरोप वर्तमान प्रभु-भक्ति और ब्रह्मचर्य आदि पर करने में आया – ऐसी प्रथमानुयोग की कथन-पद्धति है – उसे यथावत् समझना चाहिये। मोक्षमार्ग प्रकाशक में पं०

टोडरमलजी ने इसका विशेष स्पष्टीकरण किया है, वहाँ से देख लेना ॥२॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९८०, पृष्ठ २५

(६४२)

प्रश्न :– द्रव्यानुयोग का पक्षपाती निश्चयाभासी हो सकता है क्या ?

उत्तर :– हाँ, निश्चय का ज्ञान तो कर ले और अनुभव न करे तथा अपने को अनुभवी मान बैठे तो वह निश्चयाभासी है ॥३॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९८०, पृष्ठ २५

(६४३)

प्रश्न :– मनुष्य का कर्त्तव्य क्या ? मानवधर्म क्या ? कृपया बतलाइए।

उत्तर :– अरे भाई ! सर्व प्रथम तो 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसी मान्यता ही महान भ्रम है। मनुष्यपना तो संयोगी पर्याय है, जीव-पुद्गल के संयोगरूप असमान जातीय पर्याय है, आत्मा का स्वरूप तो नहीं। अतः मनुष्य पर्याय वह मैं नहीं, मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ – ऐसा समझना, यही सबसे प्रथम कर्त्तव्य है – धर्म है। मनुष्यभव प्राप्त करके यदि कुछ करने योग्य है, तो यही है। इसके विपरीत 'मैं मनुष्य ही हूँ' ऐसा मानकर जो कुछ भी क्रियाकलाप करने में आता है, वह सब व्यवहारमूढ़ अज्ञानीजीवों का व्यवहार है ॥४॥ – आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २७

(६४४)

प्रश्न :– पैसा-वैभवादि में आकर्षणशक्ति बहुत प्रतीत होती है ?

उत्तर :– पैसा-वैभवादि में आकर्षण कुछ है ही नहीं, यह तो जीव के मोह की मूर्खता है – पागलपन है। पर में मोह करके अपना भव बिगाड़कर चौरासी के भ्रमण में चला जाता है ॥५॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २८

(६४५)

प्रश्न :– अनन्त काल में अभी तक आत्मा को समझा नहीं, तो अब कैसे समझ में आयेगा ?

उत्तर :– अनन्त काल में नहीं समझ पाया तो इसका अर्थ यह थोड़े ही है कि कभी समझ में आयेगा ही नहीं। क्या समझ-शक्ति नष्ट हो गई है ? जैसे पानी अग्नि के निमित्त से सौ वर्ष तक उष्ण बना रहे तो भी क्या उसका शीतल स्वभाव नष्ट हो गया है ? यदि चूल्हे पर रखी

हुई तपेली का उष्ण जल अग्नि के ऊपर गिर पड़े तो तत्समय भी वह अग्निनाशक स्वभाववाला ही है। वैसे ही अनन्त काल से विपरीत रुचि के कारण आत्मा को नहीं समझा, परन्तु अब यदि रुचि गुलाँट मारे तो क्षणमात्र में आत्मा समझ में आ सकता है और तेरा कल्याण हो सकता है ॥६॥ — आत्मधर्म : मार्च १९८३, पृष्ठ २४

(६४६)

प्रश्न :— स्वच्छन्दता का अर्थ क्या है ?

उत्तर :— विकारी पर्याय मेरी नहीं है — ऐसा मानकर विकार का सेवन करे, अशुद्धता चाहे जितनी होती जाए, तथापि उसका सेवन करता रहे और 'ज्ञानवन्त को भोग निर्जरा हेतु हैं' — ऐसा पढ़कर मानने लगे कि हमारे भी भोग के भाव से, विषय-वासना के भाव से, निर्जरा हो रही है — वह स्वच्छन्दी है। पर्याय में चाहे जैसा विकार हो तो भी हमें क्या ? — ऐसा माने वह स्वच्छन्दता है। सच्चा मुमुक्षु ऐसी स्वच्छन्दता का सेवन नहीं करता। सच्चा ममुक्षु पर्याय में विकार हो उसे अपना अपराध समझता है — ज्ञान में उसे बराबर जानता है। पाप से अनभिज्ञ नहीं रहता, उसका हृदय करुणा और वैराग्य से ओतप्रोत होता है ॥७॥ — आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २३

(६४७)

प्रश्न :— एक ओर देह को भगवान आत्मा का देवालय कहा जाता है; दूसरी ओर उसे मृतक कलेवर कहते हैं तो सही है क्या?

उत्तर :— देह तो मृतक कलेवर ही है, यही सत्य है; पर भगवान आत्मा की महिमा बताते हुए देव में देवालय का उपचार करके भी देव की महिमा की जाती है ॥८॥ — आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २४

(६४८)

प्रश्न :— द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु के ध्यान से केवलज्ञान होता है। इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :— द्रव्यपरमाणु अर्थात् आत्मद्रव्य और भावपरमाणु अर्थात् शुद्ध निर्मलपर्याय। आत्मद्रव्य के ध्यान से शुद्धपर्याय और मोक्ष होता है ॥९॥ — आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ २८

(६४९)

प्रश्न :— जड़ में अनुभूति होती है क्या ?

उत्तर :— हाँ, जड़ में भी अनुभूति होती है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणमन करना ही जड़ में अनुभूति होना कहा जाता है ॥१०॥

— आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ २८

(६५०)

प्रश्न :— यह सारा प्रवचन सुनने के बाद स्मरण नहीं रहता, इसके लिये क्या करें ?

उत्तर :— यदि किसी व्यक्ति ने अपने को कोई चुभती हुई गाली दी हो तो वह तो याद रहती है न ? तो फिर गुण याद क्यों नहीं रहते ? वास्तविकता तो यह है कि अपने को उनकी सच्ची दरकार नहीं है, इसलिये विस्मरण हो जाते हैं; यदि सच्ची दरकार हो तो अवश्य स्मरण रहे ही ॥११॥

— आत्मधर्म : अप्रेल १९७९, पृष्ठ २६

(६५१)

प्रश्न :— शास्त्र में मनुष्य के शरीर में कितने रोग होना कहा है ?

उत्तर :— भावपाहुड़ गाथा ३७ में कहा कि इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल स्थान में छियानवे-छियानवे रोग होते हैं (इस हिसाब से समस्त शरीर में पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवे हजार पाँच सौ चौरासी रोग रहते हैं — ५, ६८,९९,५८४) ॥१२॥

— आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ट २७

(६५२)

प्रश्न :— आप प्रवचनसार की अपेक्षा समयसार का अत्यधिक वखान करते हो। इसका क्या कारण है ?

उत्तर :— प्रवचनसार में ज्ञानप्रधान कथन है और समयसार में दृष्टि कराने के प्रयोजन का कथन मुख्य है। समयसार में विकार को पुद्गल के लक्ष्य से उत्पन्न होता होने से और वह जीव का स्वभाव-भाव न होने से उसकी दृष्टि छुड़ाकर द्रव्य की दृष्टि कराने का कथन मुख्य है और उस द्रव्यदृष्टि से ही सम्यग्दर्शन तथा मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है ॥१३॥

— आत्मधर्म : जुलाई १९७८, पृष्ठ २५

(६५३)

प्रश्न :— दर्शनमोहनीय की एक प्रकृति का नाम 'सम्यक्त्व-प्रकृति' क्यों है ?

उत्तर :— क्योंकि उसके उदय के साथ सम्यक्त्व भी होता है।

अर्थात् सम्यक्त्व की सहचारिणी होने से उसका नाम 'सम्यक्त्व-प्रकृति' पड़ा है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के साथ उसका उदय होता है ॥१४॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २४

(६५४)

प्रश्न :– संख्या की अपेक्षा से बड़े से बड़ा अनन्त कौन ?

उत्तर :– केवलज्ञान का अविभाग प्रतिच्छेद सबसे महान अनन्त है। अलोकाकाश के प्रदेश इत्यादि दूसरे अनन्त से भी वह अनन्तगुना है – ऐसा कहकर भी उसका माप नहीं निकाला जा सकता। आत्मद्रव्य की यह कोई अचिन्त्य शक्ति है। जिसप्रकार विकल्प से उसकी शक्ति का पार नहीं पाया जा सकता, उसीप्रकार गणित से भी उसकी शक्ति का पार नहीं पाया जा सकता ॥१५॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २४

(६५५)

प्रश्न :– भरतक्षेत्र का जीव मरकर सीधा विदेह में जन्म लेता है क्या ?

उत्तर :– हाँ – यदि मिथ्यादृष्टि है, तो विदेह में जन्म ले सकता है। परन्तु आराधक मनुष्य मरकर कर्मभूमि के मनुष्यों में (विदेहादि में) जन्म नहीं लेता – ऐसा नियम है। विराधक जीव तो चाहे जहाँ जन्म ले सकता है। कदाचित् किसी मनुष्य को पूर्व में मिथ्यात्व दशा में मनुष्यायु का बन्ध हो गया हो, पश्चात् सम्यक्त्व (क्षायिक) प्राप्त हो जाय तो वह आराधक जीव मरकर मनुष्य में उत्पन्न होगा, परन्तु वह असंख्यात वर्ष की आयुष्यवाली भोगभूमि में मनुष्य होगा, कर्मभूमि में जन्म नहीं लेगा, ऐसा नियम है। विदेहक्षेत्र भी कर्मभूमि है। भोगभूमि में चतुर्थ गुणस्थान से ऊपर का कोई गुणस्थान नहीं होता और वहाँ का जीव मरकर नियम से स्वर्ग में ही जाता है ॥१६॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २४

(६५६)

प्रश्न :– केवलज्ञानी के शरीर में निगोदिया जीव होते हैं क्या ?

उत्तर :– नहीं, – केवलज्ञानी का परमौदारिक शरीर होता है, अतः उसके आश्रय से निगोदिया जीव नहीं होते। यद्यपि आकाश के उसी क्षेत्र में होते हैं – क्योंकि लोक में सर्वत्र निगोदिया जीव भरे पड़े हैं; तथापि वे जीव परमौदारिक शरीर के आश्रित नहीं हैं। केवली का

परमौदारिक शरीर, मुनि का आहारक शरीर, देवों का तथा नारकियों का वैक्रियक शरीर तथा पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय और तेजोकाय – इन स्थानों के आश्रय से निगोदिया जीव नहीं होते ।।१७।।

– आत्मधर्म : अक्टूबर १६७७, पृष्ठ २४

(६५७)

प्रश्न :–आकाश के एकप्रदेश में अनन्त परमाणु और अनन्त जीवों के प्रदेश कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर :– जिसका जो स्वभाव हो, उसमें कोई मर्यादा या हद नहीं हो सकती; स्वभाव तो सदैव अमर्यादित और असीम ही होता है। लोक में स्थित अनन्त परमाणु सूक्ष्मरूप से आवें तो उन्हें आकाश का एकप्रदेश अवगाहन देता है; ऐसा अवगाहन देने का आकाश का अमर्यादित स्वभाव है। आकाश के एकप्रदेश में इतना असीम सामर्थ्य है कि अनन्त पुद्गलों और अनन्त जीवों के प्रदेशों को तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल के एक-एक प्रदेश को एक साथ अवगाहन दे सकता है।

जितने क्षेत्र में एक परमाणु रहता है, आकाश का एकप्रदेश उतने ही मापवाला होता है; किन्तु उसमें अनन्त को अवगाहन देने की अमाप सामर्थ्य है। देखो ! यह सारी बातें कहने का मूल तात्पर्य तो इन सबको जाननेवाली एक समयवर्त्ती ज्ञानपर्याय की सामर्थ्य बताने का है।

एकसमय की ज्ञानपर्याय अनन्तानन्त पदार्थों को, उनकी भूत-भविष्य की पर्यायों सहित जान लेती है। अरे ! जब जड़रूप आकाश का एकप्रदेश अनन्त रजकण को स्थान दे सकता है तो उसको जाननेवाले जीव के ज्ञायकस्वभाव की सामर्थ्य: का क्या कहना ? वह तो अमर्यादित, अमाप और अनन्त है ही। गजब बात है ! अरे ! यह तो अपना ही हित करने की बात है; दूसरों को समझाने के लिये नहीं। अपने ज्ञान की सामर्थ्य स्वयं समझकर, श्रद्धा में लेकर अन्दर में समाने के लिए है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि – "जो समझा वह समा गया, बाह्य में कहने के लिये रुका नहीं"। अहा हा ! ऐसे स्वभाव का माहात्म्य जिस पर्याय में आया, वह पर्याय अन्दर में प्रविष्ट हुए विना रहे नहीं, और भगवान आत्मा से भेंट करे ही ।।१८।।

– आत्मधर्म : अगस्त १६७६, पृष्ठ २४

(६५८)

प्रश्न :– एक पुद्गलपरमाणु के दो टुकड़े नहीं हो सकते, क्योंकि वह अत्यन्त छोटा है, तो फिर उसमें अनन्त गुण किसप्रकार हो सकते हैं ?

उत्तर :— एक परमाणु के दो भाग नहीं हो सकते; इतना सूक्ष्म होने पर भी उसमें अनन्त गुण (जीव के गुणों के समान) हैं। अहा हा ! ऐसा वस्तु का स्वभाव सर्वज्ञ ने देखकर, जानकर कहा है। आत्मा स्वयं ही सर्वज्ञस्वभावी है। एक परमाणु और उसके अनन्त परमाणुओं का एक स्कन्ध तथा ऐसे अनन्त स्कन्धों का एक महास्कन्ध – इन सब को जाननेवाला आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। इस सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की सच्ची श्रद्धा करनी है, क्योंकि श्रद्धा-ज्ञान को सम्यक् किए बिना समस्त तप-त्याग संसार-भ्रमण के कारण हैं ॥१९॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७९, पृष्ठ २४

(६५९)

प्रश्न :— एक सूक्ष्मपरमाणु अथवा सूक्ष्मस्कन्ध क्या अकेला स्थूल-रूप से परिणमन करता है ?

उत्तर : – नहीं, – दूसरे स्थूलस्कन्ध के साथ मिलने पर ही उसमें स्वयं स्थूलरूप परिणमन होता है। जिसप्रकार अनादि का अज्ञानी जीव, ज्ञानी के निमित्तपूर्वक ही ज्ञानी होता है; उसीप्रकार स्थूलस्कन्ध के निमित्तपूर्वक ही दूसरा सूक्ष्मस्कन्ध या परमाणु स्थूलरूप से परिणमन करता है। यह अनादि नियम है ॥२०॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २३

(६६०)

प्रश्न :— एक परमाणु को आँख से अथवा सूक्ष्मदर्शी यन्त्रादि से देख सकते हैं क्या ?

उत्तर :— नहीं, – पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी ज्ञान का वह विषय नहीं है। अवधिज्ञान से परमाणु को जान सकते हैं; किन्तु अवधिज्ञान बाहर के किसी साधन से होता नहीं, अवधिज्ञान आँख से भी जानता नहीं; तथा परमाणु को जान सके ऐसा सूक्ष्म अवधिज्ञान तो ज्ञानी के ही होता है – अज्ञानी को ऐसा अवधिज्ञान नहीं होता। अर्थात् यह नियम है कि जो एकत्वरूप परम आत्मा को जानता है, वही परमाणु को जान सकता है ॥२१॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २३

(६६१)

प्रश्न :— आपके समयसार में अध्यात्म का विषय सूक्ष्म है। हम तो यात्रा करने आये हैं, अतः हमें कोई सरल बात बताइये ?

उत्तर :– हम तो सबको भगवान् देखते हैं। अन्दर नित्यानन्द प्रभु त्रिकाली चैतन्य भगवान् विराजमान है, उसके आश्रय से धर्म होता है। विकल्प और पर का लक्ष छोड़कर अन्दर में भूतार्थस्वभावी भगवान् का आश्रय ही करने योग्य कार्य है ॥२२॥

– आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २५

(६६२)

प्रश्न :– वर्त्तमान में कोई केवलज्ञानी दिखाई नहीं देता, अतः केवलज्ञान सिद्ध नहीं होता ?

उत्तर :– केवलज्ञान असिद्ध नहीं है – ऐसा कषायप्राभृत-जयधवला पुस्तक १, पृष्ठ ४४ में कहा है। क्योंकि स्व-संवेदन-प्रत्यक्ष द्वारा केवलज्ञान के अंशरूप ज्ञान की निर्बाधपने उपलब्धि होती है। अर्थात् मति-ज्ञानादिक केवलज्ञान के अंशरूप हैं और उनकी उपलब्धि स्व-संवेदन प्रत्यक्ष से सभी को होती है, इसलिये केवलज्ञान के अंशरूप अवयव प्रत्यक्ष हैं और अवयव के प्रत्यक्ष होने पर अवयवी (केवलज्ञान) को परोक्ष कहना युक्त नहीं है ॥२३॥ – आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २८

(६६३)

प्रश्न :– अनेकान्त क्या है, तथा जैनशासन और उसकी व्यवस्था क्या है ?

उत्तर :– एक वस्तु में वस्तुपने की निपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना वह अनेकान्त है। जो वस्तु नित्य है, वही अनित्य है; जो एक है, वही अनेक है, – इसप्रकार जो प्रकाशित करता है, वह जैनशासन का रहस्य है। अन्य प्रकार से कहें तो जो सत्ता को अभेद द्रव्यरूप कहे, वह निश्चय और जो उसी सत्ता को गुणभेदरूप कहे, वह व्यवहार – यह अनेकान्त है। अनेकान्त में विशेष तो यह है कि जो वस्तु है उसी वस्तु में विरुद्ध दो शक्तियाँ हैं। नित्य और अनित्य वस्तु स्वयं ही है। यह ज्ञान की पर्याय शब्द सुनने से बदलकर नई उत्पन्न हुई है, वह शब्द से नहीं हुई, अपने से ही हुई है। ज्ञान की पर्याय बदलकर नई-नई होती है, वह शास्त्र बाँचने से नहीं होती, किन्तु अपने से ही होती है। स्वयं ही नित्य और अनित्य धर्मरूप दो विरुद्ध शक्तियों से प्रकाशित हो, उसको जैनशासन का अनेकान्त कहते हैं। एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व का अभाव है। जो तत्त्व है, वह अपने से है और पर से नहीं है – यही

अनेकान्त है – यही जैनशासन है। जो पदार्थ है, उसकी व्यवस्था अपने से ही व्यवस्थित होती है – यही जैनशासन की व्यवस्था की व्यवस्था है ।।२४।। – आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ २०

(६६४)

प्रश्न :– अभव्य को केवलज्ञान का आवरण करनेवाला केवलज्ञानावरणी है या नहीं ?

उत्तर :– है, अभव्य को भी शक्ति अपेक्षा से केवलज्ञान है अर्थात् उसके भी केवलज्ञान होने की शक्ति विद्यमान है, अतः केवलज्ञानावरणी आवरण होता है ।।२५।। – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(६६५)

प्रश्न :– प्रवचन तो वर्षों से सुनते आ रहे हैं, अब तो अन्दर जाने का कोई संक्षिप्त मार्ग बताइये ? जीवन अल्प रह गया है ?

उत्तर :– आत्मा अकेला ज्ञानस्वभाव चिद्घन है, अभेद है, उसकी दृष्टि करो। भेद के ऊपर लक्ष करने से रागी जीव को राग उत्पन्न होता है, इसलिए भेद का लक्ष छोड़कर अभेद की दृष्टि करो – यह संक्षिप्त सार है ।।२६।। – वीतराग-विज्ञान : अप्रेल १९८४, पृष्ठ २६

(६६६)

प्रश्न :– राग को सुख का साधन माननेवाला क्या भूल करता है ?

उत्तर :– जिसने राग को सुख का साधन माना, उसकी मान्यता में यह बात बैठ गई कि जहाँ राग नहीं होगा, वहाँ सुख भी नहीं होगा। राग के बिना अतीन्द्रिय वीतरागसुख होता है – यह बात उसकी श्रद्धा में नहीं आई और जहाँ अतीन्द्रियसुख की श्रद्धा भी न हो, वहाँ उसका उपाय भी कैसे बन सकेगा ? राग के एक विकल्प को भी जो जीव सुख का या ज्ञान का साधन मानता है, वह जीव इन्द्रियविषयों में ही सुख मानता है और आत्मा के 'स्वयंभू' सुखस्वभाव को नहीं मानता ।।२७।।

– आत्मधर्म : फरवरी १९८३, पृष्ठ २५

(६६७)

प्रश्न :– यह सब कुछ जानने में आता है, फिर भी आत्मा जानने में क्यों नहीं आता ?

(६६८)

उत्तर :– यह सब ज्ञात हो रहा है, उसका ज्ञाता कौन है ? जिस सत्ता में यह सब जानने में आ रहा है, उसका जाननेवाला जानने में नहीं आता – यही भ्रम है। यह शरीर है, मकान है, धन है, स्त्री-पुत्रादि हैं, ऐसा जो जानने में आता है, वह किसमें ज्ञात होता है ? यह सब जाना जाता है, वह जाननेवाले की सत्ता में ज्ञात होता है। जाननेवाले की सत्ता की मुख्यता में यह सब ज्ञात होता है। इस जाननेवाले को जाने नहीं, माने नहीं; यह भ्रम ही चौरासी के अवतार में भटकाने का कारण है। शरीरादि तो इस जाननेवाले से भिन्न वस्तु है, उससे भिन्न रहकर जाननेवाला अपनी सत्ता में खड़ा रहकर जानता है। इस जाननेवाले को जाने और माने तो भवभ्रमण से छुटकारा मिल सकता है ॥२८॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १६८०, पृष्ठ २७

(६६६)

प्रश्न :– अज्ञानी पुरुष का संसार क्या है और आत्मज्ञान शून्य विद्वान् का संसार क्या है ?

उत्तर :– जो पुरुष अज्ञानी है अर्थात् वास्तविक रीति से हिताहित को जानता नहीं है, उसका संसार तो स्त्री-पुत्रादि ही हैं। परन्तु जो विद्वान् है, शास्त्रों का अक्षराभ्यास भी विशदरूपेण कर चुका है, अनेकों श्लोक-गाथायें अपने स्मृति-पटल पर अंकित कर चुका है, किन्तु आत्मज्ञान से शून्य है, उसका संसार शास्त्र हैं ॥२६॥

– आत्मधर्म : फरवरी १६७६, पृष्ठ २६

(६७०)

प्रश्न :– अनन्तानुबन्धी लोभ किसे कहते हैं ?

उत्तर :– अपनी स्वभावपर्याय (सम्यग्दर्शनादि) प्रगट करूँ, तभी वास्तविक सन्तोष है – ऐसा न मानकर अज्ञानी जीव अशुभ में शुभ में आ जाये, उसी में सन्तोष मान लेता है अर्थात् शुभराग में ही सन्तुष्ट होकर उसी में अटक जाता है। ऐसे जीव को वास्तव में राग का लोभ है और इसी को अनन्तानुबन्धी लोभ कहते हैं ॥३०॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १६८२, पृष्ठ २४

(६७१)

प्रश्न :– मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में द्रव्यस्वभाव भासित नहीं होता तो क्या उसे द्रव्य का अभाव है ?

उत्तर :– मिथ्यादृष्टि को द्रव्य भासित नहीं होता, इसलिये उसके ज्ञान में द्रव्य अभावरूप है। ज्ञानी को तो पर का द्रव्य भी भासित होता है, इसलिए अज्ञानी के द्रव्य को ज्ञानी भगवानस्वरूप देखता है। किन्तु अज्ञानी को तो द्रव्य दिखाई ही नहीं पड़ना, अतः उसकी दृष्टि में तो द्रव्य अभावरूप ही है ॥३१॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २८

(६७२)

प्रश्न :– अज्ञानी जीव को मोक्ष की श्रद्धा है या नहीं ?

उत्तर :– मोक्ष की श्रद्धा अज्ञानी को नहीं है, क्योंकि शुद्धज्ञानमय आत्मा को वह जानता नहीं; इसलिए उसे मोक्ष की भी श्रद्धा नहीं है और मोक्ष की श्रद्धा हुए विना जितने भी शास्त्र पढ़ जाय तथापि आत्मा का लाभ नहीं हो सकता – सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। शास्त्रों का हेतु तो शुद्धज्ञानमय आत्मा दर्शाकर मोक्ष के उपाय में उद्यमवन्त करना है, परन्तु जिसे मोक्ष की श्रद्धा ही नहीं उसे शास्त्र पढ़ना कैसे गुणकारी होगा ? ग्यारह अंग पढ़ने पर भी अभव्य अज्ञानी रहता है ॥३२॥

– आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २८

(६७३)

प्रश्न :– न्याय और तर्क से तो यह वात जमती है, किन्तु अन्दर जाने का साहस क्यों नहीं हो पाता ?

उत्तर :– अन्दर में पहुँचने का जितना पुरुषार्थ होना चाहिए उतना नहीं वन पाता, इसीलिए वाहर भटकता रहता है। अन्दर जाने की रुचि नहीं इसीलिए उपयोग अन्दर जाता नहीं ॥३३॥

– आत्मधर्मः मार्च १९८०, पृष्ठ २५

(६७४)

प्रश्न :– ज्ञान का स्वभाव जानने का ही है, तो स्वयं अपने को क्यों नहीं जानता ?

उत्तर :– ज्ञान स्वयं को जानता है; उसका स्वभाव स्वयं को जानने का है; परन्तु अज्ञानी की दृष्टि तो पर के ऊपर है, अतः स्वयं को जानता नहीं, पर में अधिकता पड़ी है अर्थात् पर को अधिक मानने के कारण स्वयं अपने को नहीं जानता। अधिकपने का इसका वल पर में जाता है, अतः अपने को नहीं जान पाता ॥३४॥ – आत्मधर्म : मार्च १९७८, पृष्ठ २६

—०—